समाजशास्त्रीय चिन्तन के आधार

(Foundations of Sociological Thought)

समाजशास्त्रीय चिन्तन के आधार

(Foundations of Sociological Thought)

वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा

पंचशील प्रकाशन, जयपुर

आमुख

प्रस्तुत पुस्तक ''समाजशास्त्रीय चिन्तन के आधार'' विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रदान की गई रूपरेखानुसार विश्वविद्यालयी स्तर के समाजशास्त्र विषय के लिए लिखी गई है। इस कृति मे समाजशास्त्र के उद्भव और विकास का विवेचन पश्चिम और भारत के समाजशास्त्रीय चिन्तन के सदर्भ मे किया गया है। सर्वप्रथम समाजशास्त्र के उद्भव को ध्यान म रखते हुए सामाजिक दर्शनशास्त्र से समाजशास्त्र की दिशा मे सक्रमण पर प्रकाश डाला गया है। समाजशास्त्र के चिन्तको पर जिन पृष्ठभूमियो शक्तियो और क्रान्तियों का प्रभाव पडा है। उसका क्रम से वर्णन और व्याख्या अलग अलग अध्यायो मे की गई है। बौद्धिक सदर्भ—पुनर्जागरण, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक शक्तियाँ फ्रासीसी क्रान्ति एव औद्योगिक क्रान्ति के सदर्भ मे समाजशास्त्र के उद्भव की विवेचना की गई है।

इस कृति मे समाजशास्त्रीय चिन्तन को आधारशिलाओ का क्रमबद्ध एव व्यवस्थित वर्णन किया गया है। समाजशास्त्र के प्रमुख अग्रणियो (पायोनियर्स), ऑगस्ट कॉम्ट, हर्बर्ट स्पेन्सर, कार्ल मार्क्स, इमाइल दुर्खीम और मेक्स वेबर के प्रमुख योगदानो पर प्रकाश डाला गया है।

इस कृति मे मर्टन के प्रकार्यवाद, मार्क्स के सघर्ष सिद्धान्त, पारसन्स् की सामाजिक क्रिया का विवेचन सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान मे रखते हुए किया गया है। भारत के समाजशास्त्र के विकास में जी एस घुर्ये, डी पी मुकर्जी, आर के मुखर्जी के प्रमुख योगदानो का भी वर्णन इस कृति मे किया गया है।

विषय को सुग्राह्य एव अद्यतन बनाने के उद्देश्य से यथास्थान भारतीय एव पश्चिमी समाजशास्त्रियो के आलोचनात्मक मूल्यांकनो को भी प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन मे जिन विद्वान लेखको की कृतियो का सहयोग लिया है, उनके प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ।

मैं पचशील प्रकाशन के सचालक श्री मूलचन्द जी गुप्ता के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होने व्यक्तिगत रुचि लेकर अल्प समय में पुस्तक पाठको तक पहुँचाने मे अत्यन्त सफल प्रयास किया है। आशा है सुधी पाठको के लिये यह कृति उपादेय एव उपयोगी सिद्ध होगी।

—वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा

विषय-सूची

अध्याय-1

समाजशास्त्र का उद्भव

(Origin of Sociology)

मानव एक ऐसा सामाजिक प्राणी है जिसके पास संस्कृति है और जन्म के बाद वह सामाजिकता को सीखता है। दैनिक जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उसे अन्य व्यक्तियो का आश्रय लेना पड़ता है, इस रूप मे अन्य व्यक्तियो के साथ उसकी अन्त:क्रिया होती है। इस अन्त:क्रिया के परिणामस्वरूप उसके सामाजिक सम्बन्धो का निर्धारण होता है, उसकी सामाजिकता का नियत्रण, निर्देशन और सचालन होता है और यह कार्य समाज की व्यवस्था और उसके सगठनो द्वारा किया जाता है। इस रूप मे जहाँ-जहाँ मानव है, वहाँ-वहाँ उसका समाज भी अवश्य है। समाज की इस जटिल व्यवस्था का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए समाजशास्त्र का जन्म हुआ है। अत: समाजशास्त्र का उद्भव अति प्राचीनकाल से हो हो गया था किन्तु एक व्यवस्थित रूप मे इसका अध्ययन नवीन ही है। सन् 1838 में फ्रांस के दार्शनिक ऑगस्ट कॉम्टे ने इसे नवीन विज्ञान के रूप मे स्थापित किया। इसके पूर्व इसे स्वतत्र विज्ञान के रूप में अस्तित्व में नहीं लाया जा सका था।

अब आगे के पृष्ठो में समाजशास्त्र के उद्भव और विकास के पूर्ण इतिहास को देखने का प्रयास किया जाएगा कि किन-किन अवस्थाओ से होता हुआ यह एक विज्ञान के रूप म स्थापित हुआ है और किन-किन विचारको ने इसमें सहयोग प्रदान किया है।

समाजशास्त्र के उद्भव और विकास का अध्ययन दो दृष्टियो से किया जा सकता है—(1) पाश्चात्य देशों मे, और (2) भारत मे।

(1) *पाश्चात्य देशों में समाजशास्त्र के विकास की अवस्थाएँ* *(State of the Development of Sociology in Western Countries)*—पाश्चात्य देशो मे समाजशास्त्र के उद्भव और विकास को अग्र चार अवस्थाओ में देखा जा सकता है—

पाश्चात्य देशों में समाजशास्त्र के विकास की अवस्थाए

प्रथम अवस्था	द्वितीय अवस्था	तृतीय अवस्था	चतुर्थ अवस्था
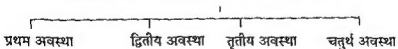
1 **विकास की प्रथम अवस्था** (First Stage of the Development)– पाश्चात्य विचारक समाजशास्त्र का उद्‌भव यूरोप से मानते हैं किन्तु वास्तविकता यह है कि भारत में इसका शुभारम्भ इससे बहुत पूर्व वेदों, उपनिषदो, पुराणो, महाकाव्यो मे हो चुका था, चूँकि समाजशास्त्र का अर्थ ऐसे व्यवस्थित ज्ञान से है जो सामाजिक सम्बन्धो के विषय मे है, इस दृष्टि से भारतीय वाङ्‌मय मे इन सभी का सूक्ष्म विवेचन हुआ है। पश्चिमी समाजों में समाजशास्त्र के उद्‌भव और विकास को यूनानी विचारको मे क्रमबद्ध रूप मे देखा जा सकता है, जिन्होंने बहुत पहले सामाजिक सम्बन्धो का सूक्ष्म अध्ययन किया था। प्लेटो ने अपनी कृति **"रिपब्लिक"** [437 347 ई पू] और **अरस्तू**" ने **"इथिक्स और पोलिटिक्स"** [384-322 ई पू] मे अनेक सामाजिक घटनाओ, प्रथाओं, पारिवारिक सम्बन्धों, स्त्रियों की स्थिति और सामाजिक संहिताओ पर प्रकाश डाला था। यूनानी सामाजिक विचारको में **'लुक्रेशियस'** [97 55 ई पू] **'सिसरा'** [106 43 ई पू] तथा **"मारकस आरेलियस"** [121-180 ई पू] आदि के विचार भी उल्लेखनीय हैं। इनके ग्रन्थो में आदर्श राज्य और विश्व- बन्धुत्व की भावना परिलक्षित होती है।

2. **विकास की द्वितीय अवस्था** (Second Stage of the Development)— 13वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से सामाजिक समस्याओं को तार्किक ढंग से समझने का प्रयास प्रारम्भ हुआ। इस शताब्दी के विचारको— *थामस इक्यूनस* (1227-1274) तथा *दान्ते* (1265-1332) ने समाज को परिवर्तनशील माना और उसके तथ्यों का अध्ययन करने के लिए कार्य-कारण सम्बन्ध को स्पष्ट किया। इन विचारको ने मनुष्य को सामाजिक प्राणी माना और सामाजिक प्राणी होने के कारण उसके लिए समाज का होना अनिवार्य बताया साथ ही समाज की सुव्यवस्था के लिए सरकार की स्थापना को अनिवार्य बताया। इसके साथ ही सामाजिक सहयोग, न्याय, श्रद्धा, विश्वास, एकता, ईश्वर आदि पर भी बल दिया। *इक्यूनस* ने चार प्रकार के कानूनों—*शाश्वत*, प्राकृतिक, दैविक और मानवीय का उल्लेख किया है। इस काल में वैज्ञानिकता का प्रभाव परिलक्षित होने लगा था।

3 **विकास की तृतीय अवस्था** (Third Stage of the Development)—इस अवस्था का प्रारम्भ 15वीं शताब्दी से माना गया है जब सामाजिक घटनाओं का स्वतंत्र रूप से अध्ययन करने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई थी और जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक आदि पक्षों का स्वतंत्र रूप से अध्ययन किया जाने लगा। इस युग के प्रमुख समाजशास्त्री—थामस हॉब्स, जान लॉक, रूसो, माण्टेस्क्यू, एडम स्मिथ, हीगेल आदि हैं। **हॉब्स, लॉक और रूसो** ने **"सामाजिक समझौते का सिद्धान्त"** प्रतिपादित किया। **माण्टेस्क्यू** ने समाज की भौगोलिक व्याख्या प्रस्तुत की। **थॉमस मूर** ने आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में साम्यवाद की वकालत की। **बेन्थम** ने समाज की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की। **एडम स्मिथ** ने श्रम-विभाजन, स्वतंत्रता और व्यक्तिगत स्वार्थ की व्याख्या की। **माल्थस** ने जनसंख्या के सिद्धान्तों की व्याख्या की, और जनसंख्या तथा खाद्य-सामग्री के अनुपात को स्पष्ट किया। **जेम्स हेरिंगटन** ने इतिहास की आर्थिक व्यवस्था का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। **बेकन** ने सामाजिक चिन्तन के क्षेत्र में सामाजिक कल्याण को सर्वाधिक महत्त्व दिया। इस प्रकार इस काल में विचारकों द्वारा बौद्धिक चिन्तन प्रारम्भ किया गया और समाजशास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र मे अपने क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किए।

4 **विकास की चतुर्थ अवस्था** (Fourth Stage of the Development)— समाजशास्त्र के उद्भव और विकास की इस अवस्था का शुभारम्भ **ऑगस्ट कॉम्ट** (1758-1857) से होता है। आपने ही सर्वप्रथम समाजशास्त्र को व्यवस्थित विज्ञान का रूप दिया, इसी कारण इन्हे 'समाजशास्त्र का पिता' कहा जाता है। कॉम्ट का परिचय प्रसिद्ध समाजवादी विचारक '**सेण्ट साइमन**' से हुआ जो भौतिक विज्ञानो के समान समाजशास्त्र को एक ऐसा विज्ञान बनाना चाहते थे जो सामाजिक घटनाओ का व्यवस्थित और क्रमबद्ध अध्ययन कर सके तथा समाज के सभी पहलुओ का अध्ययन करे। ऑगस्ट कॉम्ट ने उन्हे अपना गुरु माना और उनके विचारो को मूर्त रूप देने का प्रयास किया और '**समाजशास्त्र**' विषय की स्थापना की।

जॉन स्टुअर्ट मिल (1843) ने इग्लैण्ड को 'समाजशास्त्र' शब्द से अवगत कराया। **हरबर्ट स्पेन्सर** ने अपनी कृति 'सिन्थेटिक फिलोसॉफी' और *'प्रिंसिपल्स ऑफ सोशियोलॉजी'* मे कॉम्ट के विचारो को आगे बढाया और इस प्रकार 1876 मे सबसे पहले अमेरिका के '**येल**' विश्वविद्यालय मे समाजशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन प्रारम्भ हुआ। स्पेन्सर ने अपने 'सावयवी सिद्धान्त' मे समाज की तुलना मानव शरीर से की है।

समाजशास्त्र को एक स्वतत्र विषय के रूप मे स्थापित करने का श्रेय फ्रास के **इमाइल दुर्खीम** (1858-1917) को भी है—आपने समाजशास्त्र को सामूहिक प्रतिनिधानो का विज्ञान माना है। फ्रास के ही टार्डे, लीप्ले ने समाजशास्त्र की प्रगति मे अपना सहयोग दिया। जर्मनी मे 19वीं शताब्दी के अन्त और 20वीं सदी के प्रारम्भ के वर्षो मे अनेक विचारक जैसे—टानीज, वानविज, हीगल, मैक्सवेबर, सिमेल व वीरकान्त आदि प्रमुख हैं। अमेरिका के विचारको में गिडिंग्स, समनर, जिमरमैन, सोरोकिन, आगवर्न, मैकाइवर, निमकॉफ, पार्सन्स, रॉस, पार्क और यग आदि प्रमुख हैं। इटली के '**विलफेड परेटो**' (1848-1923) ने समाजशास्त्र को विकसित करने मे अपना पूर्ण सहयोग दिया है। इस प्रकार बीसवीं सदी मे सयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रास और जर्मनी मे समाजशास्त्र के विकास मे उपरोक्त सभी विचारको ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया जबकि इंग्लैण्ड मे इसके विकास की गति धीमी रही यद्यपि वहाँ के विचारकों में वेस्टर मार्क, हाब हाउस, मानहीन, गिन्सबर्ग, चार्ल्स बूथ और हर्बर्ट स्पेन्सर के नाम प्रमुख हैं। आज ससार के लगभग सभी विकासोन्मुख और विकासशील देशो मे समाजशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन करके देखा जा रहा है और इसकी लोकप्रियता बढ़ रही है।

(2) ***भारत में समाजशास्त्र का विकास*** (Development of Sociology in India)—भारत में समाजशास्त्र के विकास को निम्न तीन युगो मे विभाजित किया जा सकता है, जो क्रमश: निम्नानुसार है—

भारत में समाजशास्त्र के विकास की अवस्थाएँ

प्राचीन भारत मे विकास	स्वतंत्रता पूर्व विकास	स्वतत्र भारत में विकास
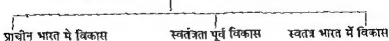
1 प्राचीन भारत में विकास (Development in Ancient India)—सम्पूर्ण विश्व मे सर्वप्रथम भारत में समाज का व्यवस्थित रूप देखने को मिलता है। प्राचीन भारत के ग्रन्थों—वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, गीता, रामायण व महाभारत का अध्ययन करने से स्पष्ट विदित होता है कि उस समय की सामाजिक व्यवस्था उच्च कोटि की थी। वर्णाश्रम व्यवस्था मे व्यक्ति और समाज के बीच एक समन्वय था। चार पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष व्यक्ति के जीवन के मुख्य लक्ष्य थे जिनकी सम्प्राप्ति प्रत्येक व्यक्ति का प्रमुख उद्देश्य होता था। सयुक्त परिवार, ग्राम पचायत जैसी व्यवस्थाएँ थे आश्रम, सस्कार, विवाह और धर्म के स्वरूप आदि मे समाज और व्यक्ति के सम्बन्धो पर स्पष्ट विचार परिलक्षित होते हैं जो सामाजिक ज्ञान के क्षेत्र मे आज भी अतुलनीय हैं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मनु की मनुस्मृति, शुक्राचार्य के नीतिशास्त्र व मुगलकालीन आईने अकबरी आदि की तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था, रीति-रिवाज, परम्पराएँ, प्रथाएँ, मानक आदि आज भी उदाहरणीय हैं, जिनके आधार पर जाति, वर्ण, राज्य, परिवार व धर्म आदि पर आज भी समाजशास्त्रीय दृष्टि से गहनता से मनन किया जा सकता है। सारांशत: यह कहा जा सकता है कि भारत मे समाजशास्त्र के विकास की परम्परा प्रारम्भ तो हो गई थी—यद्यपि इन सभी पर धर्म की दृष्टि से चिन्तन किया जाता था जिसका कारण सम्भवत: तत्कालीन समाज-व्यवस्था के निर्माण में समाज-विशेष की संस्कृति व उसकी विशेषताएँ मानी जा सकती हैं।

2 स्वतंत्रता पूर्व विकास (Development in Pre-Independence)—यद्यपि प्राचीनकाल में समाजशास्त्र का अनौपचारिक स्वरूप दिखाई पडता है किन्तु इसका व्यवस्थित स्वरूप भारत में बीसवीं सदी में ही दिखाई देता है। पाश्चात्य देशों में समाजशास्त्र तीव्रता से विकसित हो रहा था तब भारतीयो का ध्यान भी इसे एक विषय के रूप में स्थापित करने की ओर गया और यहाँ समाजशास्त्र का अध्यापन प्रारम्भ किया गया। इस प्रकार भारत में सन् 1914 से 1947 स्वतंत्रता पूर्व तक का काल समाजशास्त्र के औपचारिक प्रतिस्थापन का काल कहा जा सकता है।

1914 में बम्बई में सर्वप्रथम स्नातक स्तर पर समाजशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। **'पैट्रिक गिडिंग्स'** जो एक ब्रिटिश समाजशास्त्री थे—उनकी अध्यक्षता में बम्बई विश्व-विद्यालय में पृथक् विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। वे 1919 से लेकर 1924 तक समाजशास्त्र के अध्यक्ष रहे। जी. एस. घुर्ये पहले भारतीय समाजशास्त्री थे जिन्होंने 1924 में बम्बई विश्वविद्यालय से समाजशास्त्र की उपाधि प्राप्त की और वहीं समाजशास्त्र के प्राध्यापक हो गए। 1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में बिजेन्द्रनाथ शील के प्रयत्नों से समाजशास्त्र का अध्यापन प्रारम्भ हुआ। शील के विद्यार्थियों में—राधाकमल मुकर्जी, विनय कुमार सरकार, डी. एन. मजूमदार व निर्मल कुमार बोस जैसे विद्वानों ने समाजशास्त्र के विकास में पर्याप्त योगदान दिया है। 1921 में लखनऊ विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र को पृथक् विषय के रूप में स्थापित किया गया और प्रख्यात विद्वान् राधाकमल मुकर्जी को इस विषय का प्राध्यापक बनाया गया। 1920 व 1929 में मैसूर और आन्ध्र विश्वविद्यालयों में क्रमश: समाजशास्त्र को पृथक् विषय के रूप में स्वीकार किया गया।

1930 में पूना विश्वविद्यालय मे समाजशास्त्र विभाग का शुभारम्भ हुआ जिसमे इरावती कर्वे ने विभागाध्यक्ष का पदभार सँभाला। 1947 के पूर्व यद्यपि देश मे कई विश्वविद्यालयो ने समाजशास्त्र विषय को अपना लिया था फिर भी इसके विकास की गति धीमी रही। कहीं-कहीं इसे दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र और मानवशास्त्र के साथ जोडा गया। अत: स्वतंत्र रूप से एक विषय के रूप में समाजशास्त्र मान्यता प्राप्त करने में अक्षम रहा।

3 स्वतत्र भारत में विकास (Development in Independent India)—1947 म जब भारत स्वतत्र हुआ उस समय से समाजशास्त्र का भारत मे तेजी से विकास हुआ। 1951 मे पटना और बड़ौदा विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र विषय का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। 1954 म गुजरात विश्वविद्यालय मे, 1956 मे आगरा विश्वविद्यालय मे तथा 1959 में दिल्ली विश्वविद्यालय मे समाजशास्त्र का पृथक् विषय के रूप में अध्ययन अध्यापन प्रारम्भ हुआ। वर्तमान मे भारत के अनेक स्थानों—दिल्ली, जबलपुर, रायपुर, पजाब, राजस्थान, बड़ौदा गुजरात, पटना इन्दौर भोपाल, काशी विद्यापीठ, अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय, कुमाऊँ बुन्देलखण्ड रूहेलखण्ड कानपुर, मद्रास, आन्ध्र प्रदेश आदि में समाजशास्त्र विषय स्थापित हो चुका है।

विश्वविद्यालयो के अतिरिक्त राजकीय एव निजी महाविद्यालयों मे बी ए व एम ए के स्तर पर और अब तो उच्च माध्यमिक स्तर पर भी समाजशास्त्र का अध्यापन किया जा रहा है।

अनेक विश्वविद्यालयो में समाजशास्त्र मे शोधकार्य भी हो रहा है, इनमे—(1) टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशियल साइंसेज, बम्बई, (2) जे के इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशियल साइंसेज एण्ड सोशियल वर्क, लखनऊ, (3) इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशियल साइसेज आगरा, (4) आई. आई टी, देहली, (5) आई. आई टी, कानपुर, (6) जवाहरलाल नेहरू नीति शोध केन्द्र अवधेश प्रतापसिह विश्वविद्यालय, रीवा (मध्यप्रदेश) प्रमुख हैं।

इनके अतिरिक्त समाजशास्त्र मे अनेक समाजशास्त्रीय सम्मेलनो का आयोजन किया गया है। अखिल भारतीय समाजशास्त्र के सम्मेलन—देहरादून, आगरा पटना, [illegible], हैदराबाद, अहमदाबाद, वाराणसी, चण्डीगढ, जबलपुर, मेरठ एव दिल्ली मे सम्पन्न हुए हैं। इन सम्मेलनो मे डी. पी मुकर्जी, डी एन मजूमदार, राधाकमल मुकर्जी, कर्वे एम. एन श्रीनिवास आर एन सक्सेना जैसे समाजशास्त्रियो ने अध्यक्षता की है। इससे स्पष्ट होता है कि स्वतंत्र भारत मे समाजशास्त्र का प्रचार-प्रसार दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा है। यह एक सराहनीय प्रयास है।

❐

अध्याय-2

सामाजिक दर्शन से समाजशास्त्र की दिशा में संक्रमण, बौद्धिक संदर्भ : प्रबोधन

(Transition from Social Philosophy to Sociology. The Intellectual Context : Enlightenment)

विद्वानों की मान्यता है कि किसी भी विज्ञान का विकास किसी महत्वपूर्ण वैज्ञानिकों, उनकी सामाजिक पृष्ठभूमियों, उनमें समकालीन उपलब्ध साहित्य आदि परिणाम होता है। विज्ञान के विकास में जिन वैज्ञानिकों का योगदान होता है उसमें वैज्ञानिक के चारों ओर विद्यमान आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का प्रभाव होता है। सम्बन्धित विज्ञान के प्रतिपादक जो कुछ लिखते हैं, विज्ञान को मान्यता निश्चित करते हैं, वह सब उनके समकालीन दर्शन, भौगोलिक परिस्थिति या सामाजिक चिन्तन आदि के प्रभाव का परिणाम होती हैं। विद्वानों ने समाजशास्त्र के उदय को भी इसी पृष्ठभूमि में समझने और समझाने का प्रयास किया है। समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र के विकास की दशा और दिशा का भी अध्ययन निम्न शीर्षक—सामाजिक दर्शन से समाजशास्त्र की दिशा में संक्रमण के अन्तर्गत किया है। इस शीर्षक के अन्तर्गत समाजशास्त्र के उद्भव और विकास का बौद्धिक संदर्भ में विश्लेषण किया है। इतना ही नहीं सामाजिक वैज्ञानिकों और समकालीन समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र के उद्भव और विकास का अध्ययन प्रबोधन युग में भी किया है। इन्हीं सब पृष्ठभूमि के अन्तर्गत समाजशास्त्र के उद्भव और विकास का वर्णन क्रमशः प्रस्तुत है—

सामाजिक दर्शन और समाजशास्त्र (Social Philosophy and Sociology)—समाजशास्त्र की स्थापना अगस्ट कॉम्ट ने 1838 में की थी। इस काल से पहिले सामाजिक वैज्ञानिकों की विचारधारा का जो विकासीय क्रम विद्यमान था, उसका प्रभाव कॉम्ट पर पड़ा। कॉम्ट ने सामाजिक दर्शन में विद्यमान साहित्य प्रबोधन युग, वाणिज्यिक क्रान्ति, फ्रांसीसी क्रान्ति एवं औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव के परिणामस्वरूप समाजशास्त्र की स्थापना की थी। प्रबोधन युग से पूर्व सामाजिक दर्शन का मुख्य आधार धार्मिक था। इस काल में घटनाओं की व्याख्या धार्मिक दृष्टिकोण से की जाती थी। इस काल में जो भी निष्कर्ष निकाले जाते थे वे पूर्णतः सामान्य और पारलौकिक होते थे। प्रारम्भिक विचारकों द्वारा सत्य की खोज धार्मिक होती थी। इस

धर्मशास्त्रीय अवस्था मे किसी भी घटना को विचारको ने अलौकिक शक्तियो के प्रभाव से सम्बन्धित बताया। सभी घटनाएँ अलौकिक शक्तियो के तात्कालिक प्रभाव के कारण घटित होती हैं जैसे जनजातियो में ये विश्वास किया जाता है कि हैजा, चेचक आदि बीमारियाँ अलौकिक शक्ति के रुष्ट होने के कारण होती हैं। कर्मशास्त्रीय अवस्था मे सामाजिक दार्शनिको की मान्यता थी कि सामाजिक इकाई के रूप मे परिवार एक महत्त्वपूर्ण इकाई है। मानव प्रजाति के इतिहास मे मानव चिन्तन की इस धर्मशास्त्रीय अवस्था में धर्म का पूर्ण रूप से राजनीति पर प्रभुत्व था एव शासन फौजी शासको का होता था। इस काल मे धर्म संस्कार या राजा की कही गई बातो को अन्तिम सत्य माना जाता था। कॉम्ट के अनुसार सामाजिक दर्शन की प्रथम अवस्था धर्मशास्त्रीय है। इस प्रकार धर्मशास्त्रीय अवस्था मे दार्शनिको ने प्रत्येक घटना की व्याख्या अलौकिक या आधि दैविक आधार पर की जाती थी। उनका घटना की व्याख्या का परिप्रेक्ष्य धार्मिक या अलौकिक होता था और वे धार्मिक दृष्टिकोण से ही घटना को समझने का प्रयास करते थे। इस सामाजिक दार्शनिक, वैचारिक अवस्था मे परिवार को सामाजिक इकाई का आदि रूप माना जाता था। राजनैतिक सत्ता पुजारियो, धार्मिक कर्मकाण्ड सम्पन्न कराने वाले व्यक्तियो एवं सैनिको के हाथो मे हुआ करती थी। प्रबोधन युग से पूर्व सामाजिक दर्शन की प्रथम अवस्था धर्मशास्त्रीय थी और दूसरी अवस्था तत्त्वमीमासीय थी। तत्त्वमीमासीय अवस्था में घटनाओ के कारण और प्रभाव अमूर्त शक्तियो का परिणाम माने जाते थे। सामाजिक विचारक अमूर्त शक्तियो को सर्वोपरि मानते थे। राजनैतिक प्रभुत्व धर्माधिकारियो एव विशेषज्ञो के पास होता था। इस काल के बाद सामाजिक दर्शन का प्रवेश यूरोपीय समाज मे परिवर्तन के युग में हुआ जिसे प्रबोधन युग कहते हैं।

प्रबोधन युग (Enlightenment Period)—इस युग मे फ्रासीसी दार्शनिको की चेतना को निश्चित रूप से व्यक्त किया गया हैं। 18वीं शताब्दी मे अनेक परिवर्तन आए। इन परिवर्तनो में प्रमुख परिवर्तन यूरोपीय दर्शन मे आया एवं इस शताब्दी मे सामाजिक आन्दोलन हुए जिसे विद्वानो ने प्रबोधन काल का नाम दिया। इसे प्रायः विवेक युग भी कहा जाता है। प्रबोधन कालीन दार्शनिको ने धार्मिक और तत्वमीमासीय दृष्टिकोण एवं व्याख्या की आलोचना की। इस प्रबोधन युग मे सामन्तवादी यूरोप के परम्परागत चिन्तन में क्रान्तिकारी परिवर्तन देखा जा सकता है। प्रबोधनकालीन दार्शनिको ने अनेक प्रगतिशील विचारो पर प्रकाश डाला। इन्होने पूर्व परम्परागत चिन्तन जो धार्मिक आध्यात्मिक और तात्विक था–की आलोचना की। विज्ञान एव तर्क के महत्त्व को समझा एवं यथार्थ अध्ययन के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण की वकालत की। प्रबोधन युग मे विचारक जीवन के प्रत्येक पहलू पर तार्किक चिन्तन करने लगे। उन्होने व्यक्तिवादिता के महत्त्व को समझा। यथार्थ को समझने के लिए नूतन परिपेक्ष्य और चिन्तन की नवीन रीतियो का विकास किया। पूर्व मे विद्यमान धार्मिक और तत्वमीमासीय प्रवृत्ति का विरोध किया तथा धर्म, सरकार एव राजा द्वारा कही गई परम्परागत अन्तिम सत्य मानने की प्रवृत्ति का विरोध किया। सामान्य विज्ञानो मे वैज्ञानिक विचारधारा प्रत्यक्षवाद, अनुभववाद आदि का विकास हुआ। प्रबोधन काल मे परम्परागत सामाजिक दर्शन की आलोचना के फलस्वरूप नवीन वैज्ञानिक विचारधाराओ का उद्‌भव एव विकास हुआ।

इस काल में इस विचारधारा का विकास हुआ कि प्रकृति एव समाज का अध्ययन वैज्ञानिक अध्ययन विधि से करना सम्भव ह। पूर्व मे तर्कपूर्ण सिद्धान्त जैसे विचार यूरोप मे विज्ञान एव वाणिज्य के विकास मे ही विद्यमान थे—वैज्ञानिक क्रान्ति एवं वाणिज्यिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप एक नवीन परिप्रेक्ष्य का उदय हुआ जो आगे चलकर फ्रांसीसी और औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव से विकसित हुआ। विद्वानों की ये मान्यता है कि इस नवीन दृष्टिकोण ने समाज का एक विज्ञान के रूप मे प्रादुर्भाव सम्भव किया।

प्रबोधन युग से पूर्व यूरोप का परम्परावादी स्वरूप था। प्राचीन यूरोप मे धर्म का प्रभुत्व था। आर्थिक व्यवस्था का मूल आधार भूमि थी। प्राचीन यूरोप के समाज मे दो वर्ग थे—सामन्त वर्ग और किसान। सामन्त भूमि के मालिक होते थे और किसान उस पर काम करते थे।

समाज का आधारभूत सिद्धान्त धर्म था। क्या नैतिक है और क्या नतिक नहीं है—इसका निर्णय धर्मगुरु (पादरी) करते थे। सामाजिक व्यवस्था मे बन्धुत्व सम्बन्ध एव परिवार बहुत महत्त्वपूर्ण थे। प्राचीन यूरोप के समाजो मे ये मान्यता व्याप्त थी कि राजा को भगवान ने लोगों पर शासन करने क लिए भेजा है। महिलाओं की स्थिति बहुत खराब थी। राजतंत्र का प्रभुत्व था। धर्म सत्ता, सम्पत्ति, समुदाय आदि की व्याख्याएँ धर्म के आधार पर की जाती थीं।

प्रबोधन युग मे इन सबका विरोध किया गया। समाज के सभी परम्परावादी धारणाओं की नवीन व्याख्याएँ की जाने लगीं और उन्हें नवीन संदर्भ में देखा जाने लगा। पारिवारिक निष्ठाओं का स्थान आस्थाओं ने ले लिया। महिलाओं की दयनीय स्थिति मे कुछ सुधार आया, राजतंत्र समाप्त हो गया। लोकतन्त्र का प्रादुर्भाव हुआ। किसानों के लिए सुखद स्थितियाँ पैदा हुई, उनको नए-नए अवसर व नए-नए अधिकार प्राप्त हो रहे थे। इस प्रकार से प्रबोधन युग में परम्परागत, धार्मिक और तत्वमीमांसीय दर्शन का विरोध करके वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रादुर्भाव हुआ।

बौद्धिक संदर्भ की समीक्षा (Review of Intellectual Context)—समाजशास्त्र का उद्भव 18वीं और 19वीं शताब्दियों मे हुआ था। उसके उदय पर जिन बौद्धिक चिन्तनों का प्रभाव पड़ा है उसे सार रूप में निम्न दो वर्गों में बाँटकर देखा जा सकता है—

1. प्रबोधन युग का बौद्धिक प्रभाव, और
2. प्रबोधन युग के बाद का बौद्धिक प्रभाव

1. प्रबोधन युग का बौद्धिक प्रभाव (Intellectual Impact of Enlightenment Period)—प्रबोधन युग के विभिन्न विचारकों के चिन्तन के प्रभाव समाजशास्त्र के प्रादुर्भाव एवं विकास पर पड़े जिनको सार रूप में तीन शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है, ये हैं—(i) वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य, (ii) तार्किकता, और (iii) निपुणता।

1.1 वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य (Scientific Perspective)—प्रबोधन युग के विचारकों ने समाज के अध्ययन मे पूर्व में विद्यमान दृष्टिकोणों धार्मिक और तत्वमीमांसीय का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया और ये निष्कर्ष निकाला कि समाज का अध्ययन प्राकृतिक विज्ञानों की तरह वैकल्पिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार करना चाहिए। उन्होंने वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सामाजिक दशाओं से वैज्ञानिक अध्ययन का श्रीगणेश किया। इतना ही नहीं, इस युग के वैज्ञानिकों ने समाज, मानव और उसकी प्रकृति के अध्ययन में, वैज्ञानिक अध्ययन विधियों एवं सिद्धान्त का प्रयोग किया। प्रबोधन युग का समाजशास्त्र के उदय मे यह प्रमुख व महत्त्वपूर्ण योगदान कहा जा सकता है।

1.2 तार्किकता (Rationality)—प्रबोधन युग के सामाजिक वैज्ञानिकों की दूसरी बौद्धिक देन तार्किकता को अध्ययनो मे महत्त्वपूर्ण बताया है। इन विचारको ने यह सुझाव दिया कि मानव एक अनिवार्य रूप से तार्किक प्राणी है, अत: सामाजिक सस्थाओ तथा प्रकृति के अध्ययन के लिए तर्क को मानदण्ड के रूप मे प्रयुक्त करना चाहिए। मानव के इस तार्किकता के गुण के कारण उसे उसके विचारो और कार्यो के क्षेत्र मे स्वतत्रता प्राप्त हो सकती है।

1.3 निपुणता (Perfection)—प्रबोधन युग के सामाजिक विचारको की यह मान्यता थी कि मानव उत्कृष्टता प्राप्त करने मे समर्थ है। मानव तार्किकता के आधार पर एव वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के द्वारा सामाजिक परम्पराओ का मूल्याकन कर सकता है। उसमे सामाजिक परम्पराओं को परिवर्तित करने की क्षमता है। इस क्षमता के द्वारा मानव सामाजिक परिवर्तन करके अधिक स्वतत्रता प्राप्त कर सकता है। वह अपनी सृजनात्मक शक्तियों को अधिक व्यावहारिक एव उपयोगी बना सकता है।

समाजशास्त्र के उद्‌भव एव विकास पर प्रबोधन युग के सामाजिक विचारको और दार्शनिको ने उपर्युक्त बौद्धिक सामर्थ्य प्रदान करके उल्लेखनीय योगदान दिया है।

2. प्रबोधन युग के बाद का बौद्धिक प्रभाव (Intellectual Impact of Post Enlightenment Period)—प्रबोधन युग के बाद के सामाजिक विचारको एव चिन्तको ने कुछ और बौद्धिक अवधारणाओ से सम्बन्धित साहित्य प्रदान किए हैं। इस साहित्य का प्रभाव यूरोप मे समाजशास्त्र के प्रादुर्भाव पर पडा जिसे निम्न तीन शीर्षको के अन्तर्गत वर्णित किया जा सकता है—(i) अध्ययन का दर्शन, (ii) उद्‌विकासीय सिद्धान्त, एवं (iii) सर्वेक्षण।

2.1 अध्ययन का दर्शन (Philosophy of Study)—19वीं शताब्दी का काल जीव वैज्ञानिक प्रभुत्व का काल कहा जा सकता है। इस काल के अध्ययन का दर्शन मुख्यत: इस मान्यता पर आधारित रहा कि समाज सरल अवस्था से जटिल अवस्था मे परिवर्तन होता है, जो निश्चित चरणो मे होता है। समाजशास्त्रियो ने भी इन मौलिक अवधारणाओ को अपनाया और समाजशास्त्र में समाज संस्कृति और उसके विभिन्न अगो के उद्‌विकासीय प्रारूप विकसित किए। बॉटोमोर के अनुसार सामाजिक विचारको ने समाज के मात्र सास्कृतिक, आर्थिक एव राजनैतिक पक्षो का ही अध्ययन नहीं किया जैसा कि पूर्व के विचारक करते आए थे, बल्कि समाज को एक सम्पूर्ण इकाई मानकर अध्ययन करने पर जोर दिया। इस जैविकीय उद्‌विकासीय नवीन अवधारणा का प्रयोग अनेक समाजशास्त्रियों ने अपने-अपने अध्ययनो मे किया। उनमे उल्लेखनीय कुछ समाजशास्त्री—कॉम्ट, स्पेन्सर, दुर्खीम, मार्क्स, वेब्लन, टायलर, मार्गन, परेटो, स्पेगलर आदि गिनाए जा सकते हैं।

2.2 उद्‌विकासीय सिद्धान्त (Evolutionary Theory)—प्रबोधन पश्चात् काल के दार्शनिकों और विचारकों ने उद्‌विकास के सिद्धान्त प्रतिपादित किए। उन्होने विभिन्न क्षेत्रो मे उद्‌विकास का क्रम सरल से जटिल एव निश्चित चरणो में बताया। इस विचारधारा का प्रभाव समाजशास्त्र पर पड़ा जिसके परिणामस्वरूप समाजशास्त्र मे भी समाज, परिवार विवाह एव विभिन्न संस्थाओं का अध्ययन उद्‌विकासीय दृष्टिकोण से किया जाने लगा। समाजशास्त्रियो ने

जीवविज्ञान की तरह समाज को जीव के समरूप माना, समाज का विकास सरल से जटिल, न्यून निपुणता से पूर्ण निपुणता, न्यून श्रम विभाजन से अधिकतम श्रम विभाजन के रूप में वर्णित किया। इस प्रकार के दृष्टिकोण के प्रमुख समर्थक स्पेन्सर और दुर्खीम उदाहरणस्वरूप देखे जा सकते है।

2.3 सर्वेक्षण (Survey)—प्रबोधन युग के बाद सामाजिक विज्ञानों में अध्ययन की अनेक विधियों का प्रयोग होता था। इस काल में यह भी विश्वास पैदा हुआ कि प्राकृतिक विज्ञानों की विधियों का प्रयोग सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन के क्षेत्र में किया जा सकता है। इस धारणा के कारण समाजशास्त्र में समाज के अध्ययन के लिए सामाजिक सर्वेक्षण का प्रयोग किया जाने लगा। इस मान्यता के प्रभाव के फलस्वरूप मानवीय समस्याओं का अध्ययन, वर्गीकरण एवं मूल्यांकन करना सम्भव हुआ। समाजशास्त्र में प्राकृतिक विज्ञानों की विधि, सर्वेक्षण का प्रयोग इस कारण से भी किया जाने लगा कि सामाजिक वैज्ञानिक गरीबों की समस्या के प्रति चिन्तित थे। उन्होंने यह उचित समझा कि सामाजिक सर्वेक्षण द्वारा गरीबों के विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया जाए और उसमें सुधार करने के उपाय खोजे जाएँ। आगे चलकर सामाजिक समस्याओं के समाजशास्त्रीय शोध में सामाजिक सर्वेक्षण एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन विधि बन गई। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि प्रबोधन पश्चात् काल में समाजशास्त्र के उद्भव और विकास की पृष्ठभूमि बहुत प्रभावशाली रही।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र के उद्भव और विकास में सामाजिक दर्शन, प्रबोधन युग एवं पश्चात् के काल से सम्बन्धित बौद्धिक संदर्भ का विशेष प्रभाव पड़ा। समाजशास्त्र के उद्भव और विकास में 18वीं और 19वीं शताब्दियों में विकसित वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य अध्ययन की विधियों, तार्किकता एवं निपुणता सम्बन्धी बुद्धिजीवियों के चिन्तन ने समाजशास्त्र विषय के उद्भव और विकास को सम्भव बनाया। समाजशास्त्र के उद्भव और विकास को समझने के लिए सामाजिक दर्शन, प्रबोधन काल एवं बौद्धिक संदर्भ का ज्ञान अत्यावश्यक है।

❑

अध्याय-3

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक शक्तियाँ : फ्रांसीसी और औद्योगिक क्रान्तियाँ

(The Social, Economic and Political Forces : The French and Industrial Revolutions)

समाजशास्त्र के प्रतिपादक ऑगस्ट कॉम्ट का जन्म फ्रास मे 1798 मे हुआ था। फ्रासीसी क्रान्ति 1789 मे हुई थी। कॉम्ट की शिक्षा-दीक्षा का काल ऐसा था जब फ्रास मे क्रान्ति के विनाशकारी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रभाव पराकाष्ठा पर थे। कॉम्ट ने फ्रांसीसी क्रान्ति के परिणामो को देखा। कॉम्ट फ्रांसीसी के पश्चात् के विनाशकारी परिणामो के कारण बेचैन रहते थे। फ्रासीसी जनता की गरीबी से आप बेचैन रहते थे। आप निरन्तर प्रयासरत रहे कि समाज की *अव्यवस्था को कैसे समाप्त किया जाए और अव्यवस्था के स्थान पर व्यवस्था को कैसे पुनः स्थापित* किया जाए। कॉम्ट की इसी परेशानी और बेचैनी ने 1838 मे समाजशास्त्र की स्थापना की।

1760 के आस-पास ब्रिटेन मे औद्योगिक क्रान्ति प्रारम्भ हुई। इस क्रान्ति के प्रभाव के फलस्वरूप इंगलैण्ड एवं यूरोपीय देशो तथा बाद मे अन्य महाद्वीपो मे सामाजिक और आर्थिक जीवन मे आमूल-चूल परिवर्तन हुए। शहरो का विकास हुआ। परम्परावादी कृषक समाज मे परिवर्तन आए। औद्योगिक समाज और नगरीय समाजों में अनेक परिवर्तन प्रारम्भ हुए। इन परिवर्तनो का प्रभाव परम्परावादी और परिवर्तनवादी विचारो पर पड़ा, जिसका अध्ययन भी समाजशास्त्र की उत्पत्ति और विकास के संदर्भ में करना अपेक्षित है।

कॉम्ट की भाँति और भी अनेक सामाजिक विचारक फ्रांसीसी और औद्योगिक क्रान्ति के विनाशकारी परिणामो से प्रभावित हुए और समाजशास्त्र एवं अन्य चिन्तन के क्षेत्रो में अनेक प्रगतिशील विचार विकसित हुए। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि फ्रासीसी और औद्योगिक क्रान्तियो का क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन किया जाए। उन परिस्थितियो एवं सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक शक्तियो का अध्ययन किया जाए जो इन क्रान्तियो के समय पैदा हुई और उनका बौद्धिक जगत विशेष रूप से समाजशास्त्र की उत्पत्ति और विकास पर पडा। इन्हीं उद्देश्यो को ध्यान मे रखते हुए फ्रांसीसी और औद्योगिक क्रान्तियो का व्याख्यात्मक विवेचन प्रस्तुत है।

फ्रांसीसी क्रान्ति

(The French Revolution)

फ्रांस मे आमूल-चूल परिवर्तन करने वाली ऐतिहासिक क्रान्ति 1789 में हुई थी। यह क्रान्ति स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व की प्राप्ति के लिए हुई थी। इस क्रान्ति ने फ्रांस तथा अन्य देशों पर अनेक सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक प्रभाव डाले। जिस पृष्ठभूमि (सामंतवाद) के कारण यह क्रान्ति घटित हुई थी, उसके परिणामस्वरूप मे फ्रांस मे सामन्तवाद युग समाप्त हो गया था। इस क्रान्ति का फ्रांसीसी समाज व्यवस्था को नवीन स्वरूप प्रदान करने के साथ साथ यूरोप की अन्य देशों पर भी इसका उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा। फ्रांस की क्रान्ति के परिणाम से पूर्व इसमे घटनाक्रम का अध्ययन करना अनिवार्य है जो क्रमशः प्रस्तुत है।

फ्रांसीसी सामाजिक संरचना सामन्तवादी सम्पत्ति ऐस्टेटों में मे विभाजित थी। प्रत्येक समाज में स्तरीकरण की व्यवस्था होती है कोई भी समाज बिना श्रेणी विभाजन के संगठित और व्यवस्थित नहीं रह सकता। अन्य यूरोपीय समाजों की तरह फ्रांस में भी सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था क्रान्ति से पूर्व ऐस्टेट थी। इस स्तरीकरण की व्यवस्था मे एक वर्ग श्रेणी या एस्टेट दूसरे वर्गो से उच्च या निम्न होता है। फ्रांस मे इस उच्चता और निम्नता का निर्धारण वर्गो को प्राप्त अधिकार और प्रतिबंधो के आधार पर होता है। फ्रांस में प्रमुखतः स्तरीकरण में तीन श्रेणियाँ या ऐस्टेट थीं जो निम्नानुसार हैं—
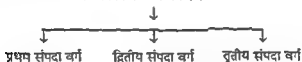
1. प्रथम संपदा वर्ग (The First Estate)—फ्रांस के सामाजिक संगठन में प्रथम सम्पत्ति समूह में धर्म नेता होते हैं। इन धर्म नेताओं को कार्डिनल, आर्क विशप, विशप, ऐबट आदि के नामों से सम्बोधित किया जाता है। फ्रांसीसी क्रान्ति से पूर्व ये पतित हो गए थे। इन लोगों ने धर्म के कार्यों के प्रति रुचि लेना छोड़ दिया था और विलासिता पूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। कुछ धार्मिक नेता राजनैतिक गतिविधियों में अधिक रुचि लेने लग गए थे। ये लोग पदच्युत हो गए थे और अपना समय जुआ, मद्यपान आदि गतिविधियों में बिताने लगे। उच्चस्तरीय धार्मिक नेताओं ने अपने कर्तव्यों का पालन करना छोड़ दिया और उनसे निम्न श्रेणी के पादरियो को अधिक धार्मिक कार्य करना पड़ता था। इन छोटे और निम्न स्तर के पादरियों में भी आर्थिक स्थिति भी खराब थी। ये लोग गरीबी से ग्रस्त थे।

2. द्वितीय संपदा वर्ग (The Second Estate)—फ्रांसीसी सामाजिक संगठन में दूसरी श्रेणी संपदा वर्ग होती थी। इस वर्ग में अभिजात या नोबल होते थे जो दो श्रेणियो में बँटे होते थे। ये अभिजात श्रेणी में सदस्य शस्त्रो या वस्त्रो से पहचाने जाते थे। प्रथम वर्ग के नोबलों भी पहचान

शास्त्रो से होती थी और द्वितीय श्रेणी के नोबलो की पहचान वस्त्रो से होती थी। ये प्रथम श्रेणी के नोबल फ्रांस में बड़े बड़े भूस्वामी होते थे। आदर्श रूप मे इनका कर्त्तव्य किसानो और जनता की रक्षा कार्य था लेकिन क्रान्ति से पूर्व इन लोगों ने अपने कर्त्तव्यो को भुला दिया था। ये बड़े बड़े भूस्वामी भूमिहीन किसानो से अपने सभी काम कराते थे और उनका शोषण करते थे। जहाँ ये पहले शास्त्रो से पहचाने जाते थे अब इनकी पहचान फिजूलखर्ची और शानशौकतपूर्ण जीवनयापन हो गया था।

दूसरी श्रेणी अभिजात या नोबल वस्त्रो से पहचाने जाते थे। इनकी प्रस्थिति प्रदत्त नहीं होती थी। ये जन्म के बाद अपने प्रयासो से नोबल का पद प्राप्त करते थे। ये न्यायाधीश होते थे। क्योंकि ये आम लोग होते थे और नोबल का पद इनको अपने प्रयत्नो से प्राप्त होता था इसलिए ये आम लोगों के प्रति दयावान व उदार होते थे।

3 तृतीय संपदा वर्ग (The Third Estate)—फ्रांस के समाज के इस तीसरे सपदा वर्ग मे उपर्युक्त दो सपदा वर्ग से बचे लोग होते थे। इस तीसरे सपदा वर्ग के सामान्यजन किसान, व्यापारी, कारीगर तथा अन्य लोग होते थे। तीसरे सपदा वर्ग के किसान लोगों की सबसे खराब स्थिति थी। ये मुश्किल से ही अपनी आवश्यक आवश्यकताओ की पूर्ति कर पाते थे। समाज के अन्य लोगों के लिए अनाज की खेती करते थे। दिन-रात परिश्रम करने के उपरान्त भी इनका जीवनयापन घोर सघर्षपूर्ण था। इन पर भारी कर लगा हुआ था। राजा प्रथम दो सपदा वर्गों धर्म नेताओ और को प्रसन्न रखने के लिए इस तीसरे वर्ग के मुख्यत: किसानो और कारीगरो का घोर शोषण करता था।

तीसरे सपदा वर्ग मे वर्ग विभाजन था। इस तीसरे सपदा वर्ग के मध्यमवर्गीय बुर्जुआ कहलाने वाले व्यापारी, वकील आदि की स्थिति काफी अच्छी थी। प्रथम सपदा वर्ग के धर्म नेता और द्वितीय संपदा के नोबल राजा भी चापलूसी और जी-हजूरी करते थे। फ्रास की अर्थव्यवस्था 1720 से लेकर क्रान्ति के वर्ष 1789 तक बहुत खराब थी। शासन घाटे मे था। उससे वस्तुओं के मूल्या मे तेजी आई। इस तेजी का भाग मध्यम वर्ग फ्रांसीसी व्यापारियों को खूब मिला। तीसरे सपदा वर्ग के व्यापारी एव वाणिज्यिक वर्ग धनाढ्य बन गया था। इस लाभ के उपरान्त इन व्यापारियो की सामाजिक स्थिति प्रथम दो सपदा वर्गों की तुलना में बहुत निम्न थी। इसका प्रमुख कारण बुर्जुआ वर्ग का प्रशासन मे प्रभावहीन होना था। बुर्जुआ वर्ग का व्यापार, उद्योग, बैंकिंग आदि पर पूर्ण नियत्रण था। इसके उपरान्त भी राजा उन पर ध्यान नहीं देता था। दूसरी ओर प्रथम दोनों सपदा वर्ग इनको निम्न और हीन समझते थे। इन परिस्थितियों में तीसरे सपदा श्रेणी में मध्यम श्रेणी के बुर्जुआ राजसत्ता प्राप्त करने के लिए सक्रिय हो गया। इनकी सक्रियता का परिणाम 1789 की फ्रासीसी क्रान्ति की परिणति है।

फ्रासीसी क्रान्ति के संबंधित कारक एवं शक्तियाँ (Relevant Factors and Forces of Franch Revolution)—फ्रांस मे क्रान्ति के कारक कोई एक दिन मे उत्पन्न नहीं हुए थे। फ्रासीसी क्रान्ति के मुख्यत: कारक उपर्युक्त वर्णित प्रथम दो सपदा वर्ग (धार्मिक नेता और नोबल वर्ग) एवं राजा द्वारा तृतीय सपदा वर्ग के किसानो का घोर शोषण था और इसके साथ साथ तृतीय सपदा वर्ग में मध्यम श्रेणी के बुर्जुआ वर्ग या (1720-1789) के काल मे वस्तुओं के मूल्यों में

तेजी आने के फलस्वरूप उनका धनी होना, सत्ता मे प्रभुत्व प्राप्त नहीं कर पाना एव राजा द्वारा बुर्जुआ वर्ग की ओर ध्यान नहीं देना था। इसके अतिरिक्त फ्रांसीसी क्रान्ति मे निम्नलिखित चार सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और बौद्धिक परिस्थितियो और शक्तियो ने क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार की जिनका वर्णन निम्नलिखित है—

1. सामाजिक कारक एवं शक्तियाँ (Social Factors and Forces)—फ्रांस की क्रान्ति के पूर्व काल (1720-1789) के मध्य निम्नलिखित सामाजिक सांस्कृतिक परिस्थितियाँ थीं। सामाजिक संरचना की कुल आबादी का 80 प्रतिशत भाग किसानो का था जिनका घोर शोषण हो रहा था। इन किसानों की सामाजिक परिस्थिति का वर्णन तृतीय संपदा वर्ग शीर्षक के अन्तर्गत उपर्युक्त पंक्तियों में किया जा चुका है। किसानो की 80 प्रतिशत जनसंख्या के पास सम्पत्ति का मात्र 30 प्रतिशत अंश था। इन किसानों पर अनेक प्रकार के कर लगे हुए थे, जैसे—सामन्तो और गिरिजाघरो को कर देना सरकार को भूमिकर, चुंगी कर और आयकर देना आदि। फ्रांस के सम्पूर्ण समाज के प्रथम दो संपदा वर्गो की विलासिता का भार इन किसानों का घोर शोषण कर रहा था। धार्मिक नेता और नोबल आलोच्यकाल की जनसंख्या का मात्र दो प्रतिशत भाग था। इन दोनो संपदा वर्ग का फ्रांस की 35 प्रतिशत संपदा पर आधिपत्य था। इन सामाजिक परिस्थितियों एव वस्तुओं के मूल्यों में 65 प्रतिशत वृद्धि के परिणामस्वरूप 1989 मे क्रान्ति होना माना जाता है।

2. राजनैतिक कारक एवं शक्तियाँ (Political Factors and Forces)—फ्रांस में राजतन्त्र परम्परागत था अर्थात् उस काल के राजतन्त्र की व्यवस्थाओं के अनुसार फ्रांस राज्य के राजा को भी दैविक अधिकार प्राप्त थे। ये मान्यता चली आ रही थी कि राजा का आदेश कानून है। राजा ईश्वर का रूप है, राजा के आदेश का कोई विरोध नहीं कर सकता था। राजा जिसे चाहे *उसे गिरफ्तार कर सकता था, बिना मुकदमे के कोई भी सजा दे सकता था। क्रान्ति से पूर्व के 200* वर्षों से फ्रांस पर बोर्बन राजवंश का राज्य था। सामान्यजनों को किसी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं थे। सरकार की आय राजा की आय होती थी। क्रान्ति से पूर्व फ्रांस में विविध क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न कानून व्यवस्था थी जिसके कारण फ्रांस में अराजकता, नियमहीनता तथा असंतुलन की स्थिति थी। इन राजनैतिक परिस्थितियों और शक्तियों ने ही फ्रांस में क्रान्ति को यथार्थ रूप देने में प्रभावशाली भूमिका अदा की थी।

3. आर्थिक कारक एवं शक्तियाँ (Economic Factors and Forces)—लुई-14 के शासनकाल में अनेक युद्ध हुए, जिसमें काफी जान-माल की हानि हुई। फ्रांस की आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो गई। लुई-15 ने आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए कोई प्रयास नहीं किया बल्कि महाजनों से कर्जा लेकर अपना खर्चा चलाता था। लुई-16 तो और भी कमजोर शासक था। उसे तो विरासत में दिवालिया सरकार मिली थी। उसकी पत्नी फिजूलखर्ची थी। इसके शासनकाल में एक बार भूखी जनता महल के बाहर खाना मांगने के लिए एकत्र हुई तो महारानी मारी आन्तोनेता ने जनता से कहा था, "अगर तुम्हारे पास रोटी (ब्रेड) नहीं है तो केक खा लो।" उसका यह उत्तर आज भी एक प्रसिद्ध वाक्य माना जाता है। इन सब आर्थिक परिस्थितियो ने भी क्रान्ति को बलवती बनाया था।

4. बौद्धिक परिस्थितियाँ एवं शक्तियाँ (Intellectual Conditions and Forces)—फ्रांस की क्रान्ति के लिए निम्नलिखित बौद्धिक परिस्थितियाँ और उनका प्रभाव भी उत्तरदायी है। फ्रांस के बुद्धिजीवियो एव जनता पर माटेस्क्यू, लॉक, वॉल्टेयर, रूसो आदि दार्शनिको के विचारो का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। क्रान्ति से पूर्व के काल मे फ्रांस मे भी तर्क और बुद्धिवाद का प्रसार देखा जा सकता है। इन उपर्युक्त वर्णित दार्शनिको का विश्वास था कि सत्य को तर्क के द्वारा सत्य और प्रमाणित सिद्ध किया जा सकता है। इन दार्शनिको का निम्न विचारो ने फ्रांसीसियो मे क्रान्ति की आग पैदा की थी।

माटेस्क्यू का यह विचार कि प्रशासनिक, विधायी और न्यायिक सत्ता का एक स्थान होना गलत है। आपके विचार कि व्यक्ति को स्वतन्त्र होना चाहिए तथा अधिकारो का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए—ने फ्रांसीसियो मे जागरूकता पैदा की थी। लॉक का कहना था कि व्यक्ति को जीवन, सम्पत्ति और स्वतन्त्रता के अधिकार दिए जाने चाहिए। जो शासक इन अधिकारो से जनता को वचित करे उसे हटा देना चाहिए तथा उसके स्थान पर ऐसे शासक को सत्ता दे देनी चाहिए जो इन अधिकारो को जनता को दे तथा इनकी रक्षा करने मे सक्षम हो। वॉल्टेयार ने धार्मिक सहिष्णुता और बोलने की स्वतन्त्रता का विचार दिया। रूसो ने लिखा कि जनता को अपना शासक चुनने का अधिकार होना चाहिए। इन विचारो का प्रभाव फ्रांसीसी जनता पर पड़ा और वे क्रान्ति करने के लिए प्रयासरत हो गए। समानता और स्वतन्त्रता के विचारो के प्रभाव के कारण फ्रांस मे क्रान्ति होना विचारक और इतिहासकार बताते हैं।

फ्रांसीसी क्रान्ति का घटनाक्रम (Course of Events of French Revolution)—फ्रांसीसी क्रान्ति मे निम्नलिखित घटनाओ का विशेष प्रभाव पडा था। ये घटनाएँ है—(1) फ्रांस की 'एस्टेट जनरल' (ससदीय सस्था) का 1614 के बाद बैठको का नहीं होना। (2) लुई-16 द्वारा फ्रांस की सरकार का दिवालिएपन को दूर करने के लिए 1778 मे सभी पर कर लगाना। (3) कर का विरोध करने के लिए धनी और नोबल ने 'एस्टेट जनरल' की बैठक की माग की। इसमें तीसरी एस्टेट के प्रतिनिधियो ने सभी संपदा वर्गों के सदस्यो द्वारा मतदान की माग करना था जिसका विरोध प्रथम दो सपदा वर्गों ने किया। (4) तीसरी सपदा वर्ग के साथ प्रथम दो सपदा वर्गों का साथ बैठने से इन्कार करने के कारण राष्ट्रीय एसेम्बली का गठन किया गया। राष्ट्रीय एसेम्बली के सदस्यों के 20 जून, 1789 को टेनिस कोर्ट में बैठक की तथा फ्रांस के लिए नए सविधान के निर्माण करने की शपथ ली। इस बैठक को 'टेनिस कोर्ट की शपथ' कहा जाता है तथा यहाँ से फ्रांसीसी क्रान्ति का प्रारम्भ भी माना जाता है। (5) 14 जुलाई, 1789 को फ्रांस मे एक पुरानी जेल 'बोस्टाइल' से पेरिसवासियों की भीड ने मध्यम वर्ग के नेताओ के नेतृत्व मे कैदियो को रिहा कर दिया। पेरिस की जनता ने राजा के विरुद्ध बगावत कर दी। इसे फ्रांसीसी क्रान्ति की महत्त्वपूर्ण घटना माना जाता है। इस दिन को फ्रांस मे स्वतन्त्रता दिवस के रूप में मनाया जाता है। (6) सविधान सभा (1789-1791) ने मानव के अधिकारो—अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, धर्म की स्वतन्त्रता, मनमाने दंड से मुक्ति आदि की घोषणा कर दी। राजा के दैविक अधिकारों की मान्यता समाप्त कर दी। घोषणा में सभी व्यक्तियों को जन्म से समान बताया और ये भी घोषणा की कि कानून

के समक्ष सभी समान हैं। स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व भाव के विचारों की भी घोषणा की। (7) फ्रांस में राजा को 1771 में बंदी बना लिया गया। (8) "791- 1792 में लेजिस्लेटिव एसेम्बली का गठन किया गया। (9) 21 जनवरी, 1793 को राजा लुई-16 को देशद्रोह का अपराधी घोषित करके उसका सिर काटकर हत्या कर दी गई। उसी वर्ष रानी की भी हत्या कर दी गई और फ्रांस को गणराज्य घोषित कर दिया गया। (10) फ्रांस में अनेक मुनीवलो, पादरियों और कुछ क्रान्तिकारियों को तीन वर्ष की अवधि में मृत्युदंड दिया गया। इस काल को फ्रांस में 'आतंक का दौर' कहते हैं। (11) 1798 में फ्रांस में डाइरेक्टरों की स्थापना की गई जिसका तख्ता नेपोलियन बोनापार्ट ने पलट दिया और स्वयं डाइरेक्टर बन गए। नेपोलियन ने फ्रांस में स्थिर सरकार की स्थापना की और इस प्रकार फ्रांसीसी क्रान्ति की समाप्ति हो गई।

फ्रांसीसी क्रान्ति का प्रभाव *(Impact of French Revolution)*—फ्रांसीसी क्रान्ति का सबसे प्रमुख प्रभाव सामंतवाद को समाप्ति करना और लोकतन्त्र का उद्भव और विकास करना है। इस क्रान्ति का दूसरा प्रभाव क्रान्ति के परिणामस्वरूप अनेक मुद्दे उभरे, जैसे—सम्पत्ति का रूपान्तरण, सामाजिक अव्यवस्था आदि पर समाजशास्त्रियों को विचार करने के लिए आमन्त्रित किया गया। कॉम्ट पर फ्रांस की क्रान्ति के घटनाक्रम एवं परिणामों का ऐसा प्रभाव पड़ा कि आपने सामाजिक व्यवस्था को सुधारने के लिए एक विज्ञान-समाजशास्त्र की स्थापना कर डाली।

औद्योगिक क्रान्ति—1760-1830
(Industrial Revolution—1760-1830)

औद्योगिक क्रान्ति का महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली काल यूरोप तथा अन्य देशों एवं महाद्वीपों में 1770 के दशक से 1830 के दशक तक के काल के रूप में निश्चित किया जा सकता है। इसका सूत्रपात ब्रिटेन में 1767 में स्पिनिंग जेनी (Spinning Jenny) कपड़ा बुनने की मशीन के आविष्कार से हुआ था। औद्योगिक क्रान्ति ने विश्व के अनेक देशों में उत्पादन के साधन, उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों में आमूल-चूल परिवर्तन पैदा किए। इससे विश्व के विभिन्न समाजों में आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन हुए। नए वर्ग उभरे। पूँजीवादी व्यवस्था विकसित हुई। किसान कारखानों के श्रमिक बन गए। नगरों की जनसंख्या में वृद्धि हुई। प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों के चिन्तन के नए क्षेत्र उभरे। औद्योगिक क्रान्ति के अनेक प्रभाव पड़े जिनकी विवेचना करना अत्यावश्यक है। यहाँ पर औद्योगिक क्रान्ति के सूत्रपात, विकास एवं प्रभावों की विवेचना समाजशास्त्र के चिन्तन के विकास के सन्दर्भ में प्रस्तुत है।

यांत्रिक आविष्कार एवं औद्योगिक क्रान्ति (Mechanical Inventions and Industrial Revolution)—औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात अँग्रेज बुनकर जेम्स हारग्रीव्स (James Hargreaves) के द्वारा कपड़ा बुनने के यंत्र स्पिनिंग जेनी के 1767 में आविष्कार से हुआ था। जहाँ पहिले हाथ से कपड़ा बुना जाता था उसके स्थान पर इस आयताकार मशीन के कई तकुओं (Spindles) की सहायता से एक ही कताई चक्र से चलाकर बुना जाने लगा। इस नवीन स्पिनिंग जेनी से कम समय में अधिक कपड़ा बुना जाने लगा। इस आविष्कार के दो वर्ष बाद एक अँग्रेज नाई आर्कराइट (Arkwright) ने 1769 में वाटर फ्रेम (Water Frame) मशीन

का आविष्कार किया। यह मशीन बहुत बड़ी थी, इसे घर मे नहीं लगाया जा सकता था। इसके लगाने के लिए विशेष भवन और स्थान की आवश्यकता पड़ी। इसे घर से बाहर लगाया गया, जिसके परिणामस्वरूप इस आविष्कार ने उत्पादन की प्रणाली को घर से बाहर निकाल दिया और उत्पादन के क्षेत्र मे फैक्ट्री प्रणाली का उद्भव हुआ। इस आविष्कार के दस वर्ष बाद 1779 में सैमुअल क्रॉम्प्टन (Sumuel Crompton) ने इंग्लैण्ड मे 'म्यूल' मशीन का निर्माण किया।

औद्योगिक क्रान्ति के इस 1767 से 1830 के काल में अनेक उत्पादन के उपकरणो और तकनीकों का प्रादुर्भाव और विकास हुआ। उत्पादन के क्षेत्र मे फैक्ट्री प्रणाली का विकास और विस्तार हुआ। वस्तुओं के उत्पादन, वितरण और विनिमय के प्रबन्धन मे अनेक नवीन प्रणालियो का सूत्रपात हुआ। हाथ से बनी वस्तुओं का स्थान यन्त्रो से बनी वस्तुओ ने ले लिया और मानव ने एक नए 'प्रौद्योगिक युग' मे पदार्पण किया। इस प्रकार से उत्पादन और औद्योगिक क्षेत्र में अनेक यान्त्रिक आविष्कार हुए जिनका यूरोप तथा अन्य महाद्वीपो के समाजो मे अनेक प्रभाव पड़े।

औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव

(Impact of Industrial Revolution)

औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव अनेक क्षेत्रों पर पड़े। इन्हे सामाजिक संरचना (स्तरीकरण के प्रकार) जिसको सामाजिक, आर्थिक, नगरीय, वैचारिक आदि क्षेत्रो मे वर्गीकृत करके देखा जा सकता है।

1. आर्थिक प्रभाव (Economic Impact)—औद्योगिक क्रान्ति के सबसे अधिक और प्रत्यक्ष प्रभाव समाज की आर्थिक व्यवस्था के उत्पादन के साधन और इकाई, उत्पादन के स्थान, उत्पादन की मात्रा आदि पर पड़े। पहले वस्तुओं का उत्पादन मानव श्रम (हाथ) से होता था। उसका स्थान नवीन आविष्कारों ने ले लिया। पहले उत्पादन घरेलू स्तर पर होता था जो क्रान्ति के कारण फैक्ट्रियों मे स्थानान्तरित हो गया। पहले उत्पादन की मात्रा कम होती थी। नवीन उपकरणो की सहायता से वस्तुओं का उत्पादन व्यापक या वृहद स्तर पर होने लगा। उत्पादन की घरेलू परम्परा समाप्त हो गई। हाथ से बनी वस्तुओ का परम्परागत युग समाप्त हो गया। क्रान्ति के प्रभाव के परिणामस्वरूप उत्पादन की सार्मतवादी व्यवस्था समाप्त हो गई ओर उनका स्थान पूँजीवादी व्यवस्था ने ले लिया। आर्थिक क्षेत्र मे बैंक, वित्त निगम और बीमा कम्पनियों का प्रादुर्भाव एव गठन किया गया। पूँजीपति और श्रमिक वर्ग अस्तित्व में आए। भूमि का महत्त्व कम हो गया तथा पूँजी का महत्त्व बढ़ गया। कारखाना प्रणाली का विकास और विस्तार हुआ। रोटी-रोजी के लिए ग्रामीणो का नगरो की ओर प्रवास मे वृद्धि हुई। कुल मिलाकर औद्योगिक क्रान्ति ने आर्थिक व्यवस्था के क्षेत्र मे अनेक परिवर्तन किए।

***2. सामाजिक प्रभाव** (Social Impact)*—*औद्योगिक क्रान्ति के समाज पर अनेक प्रभाव पड़े हैं। उनमे से कुछ प्रमुख प्रभावो का वर्णन प्रस्तुत है। औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव के कारण घरेलू स्तर पर होने वाला उत्पादन फैक्ट्रियो में स्थानान्तरित हो गया।* इससे व्यक्ति का पारिवारिक जीवन और व्यावसायिक जीवन अलग-अलग हो गए। पहले उत्पादित वस्तु के प्रति व्यक्ति का लगाव होता था लेकिन इस क्रान्ति ने व्यक्ति में अलगाव की भावना पैदा कर दी है।

उत्पादन की प्रक्रिया में उसका भावनात्मक लगाव समाप्त हो गया है। मार्क्स के अनुसार कामगार स्वयं के द्वारा उत्पादित वस्तु से अलग-थलग पड़ गया है। पहले समाज का स्तरीकरण भूमि से सम्बन्धित था। इस क्रान्ति ने भूमि का महत्त्व समाप्त कर दिया है। उसके स्थान पर अब पूँजी महत्त्वपूर्ण हो गई है। इस नई उत्पादन की व्यवस्था ने पहले जो सामन्त वर्ग और कृषक वर्ग थे उसके स्थान पर पूँजीपति वर्ग और श्रमिक वर्गों का विकास कर दिया है। पहले शोषक भूमिपति होते थे अब शोषक पूँजीपति बन गए हैं। इसी प्रकार से पहले शोषित वर्ग भूमिहीन किसान अब श्रमिकों का शोषित वर्ग विकसित हो गया है। अगर 19वीं शताब्दी के प्रथम 50 वर्षों का इतिहास देखें तो उससे स्पष्ट हो जाता है कि औद्योगिक क्रान्ति ने समाजों के श्रमिक वर्गों के संघर्ष में लगातार वृद्धि की है।

3. नगरीयकरण पर प्रभाव (Impact on Urbanization)—औद्योगिक क्रान्ति के उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि की है। नगरों एवं औद्योगिक नगरों में अनेक कल-कारखाने खुल गए हैं। इसके कारण ग्रामीण और किसान व्यवसाय के लिए नगरों और औद्योगिक केन्द्रों में जाकर बस गए हैं। नगरों की जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हो रही है। इस क्रान्ति ने ग्रामीणों को खुले प्राकृतिक पर्यावरण को छोड़कर नगरों, महानगरों और औद्योगिक केन्द्रों में जाकर रहने को विवश कर दिया है। आज वे इन केन्द्रों में दूषित वातावरण में जीवन व्यतीत करने को विवश हैं। इन केन्द्रों में सामाजिक और आर्थिक विषमता भी बहुत अधिक देखी जा सकती है। प्रवासी ग्रामीणों और किसानों को विभिन्न प्रकार के प्रदूषणों (वायु, जल, ध्वनि) में जीवनयापन करना पड़ रहा है।

4. समाजशास्त्रियों के चिन्तन पर प्रभाव (Impact on the Thought of Sociologists)—औद्योगिक क्रान्ति का मुख्यतः दो प्रकार के विचारकों : परम्परावादियों (Conservatives) और उग्रउन्मूलनवादियों (Radical) पर पड़ा है। परम्परावादियों ने इस क्रान्ति के प्रभावों के सम्बन्ध में अनुमान लगाया कि इस क्रान्ति के कारण समाजों में अव्यवस्था फैल सकती है। ये दोनों ही विचारकों के सम्प्रदाय इस तथ्य पर एक मत थे कि इस क्रान्ति का समाजों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़े हैं। इस क्रान्ति के परिणामस्वरूप श्रमिक वर्ग की समस्याओं में वृद्धि होगी और ये पूँजीपति वर्ग से संघर्ष करेंगे। इनके बीच संघर्षों में लगातार वृद्धि होगी। क्योंकि श्रमिक वर्ग की निर्धनता स्वाभाविक नहीं है। इस निर्धनता का कारण पूँजीपतियों द्वारा योजनाबद्ध तरीके से शोषण करना है।

औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव के कारण समाज में अनेक नवीन परिस्थितियाँ एवं समस्याएँ उभरकर सामने आई हैं जिनके अध्ययन की ओर प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों का ध्यान गया। प्रमुख समस्याएँ इस प्रकार हैं—प्रौद्योगिकी और कारखाना प्रणाली, श्रमिकों की स्थिति, गरीबी का परिवर्तित रूप (किसान से श्रमिक) का अध्ययन और नगरीयकरण की समस्या। इन प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों ने प्रौद्योगिकी और फैक्ट्री तथा कारखानों की व्यवस्था का अध्ययन किया और निष्कर्ष निकाला कि ये दोनों प्रणालियाँ मानव के भावी जीवन को बहुत अधिक परिवर्तित करेंगी। परम्परावादियों और उग्रउन्मूलनवादी विचारकों ने स्पष्ट किया कि औद्योगिक क्रान्ति के कारण आर्थिक प्रणाली में पूँजी का महत्त्व बढ़ गया है और भूमि का महत्त्व प्रायः समाप्त हो गया है।

नए शासक के रूप में पूँजीपतियों के हाथ में सत्ता का नियंत्रण आ गया है। सामन्तवादियों और बड़े भू-स्वामियों का सत्ता पर से नियन्त्रण कम हो गया है। इन विचारकों का ये भी कहना है कि गरीबी और आर्थिकी और सामाजिक स्तरीकरण तक गरीबी और राजनैतिक सत्ता परस्पर सीधे सम्बन्धित हैं। समाजशास्त्रियों ने इन पर विचार किया और भविष्यवाणी की कि समाज के सभी मौलिक विशेषताओं में परिवर्तन आएगा।

औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव व्यक्ति, समाज, देशों एवं प्रायद्वीपों आदि पर बहुत अधिक पड़ा है। इस क्रान्ति के प्रभाव के परिणामस्वरूप सभी व्यवस्थाओं—सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक में क्रान्तिकारी परिवर्तन आए हैं। इन परिवर्तनों एवं नई सामाजिक व्यवस्थाओं की ओर प्रारम्भिक विचारकों का ध्यान गया जिसके परिणामस्वरूप समाजशास्त्र का उदभव और विकास हुआ। नवीन परिस्थितियों से प्रभावित होकर प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र विषय के विकास में ही योगदान नहीं दिया बल्कि अनेक बौद्धिक अवधारणाओं का विकास भी किया जिसमें समाजशास्त्र का एक सामाजिक विज्ञान के रूप में उल्लेखनीय योगदान हुआ है।

❑

अध्याय-4

समाजशास्त्र के अग्रणी (पायोनियर्स)

(The Pioneers of Sociology)

समाजशास्त्र के उद्भव और विकास में पाँच समाजशास्त्रियों का महत्त्वपूर्ण योगदान है जिन्हें समाजशास्त्र के जगत में अग्रणी या पायोनियर्स से सबोधित किया जाता है, ये हैं— ऑगस्त कॉम्ट, हर्बर्ट स्पेन्सर, कार्ल मार्क्स, इमाइल दुर्खीम और मैक्स वेबर। इनके योगदान का वर्णन प्रस्तुत है।

समाजशास्त्र के अग्रणी (पायोनियर्स)

ऑगस्ट कॉम्ट	हर्बर्ट स्पेन्सर	कार्ल मार्क्स	इमाइल दुर्खीम	मैक्स वेबर

(1) ऑगस्त कॉम्ट (1798-1857) का योगदान

[Conterbution of August Comte (*1798-1857*)]

ऑगस्त कॉम्ट का समाजशास्त्र के उद्भव और विकास में प्रमुख योगदान है जिसे निम्न चार प्रमुख शीर्षकों के अन्तर्गत देखा जा सकता है—

(1) समाजशास्त्र के जनक के रूप में योगदान

(2) विज्ञानों के विकास का श्रेणीक्रम के निर्धारण के रूप में योगदान

(3) समाजशास्त्र की विषय-सामग्री के निर्धारण के रूप में योगदान, और

(4) समाजशास्त्र की अध्ययन पद्धति से सम्बन्धित नियमों और अवधारणाओं के निर्माता के रूप में योगदान।

1. समाजशास्त्र के जनक के रूप में योगदान (Contribution as a Founder of Sociology)—फ्रांस में जन्मे ऑगस्त कॉम्ट ने समाजशास्त्र विषय की स्थापना 1838 में की थी। आपको समाजशास्त्र का जनक या पिता कहा जाता है। आपका उद्देश्य ऐसे सामाजिक विज्ञान का उद्भव और विकास करना था जो मानव समाज का अध्ययन उसी प्रकार से करे जिस प्रकार से कि प्राकृतिक विज्ञान भौतिक जगत का करते हैं। समाजशास्त्र भी प्राकृतिक विज्ञानों की तरह से समाज के मौलिक सिद्धान्तों का निर्माण करे। आनुभविक पद्धतियों की सहायता से समाज के

विकास एव सरचना सम्बन्धी नियमो का निर्माण करे। कॉम्ट ने अपना अधिक समय समाजशास्त्र को एक विषय के रूप मे स्थापित करने मे लगाया। यहीं (1838) से समाजशास्त्र की उत्पत्ति और विकास के इतिहास का शुभारम्भ होता है।

2. विज्ञानों के विकास का श्रेणीक्रम के निर्धारण के रूप में योगदान (Contribution as a Determinator of Stages of Development of Sciences)— आँगस्त कॉम्ट ने विभिन्न विज्ञानो की उत्पत्ति और विकास का क्रम उनकी जटिलता, घटनाओ के प्रकारो और मानवता से निकटता के आधार पर निम्न बताया है। आपकी मान्यता है कि सर्वप्रथम गणितशास्त्र का विकास हुआ। गणितशास्त्र अन्य सभी विज्ञानो का आधार शास्त्र है। गणितशास्त्र के बाद लेकिन इस पर आधारित नक्षत्र विज्ञान का विकास हुआ। इसी प्रकार से नक्षत्र विज्ञान पर आधारित भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र और प्राणीशास्त्र का विकास हुआ। इन सब विज्ञानो पर आधारित एव जटिल शास्त्र समाजशास्त्र का विकास हुआ है।

3. समाजशास्त्र की विषय-सामग्री के निर्धारण के रूप में योगदान (Contribution as a Determinator of the Subject Matter of Sociology)—कॉम्ट ने समाजशास्त्र की विषय सामग्री को दो प्रमुख प्रकारो में बाँटा है—सामाजिक स्थैतिकी, और (2) सामाजिक गतिकी। आपके अनुसार समाजशास्त्र प्रथम सामाजिक स्थैतिकी या स्थिरता के अन्तर्गत समाज की संरचना का अध्ययन करता है। समाज की बृहद् इकाइयो की जटिलताओ का क्रमबद्ध अध्ययन और विश्लेषण करता है, जैसे—आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक सरचनाओ का अध्ययन। इसमे समाज की विभिन्न इकाइयो की पारस्परिक क्रियाओ और प्रतिक्रियाओ की खोज का अध्ययन किया जाता है तथा सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकताओ की खोज की जाती है। कॉम्ट ने समाजशास्त्र की विषय सामग्री का दूसरा प्रकार 'सामाजिक गतिकी' बताया है जिसके अन्तर्गत समाज के विकास और परिवर्तन की प्रक्रिया एव परिवर्तन के निर्धारक कारको की खोज की जाती है, के अध्ययन पर जोर दिया जाता है। कॉम्ट की मान्यता थी कि प्रत्येक समाज का विकास विभिन्न स्तरो मे होता है।

4. समाजशास्त्र की अध्ययन पद्धति से सम्बन्धित नियमों और अवधारणाओं के निर्माता के रूप में योगदान (Contribution as a Founder of the Rules Related to the Methods of Study and Concepts of Sociology)—

ज्ञान के विकास का नियम (Laws of the Development of Knowledge)—कॉम्ट ने ज्ञान के विकास पर आधारित *'मानव प्रगति का नियम'* निर्मित किया है, जिसे 'ज्ञान के विकास का नियम' भी कहते हैं। आपने स्पष्ट किया है कि हमारे प्रत्येक विचार और सम्पूर्ण मानवीय बौद्धिक विकास के तीन स्तर होते हैं, जो निम्न हैं—(1) धार्मिक, (2) तत्वमीमासीय, और (3) प्रत्यक्षवादी।

कॉम्ट ने ज्ञान को उद्‌विकास के आधार पर समझाते हुए लिखा कि ज्ञान की प्रथम अवस्था धार्मिक थी। प्रारम्भ मे प्रत्येक घटना की व्याख्या अलौकिक या धार्मिक आधार पर की जाती थी। कभी यह माना जाता था कि वर्षा का होना इन्द्र की इच्छा पर निर्भर था। इस धार्मिक स्तर वालो

के हाथ में राजनैतिक सत्ता होती थी। ज्ञान के विकास की द्वितीय अवस्था तत्वमीमांसीय है। इस स्तर पर घटना की व्याख्या और बोध के स्रोत अमूर्त शक्तियों को माना जाता था। मध्य युग और पुनर्जागरण काल ज्ञान का तत्वमीमांसीय काल था। इस काल में राजनैतिक प्रभुत्व चर्च के अधिकारियों एवं विधि विशेषज्ञों के पास था। कॉम्ट के अनुसार ज्ञान के विकास की तीसरी अवस्था वैज्ञानिक या प्रत्यक्षवादी है। इस अवस्था में वही ज्ञान स्वीकार किया जाता है जिसकी पुष्टि वैज्ञानिक या प्रत्यक्षवादी आधार पर की जाती है। इस ज्ञान के स्तर पर ब्रह्माण्ड के नियमों का अध्ययन, अवलोकन, परीक्षण, प्रयोग एवं तुलना के आधार पर किया जाता है। आपके अनुसार समाजशास्त्र भी प्राकृतिक विज्ञान की तरह से समाज का वैज्ञानिक अध्ययन विज्ञान की विधियों—अवलोकन, परीक्षण तथा तुलना के द्वारा करेगा तथा सामाजिक व्यवस्था का विश्लेषण और व्याख्या करेगा एवं सार्वभौमिक नियमों का निर्माण करेगा।

समाज 'सावयव' का एक रूप है (Society is a Forms of Organism) कॉम्ट के अनुसार, समाज और जीव दोनों में संरचना और प्रकार्य की समानता होती है। समाज सावयव का एक रूप है। आपकी मान्यता है कि जीवों और पेड़-पौधों की तरह से समाज की भी एक संरचना होती है। इस संरचना का निर्माण अनेक अन्तर्सम्बन्धित अंगों से मिलकर होता है। समाज की संरचना का उद्भव और विकास धीरे-धीरे सरल से जटिल रूप में होता है। आपने लिखा है कि श्रम-विभाजन के द्वारा समाज सरल से अधिक जटिल, विभेदीकृत और विशेषीकृत होता जाता है और सामाजिक एकता का निर्माण होता है। संक्षिप्त में यही ऑगस्त कॉम्ट का समाजशास्त्र के प्रतिपादन और विकास में योगदान है जिसका और सार्थकता आज भी प्रासंगिक है।

(2) हर्बर्ट स्पेन्सर (1820-1903) का योगदान
[Contribution of Herbert Spencer (1820-1903)]

कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित समाजशास्त्र विषय के विकास के कार्य को हर्बर्ट स्पेन्सर ने आगे बढ़ाया। ऐसा माना जाता है कि कॉम्ट ने जिस समाजशास्त्र का चित्र बनाया उसमें रंग स्पेन्सर ने भरे। कॉम्ट की भाँति आपने भी समाज के समग्र अध्ययन पर जोर दिया। आपने मानव समाज की व्याख्या एक ऐसे जीव के रूप में की है जो धीरे-धीरे विकसित होकर एक जटिल व्यवस्था बन जाता है। स्पेन्सर ने समाजशास्त्र के विकास में जो योगदान किया है उसे निम्न क्षेत्रों में वर्गीकृत करके देखा जा सकता है—

1. समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य सम्बन्धी विचार (Views Related to Sociological Perspective)—स्पेन्सर ने समाजशास्त्रीय अध्ययन के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि समाज के विभिन्न अंगों के स्वतंत्र अध्ययन की अपेक्षा समाज और उसके अंगों का समग्र अध्ययन किया जाना चाहिए। आपका आग्रह था कि पारस्परिक सम्बन्धों के अध्ययन के द्वारा ही हम समाज को अच्छी तरह से समझ सकते हैं। आपके अनुसार समाज के विभिन्न अंगों की पारस्परिक निर्भरता प्रकार्यात्मक होती है। समाज का प्रत्येक अंग अलग-अलग कार्य करता है

जो सम्पूर्ण समाज के समग्र कल्याण के लिए आवश्यक होता है। आज भी समाजशास्त्र मे प्रकार्यवाद सम्प्रदाय स्पेन्सर के इस प्रकार्यात्मक पारस्परिक निर्भरता के विचार को समाज के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए आधारभूत मानता है।

2. समाजशास्त्र का विषय क्षेत्र (Scope of Sociology)—स्पेन्सर के *'प्रिन्सीपल्स ऑफ सोशियोलॉजी'* तीन खण्ड 1877 मे प्रकाशित हुए। इसमे आपने समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र मे निम्न विषयो का वर्णन किया है—परिवार, राजनीति, धर्म, सामाजिक नियत्रण, उद्योग। इन विषयो के अतिरिक्त आपने समाजशास्त्र मे समितियो, समुदायो, सामाजिक विभेदीकरण, स्तरीकरण, ज्ञान का समाजशास्त्र, विज्ञान का समाजशास्त्र तथा कला और सगीत के समाजशास्त्र के अध्ययनो को भी सम्मिलित किया।

3. जैवकीय उपागमों का मानवीय समाज की व्याख्या मे प्रयोग (Use of Biological Postulates for the Explanation of Human Society)—स्पेन्सर पर जीव विज्ञान तथा डार्विन का विशेष प्रभाव था जिसके कारण आपने सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक स्तरीकरण, अनुकूलन आदि की व्याख्या जैवकीय उपागमो के आधार पर की है, जो निम्नलिखित है—

3.1 'सामाजिक डार्विनवाद' या सामाजिक परिवर्तन की उद्‌विकासीय प्रवृत्ति (Social Darwanism' or Evolutionary Tendency of Social Change)—स्पेन्सर की मान्यता थी कि सामाजिक सरचना और सामाजिक संस्थाओं मे परिवर्तन की प्रक्रिया जीव जगत की भाँति उद्‌विकासी प्रवृत्ति की जैसी होती है। मानवीय समाज भी डार्विन के *'प्राकृतिक प्रवरण'* (नैचुरल सलेक्शन) की प्रक्रिया के सिद्धान्त की तरह से उद्‌विकासीय प्रक्रिया से होकर गुजरता है। समाजशास्त्र मे स्पेन्सर ने ही सबसे पहिले यह स्थापित किया कि मानवीय समाजो मे भी परिवर्तन प्राकृतिक नियमो के सिद्धान्तो की भाँति उद्‌विकास होता है। आपके अनुसार मानव समाज मे भी 'प्राकृतिक प्रवरण' *'योग्यतम उत्तरजीविता'* के प्रमाणो को देखा जा सकता है।

स्पेन्सर ने लिखा है कि जिस प्रकार से प्राकृतिक प्रवरण के सिद्धान्त के अनुसार मात्र *बलिष्ठ जीव ही बचते हैं और जीवित रहते हैं तथा उनकी वश वृद्धि होती है, उसी भाँति वे मानव* समाज जो अपने पर्यावरण के अनुसार आपको परिवर्तित कर लेते हैं, अनुकूलन कर लेते हैं वे ही समाज लम्बी अवधि तक जीवित रहते हैं। इसके विपरीत जो समाज अपने पर्यावरण से अनुकूलन नहीं कर पाते हैं। प्रतिस्पर्धा में असमर्थ होते हैं, वे अन्ततः लुप्त या नष्ट हो जाते हैं। स्पेन्सर की सामाजिक उद्‌विकासीय अवधारणा अनेक प्रकार से डार्विन के जैवकीय उद्‌विकासीय सिद्धान्त के समान होने के कारण आपके सिद्धान्त के 'सामाजिक डार्विनवाद' कहा जाता है। स्पेन्सर के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण मानवीय उद्‌विकासीय प्रगति का एक स्वाभाविक परिणाम है। आपने यह भी स्पष्ट रूप से लिखा हैं कि योग्यतम की उत्तरजीविता' या प्रतिस्पर्धात्मक संघर्ष मात्र प्रारम्भ के लडाकू समाजों मे ही देखा जाता है। आपने लिखा है कि विकसित एवं उन्नत औद्योगिक समाजो में सहयोग पार्श्ववाद और समझौतावादी लक्षण विद्यमान होते हैं न कि लडाकू समाजो जैसे संघर्ष और आक्रामक व्यवहार।

3.2 आन्तरिक विभेदीकरण और एकीरण (Internal Differentiation and Integration)—स्पेन्सर ने लिखा है कि सामाजिक व्यवस्थाओं में भी जैवकीय व्यवस्थाओं की भाँति आन्तरिक विभेदीकरण और एकीकरण की प्रक्रियाओं के माध्यम से समाज पर्यावरण के साथ अनुकूलन करता है। सामाजिक विभेदीकरण सरल से जटिल विभेदीकरण और न्यून निपुणता से पूर्ण निपुणता की ओर एवं समानता से विषमता की ओर निरन्तर प्रक्रिया के रूप में चलता है। स्पेन्सर ने इस प्रकार से समाजशास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान देकर इसे एक विज्ञान बनाने का सराहनीय प्रयास किया है।

(3) कार्ल मार्क्स (1818-1883) का योगदान

[Contribution Karl Marx (1818-1183)]

कार्ल मार्क्स का समाजशास्त्र विषय में विशिष्ट योगदान रहा है। आपने समाज को समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य से समझने में विशेष दिशा प्रदान की है। मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन, समाज के परिवर्तन के प्रारूप, अतिरिक्त मूल्य की अवधारणा, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, समाज के इतिहास की भौतिकवादी (आर्थिक) व्याख्या, वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष की अवधारणा आदि महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं एवं सिद्धान्तों को प्रतिपादित करके समाजशास्त्र विषय के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। अब हम निम्न महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं एवं सिद्धान्तों को संक्षिप्त में समझने का प्रयास करेंगे।

1. अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त। 2. वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष की अवधारणा। 3. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद। 4. इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या। 5. अलगाव का सिद्धान्त।

1. अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Surplus Value)—कार्ल मार्क्स ने समाज की जो व्याख्या की है उसका मूल आधार अतिरिक्त मूल्य है। आपके अनुसार अतिरिक्त मूल्य का अर्थ यह है, किसी वस्तु के निर्माण में जितना खर्च आता है और खर्चे की तुलना में जितने अधिक मूल्य में वह वस्तु बेची जाती है उसके बीच के अन्तर को कहते हैं। इसको निम्न उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है—एक कुर्सी के निर्माण में निम्न मदों के अन्तर्गत खर्चा किया जाता है। मान लीजिए चार रुपये की लकड़ी लगी, दो रुपये की कीलें, बढ़ई को कुर्सी बनाने के 10 रुपये दिये गये। इसके अतिरिक्त कुर्सी के निर्माण के लिए पूँजीपति ने स्थान एवं वित्तीय व्यवस्था में दो रुपये खर्च किये। इस प्रकार से कुर्सी की कुल लागत 18 रुपये आयी। पूँजीपति ने इस कुर्सी को बाजार में 28 रुपये में बेचा। एक कुर्सी पर 10 रुपये का लाभ हुआ। मार्क्स के अनुसार यह 10 रुपये अतिरिक्त मूल्य है जिसको पूँजीपति प्राप्त करता है। कुर्सी के निर्माण में बढ़ई (मजदूर) ने अधिक श्रम किया है जिसके परिणामस्वरूप 10 रुपये का लाभ हुआ है, लेकिन पूँजीपति श्रमिक को इस 10 रुपये में से कुछ नहीं देता है और स्वयं हड़प कर लेता है। मार्क्स का कहना है कि श्रमिक (बढ़ई) के पास उत्पादन के साधनों को जुटाने की शक्ति एवं दक्षता नहीं है, इस कारण श्रमिक (बढ़ई) अपना श्रम पूँजीपतियों को बेच देता है। उसके श्रम के द्वारा उत्पन्न अतिरिक्त मूल्य जो कुर्सी से प्राप्त होता है वह सारा-का-सारा पूँजीपति हड़प लेता है। इस प्रकार से पूँजीपति उत्पादन के साधन जुटाने की क्षमता रखने के फलस्वरूप अतिरिक्त मूल्य के द्वारा विभिन्न उत्पादन

के क्षेत्रो मे श्रमिको का शोषण करते हैं। शोषक (पूँजीपति) और शोषित (श्रमिक) मे संघर्ष का मूल कारण यह अतिरिक्त मूल्य ही है। मार्क्स के अनुसार अतिरिक्त मूल्य ही पूँजीपति व्यवस्था की बुराइयो का मूल कारण है।

2. वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष की अवधारणा (Concepts of Class and Class Conflict)—मार्क्स का मत है कि समाज मे हमेशा दो वर्ग होते हैं। शोषक वर्ग और शोषित वर्ग। शोषक वर्ग वह वर्ग है जिसका उत्पादन के साधनो, उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धो पर स्वामित्व रहता है। विभिन्न कालो मे शोषक के रूप मे मालिक, स्वामी, जागीरदार, बुर्जुआ, पूँजीपति आदि किसी न किसी रूप मे होते है। इसी क्रम मे शोषित वर्ग के विभिन्न रूप दास, गुलाम, किसान, श्रमिक, मजदूर आदि होते हैं। कार्ल मार्क्स ने "**कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र**" मे लिखा है "*आज तक अस्तित्व मे जो समाज है उनका इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।*" ये दोनो शोषक व शोषित वर्ग अपनी अपनी समस्याओ, हितो, लक्ष्यों, परिस्थितियो आदि के लिए एक-दूसरे से संघर्ष करते रहते हैं। मार्क्स का मत है कि मानव इतिहास के आदिम साम्यवादी युग, दासत्व युग एव सामन्ती युग मे वर्ग संघर्ष जारी होता है और पूँजीपति युग मे वर्ग संघर्ष तीव्र हो जाता है। मार्क्स ने भविष्यवाणी की है कि वर्ग संघर्ष के इतिहास मे एक समय ऐसा आयेगा जब सर्वहारा-वर्ग (श्रमिक वर्ग) पूँजीपति वर्ग एव व्यवस्था को समाप्त कर देगा। पूँजीपति व्यवस्था के स्थान पर साम्यवादी व्यवस्था स्थापित हो जायेगी जिससे शोषक वर्ग का अन्त हो जायेगा। इसके साथ-साथ समाज मे असमानता का भी अन्त हो जायेगा। वर्ग भेद नहीं रहेगा, श्रमिको को पूँजीवादी दुःखो से छुटकारा मिल जायेगा।

3. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism)—कार्ल मार्क्स पर हीगल का प्रभाव पड़ा जिसके परिणामस्वरूप मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद को अपने दृष्टिकोण से संशोधित किया, जो निम्न प्रकार है। मार्क्स ने हीगल के आत्मा द्वन्द्ववाद से भिन्न भौतिक द्वन्द्ववाद का प्रतिपादित किया। आपके अनुसार विश्व का मूल भी पदार्थ ही है। मार्क्स का कहना है सर्वप्रथम विश्व के पदार्थों (आर्थिकी) में परिवर्तन होता है और उसके बाद सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, कला, साहित्य, विज्ञान आदि मे परिवर्तन होता है। द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के अन्तर्गत मार्क्स की मान्यता है कि समाज में संघर्ष एवं द्वन्द्व होता है। यह संघर्षवाद—प्रतिवाद और समवाद की प्रक्रिया मे से गुजरता है। कोई वस्तु होती है वह वाद है। उस वस्तु मे इस वाद के विरोधी तत्व विद्यमान होते हैं, यह प्रतिवाद है। इन वाद और प्रतिवाद मे संघर्ष होता है जिसके कारण एक नवीन स्वरूप विकसित होता है—यह नवीन स्वरूप समवाद कहलाता है। कुछ समय के बीतने के बाद समवाद एक वाद का रूप ग्रहण कर लेता है। इस नवीन वाद के विरुद्ध फिर एक नया प्रतिवाद भी विकसित हो जाता है। इन वाद और प्रतिवाद में संघर्ष होता है, जिसके परिणामस्वरूप नवीन समवाद विकसित होता है।

मार्क्स की मान्यता है कि विश्व के भौतिक जगत मे पदार्थों मे मतभेद एवं संघर्ष निरन्तर चलता रहता है और समाज का विकास होता रहता है। मार्क्स ने भौतिक द्वन्द्ववाद के द्वारा वर्ग संघर्ष की व्याख्या की है। प्रत्येक युग मे शोषक एक वाद के रूप मे होता है और शोषित प्रतिवाद

के रूप में होता है जिनमें संघर्ष होता है। परिणामस्वरूप नवीन समवाद विकसित होता है जो कुछ समय बाद एक वाद का रूप ग्रहण कर लेता है। यह वाद प्रतिवाद और समवाद की प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि समाज कल्पनालोकीय समाजवाद की अवस्था में नहीं पहुँच जाता है। यह सार रूप में यही कार्ल मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है।

4. इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या (Materialistic Interpretation of History)—कार्ल मार्क्स ने मानव इतिहास की व्याख्या का मूल कारण या आधार भौतिक या आर्थिक को बताया है। आपने **"क्रिटिक ऑफ पॉलिटिकल इकॉनामी"** में लिखा है कि उत्पादन के साधन, उत्पादन की प्रणाली, उत्पादन के सम्बन्धों के द्वारा समाज व संस्कृति में परिवर्तन होता है। मार्क्स के अनुसार सर्वप्रथम आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन आता है। उत्पादन के साधनों व उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन आता है। इन परिवर्तनों का प्रभाव सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को परिवर्तित करता है। मार्क्स ने आर्थिक कारक को कारण माना है और अन्य सभी जैसे सामाजिक परिवर्तन को परिणाम माना है। आर्थिक कारक चालक है और सामाजिक परिवर्तन उसमें गति प्राप्त करता है। क्योंकि कार्ल मार्क्स सामाजिक परिवर्तन का एकमात्र कारण आर्थिक कारक को मानता है इसलिए इनका सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त आर्थिक निर्णायकवाद का सिद्धान्त कहलाता है। आपने इतिहास की व्याख्या आर्थिक आधार पर की है, इसलिए आपको इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का कट्टर समर्थक कहते हैं।

5. अलगाव का सिद्धान्त (Theory of Alienation)—कार्ल मार्क्स ने **"अलगाव का सिद्धान्त"** भी प्रतिपादित किया है। मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था को अलगाव की अवधारणा के बिना नहीं समझा जा सकता। मार्क्स की मान्यता है कि समाज में अलगाव की देन आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था का परिणाम है। मार्क्स ने लिखा है कि आदिकाल में श्रम का विभाजन नहीं था, मशीनें नहीं थीं। व्यक्ति स्वयं अपने हाथों से वस्तु का उत्पादन प्रारम्भ से लेकर अन्त तक करता था। वस्तुओं के बनाने में उसे मानसिक सन्तोष मिलता था। लेकिन जैसे-जैसे श्रम का विभाजन बढ़ा, उत्पादन के साधनों में विकास हुआ वैसे-वैसे व्यक्ति का उत्पादित वस्तुओं, श्रम आदि से अलगाव होता गया। नये-नये उपकरणों के आने से वस्तु की उत्पादन की प्रक्रिया में व्यक्ति एक छोटा-सा हिस्सा बनकर रह गया। श्रमिक का उत्पादन की प्रक्रिया में कोई अधिकार नहीं रहा। उसमें कार्य के प्रति अरुचि पैदा कर दी। मार्क्स का कथन है कि पूँजीवादी व्यवस्था ने श्रमिकों, मजदूरों, कारीगरों आदि में काम के प्रति अलगाव पैदा कर दिया है, इस अलगाव की भावना के कारण व्यक्ति का स्वयं से तथा दूसरों के साथ उसके सम्बन्धों में अलगाव पैदा हो गया है। अलगाव की भावना के कारण श्रमिक का जीवन निष्क्रिय हो गया है। वह अपने आपको अलग-थलग महसूस करता है। जब कभी भी कोई आन्दोलन होता है उसमें यह उदास श्रमिक तोड़-फोड़ करता है। मार्क्स का मत है कि पूँजीवादी व्यवस्था ने अलगाव जैसी हानिकारक भावना पैदा कर दी है। मार्क्स ने समाजशास्त्र में जो योगदान किया है उसके अनुसार उनका महत्त्व समाजशास्त्रियों में बढ़ गया है। एक समाजशास्त्री के रूप में मार्क्स का उपर्युक्त योगदान विशिष्ट है।

(4) इमाइल दुर्खीम (1858-1917) का योगदान
[Contribution of Emile Duerkheim(1858-1917)]

दुर्खीम ने कॉम्ट के कार्य को आगे बढाया। दुर्खीम ने भी समाजशास्त्र को एक पृथक् सामाजिक विज्ञान के रूप मे स्थान दिलवाने के लिए अनेक कार्य किये। आपने समाजशास्त्रीय अध्ययन किये। समाजशास्त्रीय पद्धति के नियमो पर एक पुस्तक लिखी, जिसमे समाजशास्त्रीय तथ्यो को वस्तुओ का दर्जा प्रदान करने के लिए व्याख्याएँ और विवेचनाएँ कीं। दुर्खीम का प्रमुख लक्ष्य 'सामाजिक घटनाओ' और 'सामाजिक समस्याओ' पर विभिन्न कारको के प्रभावो का क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन करना था। आपने भी कॉम्ट की इस बात का समर्थन किया कि सामाजिक घटनाओ, सामाजिक समस्याओ, सामाजिक सरचना आदि को समझने के लिए समाजशास्त्र को मनोविज्ञान विषय की सहायता नहीं चाहिए बल्कि मनोविज्ञान समाजशास्त्र के ज्ञान पर आधारित है। दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यो तथा आँकडो के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक पद्धति को भी निश्चित किया। इस प्रकार दुर्खीम ने समाजशास्त्र को एक नूतन तथा विशिष्ट विज्ञान के रूप मे स्थापित एवं विकसित करने मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, जो एक वास्तविक और स्वतन्त्र विषय के रूप में समाज का क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन करता है।

1. दुर्खीम की मान्यताएँ (Postulates of Durkheim)—दुर्खीम निम्नलिखित बातो को मानते थे जिन्हें विद्वानों ने इनके मान्यताएँ या अभिगृहीत कहा है—

(1) समाज मे सामूहिक अन्तर्विवेक (चेतना) विद्यमान होता है। (2) पूर्ण योग से अधिक होता है। (3) सामाजिक तथ्य यथार्थ होते हैं। (4) अनुरूपता से सयुक्तता आती है। (5) श्रम-विभाजन से संयुक्तता आती है। (6) सत्ता सामूहिक विचारों पर आधारित होती है। (7) सामाजिक तथ्य समाजीय आवश्यकताओ का प्रतिनिधित्व करते हैं। (8) जनसख्या के आकार, सामाजिक घनत्व और श्रम विभाजन मे परिवर्तन आता है, और (9) विसमानता समाज के लिए प्रकार्यात्मक होती है।

2. पद्धतिशास्त्र (Methodology)—दुर्खीम ने अपनी पुस्तक '**समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम**' में समाजशास्त्र के लिए वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति का विस्तार से वर्णन और व्याख्या की है। **कॉम्ट** की तरह आपने भी समाजशास्त्र को भौतिक विज्ञानो की तरह निश्चित, यथार्थ, आनुभविक, प्रयोगसिद्ध तथा प्रमाणित विज्ञान का स्तर प्राप्त कराने का सुनिश्चित प्रयास किया। इन्होने समाजशास्त्र मे प्राकृतिक विज्ञानो की अध्ययन पद्धति के प्रयोग पर ही बल नहीं दिया। दुर्खीम की मान्यता रही कि जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञानों मे अवलोकन, निरीक्षण, परीक्षण, वर्गीकरण, विश्लेषण आदि किये जाते हैं, उसी प्रकार समाजशास्त्र के अध्ययन मे भी इनका उपयोग किया जाना चाहिए। आपने सिद्ध किया कि समाजशास्त्रीय तथ्य भी उसी प्रकार से यथार्थ हैं जिस प्रकार से प्राकृतिक विज्ञानो के तथ्य हैं। आपने कहा कि सामाजिक तथ्य भी वस्तुओं के रूप में अध्ययन के विषय हो सकते हैं, इनको एकत्र करने की पद्धति पर भी आपने प्रकाश डाला है। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य पद्धतिशास्त्र से सम्बन्धित विशेषताओ का वर्णन और व्याख्याएँ हैं।

दुर्खीम ने समाजशास्त्र मे वस्तुनिष्ठता पर विशेष जोर दिया है। आपने कहा कि सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में समाजशास्त्री को स्वयं की भावना, विचार, मूल्य तथा पूर्वाग्रहों से स्वतन्त्र रहना चाहिए। तथ्यों का संकलन, वर्णन और व्याख्या निष्पक्ष रहकर करनी चाहिए।

आपने समाजशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञानों के समान वैज्ञानिकता प्रदान करने के लिए सुझाव दिया और कहा कि समाजशास्त्रीय घटनाओं में कार्य कारण और प्रभावों के परस्पर सम्बन्धों का अध्ययन करना चाहिए तथा घटनाओं से सम्बन्धित सिद्धान्त बनाने चाहिए।

दुर्खीम ने समाजशास्त्र में मानव समाज के वैज्ञानिक अध्ययनों के लिए तुलनात्मक विधि के प्रयोग पर जोर दिया। आपका कहना है कि सामाजिक तथ्यों, आँकड़ों तथा जानकारी की परस्पर तुलना करनी चाहिए। ऐसा करने से वास्तविकता का पता चलेगा।

दुर्खीम ने पद्धतिशास्त्र के अन्तर्गत अवलोकन पर विशेष जोर दिया है। आपने अपनी कृति "समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम" में सामाजिक तथ्यों के अवलोकन के नियमों की विवेचना की है। आपने पहिला नियम यही दिया है कि 'सामाजिक तथ्यों को वस्तु जैसा मानो'। वस्तुपरक अवलोकन के लिए घटना की विशेषताओं का विवेचन किया जाना चाहिए न कि घटना से सम्बन्धित विद्यमान विचारों का। समाजशास्त्री जब भी किसी सामाजिक तथ्य का अन्वेषण करे तो उसे घटना में आने वाले लक्षणों, तथ्यों तथा वास्तविकताओं का अवलोकन तथा अध्ययन करना चाहिए तथा इन्हें व्यक्ति के पूर्वाग्रह से स्वतन्त्र होना चाहिए।

3. समाज में श्रम-विभाजन (Division of Labour in Society)—दुर्खीम ने अपनी प्रथम कृति 'समाज में श्रम-विभाजन' 1893 में श्रम-विभाजन के कारणों, प्रकारों, परिणामों तथा प्रभावों का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य से वर्णन और व्याख्या की है। इसके साथ-साथ आपने सामाजिक एकता के कारणों, प्रकारों तथा प्रभावों का भी विश्लेषण किया है। इन दोनों विषयों (श्रम-विभाजन तथा सामाजिक एकता) के साथ-साथ आपने सामाजिक परिवर्तन तथा अन्य समाज से सम्बन्धित बातों की व्याख्या भी की है। आपने अध्ययन करके निष्कर्ष निकाला कि जब जनसंख्या बढ़ती है तो वह समाज में अनेक आवश्यकताओं को जन्म देती है। उनको पूरा करने के लिए आवश्यक हो जाता है कि समाज के सदस्य आपस में श्रम को बाँटें तथा अपना अस्तित्व बनाये रखें। अगर सभी एक प्रकार का कार्य या व्यवसाय करेंगे तो कठिनाई होगी। इसलिए दुर्खीम ने निष्कर्ष दिया कि जब-जब जनसंख्या के आकार और घनत्व तथा भौतिक और नैतिक घनत्व में वृद्धि होती है, तब-तब समाज में एकता बनाये रखने के लिए श्रम का विभाजन होता है। दुर्खीम ने आलोच्य पुस्तक में समाजों को दो वर्गों में बाँटा है—(1) यान्त्रिक एकता एवं (2) जैविक एकता।

यांत्रिक एकता व्यक्तियों की सजातीय एकता पर आधारित होती है। जब जनसंख्या कम होती है तो समाज के सदस्यों में परस्पर श्रम-विभाजन का अभाव होता है। विशेषीकरण भी नहीं होता है। उनमें परस्पर मानवीय-व्यवहार, बौद्धिक-आचार एवं सामाजिक सजातीयता होती है। उनके विश्वास, विचार, आचरण, व्यवहार आदि एक से होते हैं। परम्परा का प्रभुत्व होता है। वैयक्तिकता और व्यक्तिवाद का अभाव होता है। फौजदारी कानून का प्रभुत्व होता है। इनमें

परस्पर एक सूत्र मे बाँधने वाली कडो सर्वसम्मत जनमत होती है जो व्यक्तियो को मानसिक और नैतिक सजातीयता पर आधारित होती है। आदिम समाज तथा छोटे ग्रामीण समाज मे यान्त्रिक एकता होती है। समाज मे जनसख्या की वृद्धि के कारण यान्त्रिक एकता से सावयवी एकता की ओर परिवर्तन होता रहता है। नगरो तथा महानगरो मे सावयवी एकता होती हैं।

दुर्खीम ने तथ्यो का विश्लेषण करके निष्कर्ष निकाला कि जनसख्या के बढने से श्रम का विभाजन भी बढता है। जो जिस काम को करता है उससे उसमे विशेषीकरण आ जाता है। लोगो की परस्पर एक-दूसरे पर निर्भरता भी बढ जाती है। इसके फलस्वरूप वे परस्पर एक-दूसरे से सहयोग करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। उनमे एकता पैदा हो जाती है। इस प्रकार से विकसित एकता को दुर्खीम ने सावयवी एकता कहा है।

4. आत्महत्या का सिद्धान्त (Theory of Suicide)—दुर्खीम ने आत्महत्या का समाजशास्त्रीय सिद्धान्त अपनी पुस्तक '**आत्महत्या**' (The Suicide), 1897 मे दिया था। इनके द्वारा प्रतिपादित आत्महत्या का सिद्धान्त समाजशास्त्र विषय मे महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय योगदान है। इस अध्ययन मे आपने आत्महत्या के कारणो, प्रकारो, अन्य सिद्धान्तो आदि का अनेक प्रकार से परीक्षण, निरीक्षण वर्गीकरण, विश्लेषण, सामान्यीकरण आदि समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में किया है।

सर्वप्रथम आपने उन सब कारणो और सिद्धान्तो की जाँच की जो आपके समय मे विद्यमान थे। आपने सर्वेक्षण द्वारा सिद्ध किया कि आत्महत्या का कारण मनोविकृति, प्रजाति, वशानुक्रमण, भौगोलिकता, अनुकरण, अन्य विशुद्ध मनोवैज्ञानिक कारक, गरीबी, असफल प्रेम तथा अन्य वैयक्तिक प्रेरक नहीं होते हैं। इन्होने इन सब कारको की आँकडो के आधार पर जाँच की और पाया कि इनमे से कोई भी कारक आत्महत्या का कारण नहीं है। इसके बाद दुर्खीम ने स्पष्ट किया कि महत्त्वपूर्ण आत्महत्याओ के प्रकार—अहमन्यवादी, परार्थवादी और अप्रतिमानित आत्महत्याओ के कारण पूर्ण रूप से सामाजिक हैं। इसलिए इनके कारणो को भी समाज मे ही खोजना चाहिए। आपने आत्महत्या को सामाजिक तथ्य बताया है। यह व्यक्तिगत या निजी क्रिया नहीं है। यह समाज के दबाव के कारण की जाती है। आपके अनुसार आत्महत्या के कारणो, प्रकारो, परिणामो, तथ्यो आदि का अन्वेषण तथा व्याख्या समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से करनी चाहिए। अब हम दुर्खीम द्वारा वर्णित आत्महत्या के तीन प्रमुख प्रकारो की विवेचना करेंगे।

4.1 अहंमन्यवादी आत्महत्या (Egoistic Suicide)—दुर्खीम के मत में अहमन्यवादी आत्महत्या का कारण व्यक्ति का सामाजिक अकेलापन तथा अलग-थलग पड जाना होता है, सामाजिक समूह से लगाव की मात्रा का कम हो जाना है। व्यक्ति का स्वयं को समाज से उपेक्षित और कटा-कटा-सा महसूस करना है।

4.2 परार्थवादी आत्महत्या (Altruistic Suicide)—दुर्खीम का मानना है कि परार्थवादी आत्महत्या व्यक्ति तब करता है जब वह समूह का बन जाता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व पूर्णरूप से समूह अथवा समाज में लीन हो जाता है। अवसर आने पर वह अपना जीवन समाज, समूह, देश, जाति आदि के लिए बलिदान कर देता है। दुर्खीम बलिदान को ही परार्थवादी आत्महत्या

कहते हैं। सैनिको द्वारा देश के लिए जीवन का बलिदान तथा राजपूत वीरांगनाओं द्वारा जौहर इस प्रकार की आत्महत्या के उदाहरण हैं।

4.3 अप्रतिमानित आत्महत्या (Anomic Suicide)—अप्रतिमानित अथवा आदर्शहीन आत्महत्या व्यक्ति तब करता है जब सामाजिक सन्तुलन आकस्मिक रूप से तुरन्त नष्ट हो जाता है, जब समाज की नैतिक संरचना का यकायक क्रम बिगडने का व्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है, वह अपने को सन्तुलित नहीं रख पाता है और आत्महत्या कर बैठता है तो ऐसी आत्महत्या को दुर्खीम ने अप्रतिमानित आत्महत्या कहा है। आपका कहना है कि आर्थिक सकट और बैंकों के असफल या दिवाला पिट जाने के प्रभाव से पीड़ित लोग आत्महत्या करते हैं वह इसी प्रकार की आत्महत्या का उदाहरण है।

5. धर्म का सिद्धान्त (Theory of Religion)—दुर्खीम ने धर्म का समाजशास्त्रीय सिद्धान्त अपने तीसरे विनिबन्ध **'धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूप'**, 1912 मे प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक में आपने धर्म की प्रकृति, स्रोत, स्वरूप, प्रभाव और धर्म में भिन्नताओं का गहन समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत किया है। आपने धर्म की सामान्य और प्रचलित परिभाषा—'ईश्वर में विश्वास अथवा पारलौकिक शक्तियो में विश्वास' की कटु आलोचना की है तथा धर्म की निम्न परिभाषा दी है, ''धर्म पवित्र वस्तुओ से सम्बन्धित विश्वासो और आचरणो की संगठित व्यवस्था है; कहने का तात्पर्य यह है कि धार्मिक वस्तुओ को अलग रखा जाता है तथा उन पर निषेध लगा दिए जाते हैं—वे विश्वास और आचरण जो एक नैतिक समुदाय के रूप में संगठित होते हैं तथा वे सभी जो उससे जुड़े होते हैं, गिरजाघर कहलाता है।'' दुर्खीम ने उपर्युक्त कथन को स्पष्ट करने के लिए सभी वस्तुओं और घटनाओं को दो वर्गों मे बाँटा है—धार्मिक और लौकिक। धर्म अपने मतावलम्बियों को यह भी सिखाता है कि इन दोनो वर्गो को नहीं मिलाएँ। ऐसा करना पाप है। पवित्र वस्तुएँ धर्म के अन्तर्गत आती हैं। साधारण क्रियाएँ, वस्तुएँ आदि लौकिक के अन्तर्गत आती हैं। आपने धर्म को भी सामाजिक तथ्य बताया है। इसलिए धर्म की उत्पत्ति का स्रोत भी समाज को माना है। धर्म का स्रोत स्वयं समाज है। धार्मिक बातें और विशेषताएँ समाज को विशेषताएँ ही होती हैं। ईश्वर समाज का ही मानवीकरण होता है। धर्म के यथार्थ कार्य समाज के निर्माण, पुनर्स्थापना और समाज की एकता बनाए रखने के लिए किए जाते हैं। आपके अनुसार धर्म की उत्पत्ति सामूहिक चेतना और सामूहिक प्रतिनिधानो से होती है।

6. सामूहिक चेतना (Collective Consciousness)—दुर्खीम ने सामूहिक चेतना का विवेचन अपनी प्रथम कृति **'समाज में श्रम-विभाजन'** मे किया है। आपने सामूहिक चेतना की निम्नलिखित परिभाषा दी है—

''एक ही समाज के अधिकांश नागरिकों में सामान्य रूप से पाये जाने वाले सम्पूर्ण विश्वास और भावनाएँ सामान्य अथवा सामूहिक चेतना कहलाती हैं।''

जब अनेक व्यक्ति परस्पर अन्तःक्रिया करते हैं तब उनमे परस्पर विचारों और नैतिकता का आदान-प्रदान होता है। धीरे-धीरे ये व्यक्तिगत चेतनाएँ परस्पर घुलमिल जाती हैं तथा सामूहिक चेतना के रूप मे विकसित हो जाती हैं। सामूहिक चेतना व्यक्तिगत चेतना से भिन्न, स्वतन्त्र और

अधिक शक्तिशाली होती है। इनका अस्तित्व व्यक्ति के बाहर विद्यमान होता है। व्यक्ति जब इनका उल्लघन करने का प्रयास करता है तब उसे सामूहिक चेतना के दबाव तथा नियन्त्रण का ज्ञान होता है। *व्यक्ति इन्हे समाजीकरण के द्वारा सीखता है। सामूहिक चेतना व्यक्ति के बाहर तथा व्यक्ति* पर नियन्त्रण रखने का कार्य करती है।

7. सामूहिक प्रतिनिधान (Collective Representation)—आपके अनुसार सामूहिक प्रतिनिधान सारे समूह द्वारा स्वीकृत व्यवहार अथवा विचार होते हैं जो सारे समाज मे फैले होते हैं तथा ये सामूहिक चेतना के प्रतीक होते हैं। सामूहिक प्रतिनिधान व्यक्तियो पर सामाजिक नियन्त्रण रखते हैं। सामूहिक प्रतिनिधान सामाजिक चेतना के द्वारा बनते हैं। ये वे व्यवहार अथवा विचार होते हैं जिनके प्रति लोगो के मन मे मानसिक और भावात्मक लगाव उत्पन्न हो जाते है। समाज के सभी सदस्य इनका पालन करते हैं। व्यक्तिगत चेतना की अन्तःक्रिया से सामूहिक चेतना बनती है तथा सामूहिक चेतना से सामूहिक प्रतिनिधानो की उत्पत्ति होती है। दुर्खीम के अनुसार धार्मिक विश्वास, धार्मिक अनुष्ठान, संस्कार, ज्ञान की श्रेणियाँ, समय, स्थान आदि सामूहिक प्रतिनिधान हैं। किसी देश का झण्डा, धार्मिक ग्रन्थ जैसे—बाइबिल, रामायण, गीता, गुरु ग्रन्थ, धार्मिक स्थान—मन्दिर, गिरजाघर, मस्जिद, मठ आदि सामूहिक पतिनिधानो के उदाहरण हैं। दुर्खीम का मानना है कि किसी समाज को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझने के लिए उसके सामाजिक प्रतिनिधानों का अध्ययन करना परम आवश्यक है।

8. सामाजिक तथ्य (Social Fact)—दुर्खीम ने कहा कि जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान तथ्यो का अध्ययन करते हैं उसी प्रकार से समाजशास्त्र को भी सामाजिक तथ्यो का अध्ययन करना चाहिए। आपने कहा कि सामाजिक तथ्य वस्तुएँ हैं तथा इनकी दो विशेषताएँ हैं—बाह्यता और बाध्यता।

बाह्यता से अर्थ है कि सामाजिक तथ्य का अस्तित्व व्यक्ति के बाहर विद्यमान होता है तथा ये व्यक्ति से स्वतंत्र होते हैं। बाध्यता के विषय में दुर्खीम का मानना है कि सामाजिक तथ्य समूह की चेतना के द्वारा बनते हैं इसलिए वे व्यक्ति पर नियन्त्रण रखते हैं।

दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों को समाजशास्त्र की विषय-वस्तु बताया है। आप सभी मानवीय व्यवहारो, विचारो, भावनाओ, सामूहिक प्रतिनिधानों आदि को सामाजिक तथ्य मानते हैं। दुर्खीम ने *सामाजिक तथ्यों की निम्न परिभाषा दी है, "सामाजिक तथ्य व्यवहार (विचार, अनुभव या क्रिया)* का वह पक्ष है जिसका निरीक्षण वस्तुपरक रूप से सम्भव है और जो एक विशेष तरीके से व्यवहार करने को मजबूर करता है।" आपका कहना है कि जिस प्रकार से वस्तु का अवलोकन, निरीक्षण, परीक्षण, वर्गीकरण तथा विश्लेषण सम्भव है उसी प्रकार से सामाजिक तथ्यो का भी सम्भव है क्योकि आप सामाजिक तथ्यो को वस्तु मानते हैं। समाजशास्त्र मे भी सामाजिक तथ्यो का अध्ययन समाज से सम्बन्धित सिद्धान्तो का निर्माण करने के लिए किया जाना अत्यावश्यक है।

(5) मैक्स वेबर (1864-1920) का योगदान

[Contribution of Max Weber (1864-1920)]

वेबर ने समाजशास्त्र के विकास में उल्लेखनीय योगदान दिया है जो निम्न हैं—

1. पद्धतिशास्त्र (Methodology)—वेबर ने समाजशास्त्र के लिए वैज्ञानिक पद्धति के विकास में योगदान दिया है। सर्वप्रथम आपने यह स्पष्ट किया कि प्राकृतिक घटनाओं और सामाजिक घटनाओं में मौलिक अन्तर है। वेबर का कहना था कि प्राकृतिक घटनाएँ सामाजिक क्रियाओं की तरह अर्थपूर्ण नहीं होती है। सामाजिक क्रियाओं के पीछे कोई उद्देश्य निहित होता है जबकि प्राकृतिक घटनाएँ उद्देश्यविहीन होती हैं। आपने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के लिए निम्न विधि अपनाई थी। सबसे पहिले उन्होंने घटनाओं को चुना। उन्होंने सामाजिक घटनाओं में से कुछ छोटी-छोटी घटनाएँ चुनीं जिनका वे अध्ययन करना चाहते थे। दूसरे चरण में इन छोटी छोटी घटनाओं में से उन घटनाओं को चुना जो परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित थीं। इस प्रक्रिया से पूर्ववर्ती घटनाओं का पता चल जाता है अर्थात् वे घटनाएँ चुनीं जो अन्य घटनाओं का कारण है। तीसरे चरण में वेबर ने घटनाओं को दो वर्गों में बाँटा—एक वे घटनाएँ जो पूर्ववर्ती थीं अर्थात् कारण थीं तथा दूसरी वे घटनाएँ जो परिणाम थीं।

वेबर ने अपने अध्ययनों द्वारा सिद्ध किया कि भौतिक घटनाओं में उपयोग की जाने वाली वैज्ञानिक विधियों का उपयोग सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में नहीं किया जा सकता। आपका कहना है कि सामाजिक घटनाएँ एक समय विशेष में होती हैं तथा विशिष्ट होती हैं। प्राकृतिक घटनाएँ एक-जैसी और बार-बार होती हैं। प्राकृतिक घटनाओं में सामान्यीकरण सम्भव है। सामाजिक घटनाओं में सामान्यीकरण असम्भव है। सामाजिक घटनाओं का सामान्यीकरण सम्भव करने के लिए वेबर ने तुलनात्मक अध्ययन को सम्भव बनाया। इसके लिए इन्होंने पद्धतिशास्त्र को 'आदर्श-प्रारूप' प्रदान करके एक महान् योगदान किया है।

पद्धतिशास्त्र की विशेषताएँ (Characteristics of Methodology)—

वेबर का कहना है कि (1) प्राकृतिक विज्ञानों की विधियों से सामाजिक घटनाओं का अध्ययन नहीं हो सकता। (2) आप तुलनात्मक विधि के अध्ययन करने पर जोर देते हैं। (3) आदर्श प्रारूप से सामाजिक घटनाओं को समझा जा सकता है तथा उनकी व्याख्या की जा सकती है। (4) वेबर समाजशास्त्र में "क्या है?", "क्यों है?", "कैसे है?" आदि के अध्ययन पर जोर देते हैं। समाजशास्त्र का "क्या होना चाहिए?" से कोई सम्बन्ध नहीं है। (5) समाजशास्त्र को सामाजिक घटनाओं का अध्ययन वस्तुपरक तथा व्यक्तिपरक दोनों प्रकार से करना चाहिए। (6) वेबर ने समाजशास्त्रीय अध्ययन में ऐतिहासिक कारणता को स्थान दिया है। घटनाओं और उनके क्रम में पूर्ववर्ती घटनाओं के द्वारा कारण प्रभाव मालूम करने की विधि प्रदान की है। (7) वेबर ने समाजशास्त्र में सामाजिक क्रियाओं के व्याख्यात्मक बोध पर जोर दिया है।

2. सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त (Theory of Social Action)—वेबर के चिन्तन ने सामाजिक क्रिया को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझते हुए लिखा है कि कोई भी क्रिया जब अन्य व्यक्तियों की क्रिया से प्रभावित होती है तब वह सामाजिक क्रिया कहलाती है। इन्हीं के

शब्दों में, *"किसी क्रिया को तब सामाजिक क्रिया कहा जा सकता है जब व्यक्ति या व्यक्तियों के द्वारा लगाए गए व्यक्तिनिष्ठ अर्थ के कारण वह (क्रिया) दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार से प्रभावित हो और उसके द्वारा उनकी गतिविधियाँ निर्धारित हों।"*

वेबर ने सामाजिक क्रिया के निर्णय करने से सम्बन्धित चार बातें बताई हैं। (1) *सामाजिक क्रियाएँ भूतकाल, वर्तमान अथवा भावी व्यवहारों से प्रभावित हो सकती हैं।* (2) आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक क्रिया सामाजिक क्रिया ही हो। (3) प्रत्येक प्रकार का सम्पर्क भी सामाजिक सम्पर्क हो तथा सामाजिक क्रिया ही हो। (4) वही क्रिया सामाजिक क्रिया कहलाएगी जिसमें क्रिया का प्रभाव अर्थपूर्ण हो तथा एक-दूसरे को प्रभावित करने वाले व्यक्ति भी परस्पर सम्बन्धित होने चाहिए। वर्षा आने पर सभी व्यक्ति अपना-अपना छाता खोलकर लगा लेते हैं। यह क्रिया अवश्य है परन्तु सामाजिक क्रिया नहीं है। यह क्रिया वर्षा से प्रभावित हुई है। व्यक्तियों ने परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित नहीं किया है। वेबर ने चार प्रकार की सामाजिक क्रियाओं का वर्णन किया है—(1) तार्किक क्रिया, (2) मूल्य-अभिमुखी तार्किक क्रिया, (3) भावात्मक क्रिया, और (4) पारम्परिक क्रिया।

3. आदर्श प्रारूप (Ideal Type)—वेबर ने सामाजिक क्रियाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए आदर्श प्रारूप का निर्माण किया। सामाजिक सम्बन्धों में मानव की क्रियाओं के दो अर्थ लगाये जाते हैं—एक वास्तविक अर्थ और दूसरा अनुमानित अर्थ। प्रथम अर्थ (वास्तविक) से तात्पर्य है कि व्यक्ति वास्तव में समाज में कैसे क्रिया करता है। दूसरा अर्थ (अनुमानित) अमूर्त वास्तविकता से सम्बन्धित होता है अर्थात् व्यक्ति को समाज में कैसे व्यवहार करना चाहिए। वास्तविक और अपेक्षित व्यवहार में अन्तर होता है। वेबर अपेक्षित व्यवहार या क्रिया को आदर्श प्रारूप कहते हैं। इसके द्वारा सामाजिक वास्तविकता को समझा जा सकता है।

4. धर्म का सिद्धान्त (Theory of Religion)—मैक्स वेबर ने धर्म का समाजशास्त्रीय सिद्धान्त ***'दा प्रोटेस्टेण्ट एथिक एण्ड दा स्पिरिट ऑफ केपिटलिज्म'*** में दिया है। वेबर ने विश्व के छः धर्मों का अध्ययन किया है तथा यह मालूम करने का प्रयास किया है कि धर्म आर्थिक घटनाओं को कैसे प्रभावित करता है? मार्क्स का यह कहना कि सभी परिणामों का कारण आर्थिक है—वेबर इसको नहीं मानते। वेबर ने आधुनिक पूँजीवाद का कारण धर्म को मानकर अध्ययन किया। आपने निष्कर्ष दिए कि धर्म के जिस प्रकार के आदर्श, आचार, प्रवचन तथा नैतिक मूल्य होंगे उसके अनुसार ही समाज की आर्थिक व्यवस्था होगी। प्रोटेस्टेण्ट धर्म पूँजीवाद को बढ़ावा देता है। जहाँ-जहाँ प्रोटेस्टेण्ट धर्म था वहाँ पूँजीवाद जल्दी पनपा तथा अन्य धर्म कैथोलिक, बौद्ध, जैन और इस्लाम धर्म पूँजीवाद को बढ़ावा नहीं देते हैं, वहाँ पूँजीवाद नहीं पनपा। वेबर ने आदर्श-प्रारूप के आधार पर छः धर्मों के आदर्श प्रारूपों का केवल आर्थिक व्यवस्था के सन्दर्भ में विश्लेषण किया है।

आपका मानना है कि सामाजिक संगठन में धार्मिक और आर्थिक कारक परस्पर सम्बन्धित हैं तथा *अन्योन्याश्रित हैं।* वेबर के अध्ययन में धार्मिक कारक निर्णायक सिद्ध हो गया परन्तु वेबर का कहना है कि सभी कारक परस्पर प्रभाव डालते हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए किसी एक कारक को कारण माना जा सकता है। वेबर बहुकारक के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे।

5. नौकरशाही (Bureaucracy)—वेबर ने नौकरशाही व्यवस्था का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन किया है। आपने इसकी उत्पत्ति, विशेषताओं, कार्यों तथा महत्व पर प्रकाश डाला है। वेबर का कहना है कि नौकरशाही व्यवस्था पूँजीवादी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप विकसित हुई है। आपके अनुसार नौकरशाही की निम्न विशेषताएँ हैं—

नौकरशाही की विशेषताएँ (Charcteristics of Bureaucracy)—(1) नौकरशाही व्यवस्था में व्यक्ति विशिष्ट कार्य करता है। (2) इसमें सत्ता का विभाजन संस्तरण के आधार पर होता है। (3) नौकरशाही व्यवस्था में कार्यों का बँटवारा तकनीकी आधार पर होता है। (4) इस संगठन में कार्यकर्त्ता का जीवन कार्यालय और परिवार में अलग-अलग बँटा होता है। (5) इसमें व्यापारिक सम्पत्ति तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति अलग-अलग होती है। (6) आमदनी वेतन के रूप में भी होती है।

6. शक्ति और सत्ता (Power and Authority)—वेबर ने सत्ता और शक्ति पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। आपके अनुसार अगर किसी शक्ति के पीछे कानून, पद अथवा कोई और वैध आधार है तो वह सत्ता कहलायेगी। सत्ता व्यक्ति को वैध रूप से ऐसे अधिकार दे देती है जिनके द्वारा वह अन्य व्यक्तियों, संगठनों आदि को नियन्त्रित करता है। सत्ता को कई प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। औपचारिकता के आधार पर औपचारिक सत्ता तथा अनौपचारिक सत्ता में वर्गीकृत कर सकते हैं।

सामाजिक क्रिया (Social Action)—वेबर ने सामाजिक क्रिया की अवधारणा, सिद्धान्त तथा योजना आपकी पुस्तक *"दा थ्योरी ऑफ सोशियल एण्ड इकोनोमिक ऑर्गनाइजेशन"* में दी है। सामाजिक क्रिया का समाजशास्त्र में विशेष महत्त्व है। आपने सामाजिक क्रिया को समाजशास्त्र के अध्ययन की वस्तु बताया है।

आपने समाजशास्त्र की परिभाषा में भी इसे स्पष्ट किया है, *"समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया के व्याख्यात्मक बोध द्वारा उसके दिशा क्रम और परिणामों के कार्य-कारण विश्लेषण पर पहुँचने का प्रयास करता है।"*

सामाजिक क्रिया का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Social Action)—वेबर ने 'सामाजिक क्रिया' शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया है। आपने सामाजिक क्रिया की निम्न परिभाषा दी है, *"क्रिया में वे सभी मानवीय व्यवहार सम्मिलित होते हैं जिनके साथ क्रिया करने वाला व्यक्ति व्यक्तिनिष्ठ अर्थ जोड़ता है।"* मैक्स वेबर के अनुसार कोई भी क्रिया जब अन्य व्यक्तियों की क्रिया से प्रभावित होती है, तब वह सामाजिक क्रिया कहलाती है। इन्हीं के शब्दों में—

"किसी क्रिया को तब सामाजिक क्रिया कहा जा सकता है, जब व्यक्ति या व्यक्तियों द्वारा लगाये गये व्यक्तिनिष्ठ अर्थ के कारण वह (क्रिया) दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार से प्रभावित हो और उसके द्वारा उसकी गतिविधियाँ निर्धारित हों।"

इसे दूसरे रूप में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। मनुष्य के जीवन में अनेक आवश्यकताएँ होती हैं। वह जो भी कार्य करता है, उसके पीछे कुछ न-कुछ उद्देश्य अवश्य होता है और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही उसे आचरण करना होता है। अतः समाज में रहकर

सामाजिक अन्तःक्रिया आवश्यक है और इन्हीं अन्त.क्रियाओ के परिणामस्वरूप सामाजिक सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं, किन्तु सामाजिक क्रिया के अन्तर्गत मानव के वे ही व्यवहार सम्मिलित किये जाते हैं, जो अर्थ पूर्ण होते हैं। इसी को मैक्स वेबर *'अर्थपूर्ण क्रिया'* कहते हैं। अर्थात् जब व्यक्ति की क्रिया को विशिष्ट अर्थ प्रदान कर दिया जाता है तो वह सामाजिक क्रिया हो जाती है। इसके अतिरिक्त क्रिया का सम्बन्ध वर्तमान, भूत अथवा भविष्य किसी काल से भी हो सकता है तथा वह बाह्य भी हो सकती है और आन्तरिक अथवा मानसिक भी हो सकती है।

❐

अध्याय-5

कॉम्ट : प्रत्यक्षवाद

(Comte : Positivism)

कॉम्ट पर सेन्ट-साइमन के विचारों का प्रभाव पड़ा था। उनके विचारों के प्रभावों का ही परिणाम है कि आपने दर्शन की एक नवीन शाखा का निर्माण किया जो आगे चलकर प्रत्यक्षवाद के रूप में विकसित हुई। कॉम्ट को समाजशास्त्र जगत में प्रत्यक्षवाद का प्रतिपादक भी कहा जाता है। समाजशास्त्र में प्रत्यक्षवाद की अवधारणा के रूप में इसे प्रमुख योगदान माना जाता है। इस प्रत्यक्षवाद के आधार पर ही आपने एक नए सामाजिक विज्ञान समाजशास्त्र विषय की स्थापना की। क्योंकि आपकी शिक्षा-दीक्षा प्राकृतिक विज्ञानों में हुई थी उसी के आधार पर आपने मानव समाज के अध्ययन के लिए प्रत्यक्षवाद की अवधारणा का विकास किया। आपका विचार था कि जिस प्रकार से प्राकृतिक विज्ञान अपने अध्ययन की सामग्री का अध्ययन वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति से करते हैं उसी प्रकार से समाज का अध्ययन भी वैज्ञानिक पद्धति से करना चाहिए। समाजशास्त्र में समाज से सम्बन्धित आनुभविक सार्वभौमिक और कारणता पर आधारित आधारभूत नियमों के निर्माण के लिए आपने प्रत्यक्षवाद पर जोर दिया। कॉम्ट ने प्रत्यक्षवाद का निर्माण परिभाषा और विशेषताओं के सम्बन्ध में जो कुछ कहा, उसकी विवेचना प्रस्तुत है—

प्रत्यक्षवाद की अवधारणा का इतिहास (History of the Concept of Positivism)—अगस्त कॉम्ट ने सामाजिक विज्ञानों को मानव प्रकृति का नियम प्रदान किया। यह नियम आपने ज्ञान के विकास के क्रम के आधार पर विकसित किया। कॉम्ट ने लिखा कि प्रत्येक विचार मानव का भौतिक विकास आदि निम्न तीन विकास के चरणों से विकसित होता है। ये तीन चरण निम्न हैं—(1) धर्मशास्त्रीय (Theological), (2) तत्वमीमांसीय (Metaphysical), और (3) प्रत्यक्षात्मक (Positivistic)।

कॉम्ट ने लिखा कि ज्ञान के विकास के प्रथम चरण में प्रत्येक घटना का वर्णन और व्याख्या अलौकिक या धार्मिक आधार पर की जाती है। घटनाओं को समझने का प्रयास भी धर्म के परिप्रेक्ष्य के अनुसार किया जाता है। इसको आपने धर्मशास्त्रीय स्तर कहा है जिसमें राजनैतिक सत्ता पुरोहितों, कर्मकाण्ड सम्पन्न करवाने वाले पंडितों आदि के हाथों में होती थी। ज्ञान के विकास के दूसरे चरण को आपने तत्वमीमांसीय या अमूर्त स्तर बताया है। इस स्तर में घटनाओं की व्याख्या एवं वर्णन अमूर्त शब्दों के आधार पर किया जाता है। इस चरण में राजनैतिक प्रभुत्व चर्च अधिकारियों एवं विधि विशेषज्ञों में निहित होता है। तीसरे और अन्तिम को कॉम्ट ने ज्ञान के विकास का चरण बताया

है। इस प्रत्यक्षवादी चरण मे घटनाओ का अध्ययन अवलोकन परीक्षण और तुलनाओ के आधार पर किया जाता है। कॉम्ट ने यह भी लिखा कि ज्ञान के विकास के इस अन्तिम और सर्वोच्च चरण—प्रत्यक्षवाद का प्रारम्भ उनके जीवन काल मे ही प्रारम्भ हुआ है। आपने यह भी सम्भावना व्यक्त की कि आने वाले समय मे प्राकृतिक विज्ञानो की तरह समाजशास्त्र भी प्रत्यक्षवाद अर्थात् वैज्ञानिक विधियो—अवलोकन, परीक्षण और तुलना आदि के आधार पर अध्ययन करेगा तथा सार्वभौमिक सिद्धान्तो का निर्माण करेगा। संक्षिप्त मे कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्षवाद का यही इतिहास है।

प्रत्यक्षवाद की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of Positivism)—प्रत्यक्षवाद एक ऐसा सिद्धान्त है जो घटनाओ से सम्बन्धित सार्वभौमिक नियमो का निर्माण करता है जिनका अवलोकन, परीक्षण और तुलना सम्भव है। प्रत्यक्षवाद का प्रयोग निम्न अर्थो मे देखा जा सकता है—

दर्शनशास्त्रियो का तार्किक प्रत्यक्षवाद सम्प्रदाय या तार्किक अनुभववादी सम्प्रदाय-प्रत्यक्षवाद का प्रयोग किसी कथन के अर्थ मे सत्यापन को ज्ञात करने की पद्धति के रूप मे करता है।

टालकर पार्सन्स ने समाजशास्त्र के उन सभी समाजशास्त्रीय सिद्धान्तो को प्रत्यक्षवाद शीर्षक के अन्तर्गत रखा है जिनमे कर्त्ता के रूप मे मानव की सभी मानवीय क्रियाओ को कर्ता के दृष्टिकोण से समझा-परखा जाता है।

कॉम्ट के अनुसार प्रत्यक्षवाद तथ्यों के मध्य गुण-सम्बन्धो का अवलोकन, परीक्षण और तुलना करने की विधि है। आपके अनुसार प्रत्यक्षवाद सामाजिक घटनाओ के अध्ययन करने की वैज्ञानिक पद्धति है। जे हेबर्मा के अनुसार प्रत्यक्षवाद तार्किकता की कार्य-प्रणाली पर आधारित सामाजिक विज्ञानो की विधि है जो सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता से सम्बन्धित है। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षवाद समाजशास्त्र मे सामाजिक घटनाओ के अध्ययन करने की ऐसी वैज्ञानिक पद्धति है जो अवलोकन, परीक्षण, वर्गीकरण और तुलना पर आधारित है। कॉम्ट ने प्रत्यक्षवाद को समाजशास्त्र मे सामाजिक घटनाओ के अध्ययन के लिए प्रतिपादित किया है जिसके द्वारा यह ज्ञात किया जा सके कि सामाजिक घटनाएँ किस प्रकार घटित होती हैं, घटना का क्रम एवं गति कैसी है, कारण प्रभाव का क्रम क्या है आदि-आदि। आपने प्रत्यक्षवाद को यथार्थ अध्ययन करने के लिए महत्त्वपूर्ण बताया है।

प्रत्यक्षवाद : अध्ययन के चरण (Positivism Steps of Study)—कॉम्ट ने प्रत्यक्षवाद की वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति के चार चरण बताए हैं—(1) समाजशास्त्रीय अध्ययन की समस्या या घटना का चयन, (2) समस्या या घटना से सम्बन्धित सम्पूर्ण कारण और उनके प्रभावो का परीक्षण, अवलोकन एव सकलन करना, (3) तीसरे चरण मे विशेषताओ एव गुण-लक्षणो के आधार पर तथ्यों का वर्गीकरण एव विश्लेषण करना, तथा (4) तथ्यो के पारस्परिक गुण सम्बन्धो के आधार पर निष्कर्ष निकालना एव नियमो का निर्माण करना।

प्रत्यक्षवाद के अभ्युपगम/मान्यताएँ (Postulates or Assumptions of Positivism)—कॉम्ट द्वारा प्रत्यक्षवाद से सम्बन्धित व्यक्त विचारों के आधार पर निम्न मान्यताओं को निश्चित किया जा सकता है—

(1) सामाजिक नियम (Social Laws)—कॉम्ट के अनुसार प्रत्यक्षवाद की ये मान्यता है कि सामाजिक घटनाएँ प्राकृतिक घटनाओं की तरह निश्चित नियमों के अनुसार घटित होती हैं। ये घटनाएँ आकस्मिक रूप से नहीं घटतीं इसलिए सामाजिक घटनाओं का भी अध्ययन प्राकृतिक घटनाओं की तरह अवलोकन, परीक्षण, वर्गीकरण और तुलना के आधार पर किया जा सकता है। प्रत्यक्षवाद के अनुसार सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करके सुनिश्चित सामाजिक सिद्धान्तों और नियमों का विकास किया जा सकता है।

(2) वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति (Methodology)—कॉम्ट के अनुसार प्रत्यक्षवाद सामाजिक घटनाओं का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धतियों के द्वारा क्रमबद्ध और व्यवस्थित रूप से करता है। प्रत्यक्षवाद के अध्ययन के चरणों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है जिसमें समस्या का चयन, अवलोकन, तथ्य संकलन, वर्गीकरण, विश्लेषण और निष्कर्ष प्रमुख चरण हैं।

(3) वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य (Scientific Perspective)—कॉम्ट ने स्पष्ट किया है कि आपके जीवनकाल से पूर्व घटनाओं के अध्ययन के परिप्रेक्ष्य धर्मशास्त्रीय एवं तत्त्व मीमांसीय क्रम में थे। वर्तमान में घटना का अध्ययन प्राकृतिक विज्ञानों की तरह वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार किया जाता है। घटना की व्याख्या में धार्मिक, अलौकिक, अधिदैविक, काल्पनिक और अमूर्त आधार नहीं हैं बल्कि 'प्रत्यक्षवादी' है जो आनुभविक, कारणीय सम्बन्धों पर आधारित है।

(4) मात्र आनुभविक अध्ययन (Only Empirical Study)—कॉम्ट की मान्यता रही है कि समाजशास्त्र में प्रत्यक्षवाद को मात्र प्रत्यक्ष घटनाओं का ही अध्ययन करना चाहिए। जिन घटनाओं का अवलोकन व परीक्षण नहीं किया जा सकता है, उनका प्रत्यक्षवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। अज्ञात और अप्रत्यक्ष अनुमानित घटनाओं का अध्ययन प्रत्यक्षवाद के द्वारा नहीं किया जाता है। इसी मान्यता के कारण आगे चलकर प्रत्यक्षवाद और अनुभववाद पर्याय हो गए।

(5) सामाजिक पुनर्निर्माण का साधन (Tool of Social Reconstruction)—कॉम्ट ने प्रत्यक्षवाद को समाज के पुनर्निर्माण के लिए महत्त्वपूर्ण बताया है। आपने यह विश्वास व्यक्त किया था कि प्रत्यक्षवाद के द्वारा समाज का वैज्ञानिक अध्ययन करके कारकों का विश्लेषण करके सामाजिक पुनर्निर्माण की योजना तैयार की जा सकती है। प्रत्यक्षवाद आपके अनुसार उपयोगितावादी है, उपयोगी एवं सुधारात्मक है।

प्रत्यक्षवाद के उद्देश्य (Aims of Positivism)—कॉम्ट ने अपने विचारों में जो भावना व्यक्त की है उसके अनुसार प्रत्यक्षवाद के निम्नलिखित उद्देश्य निश्चित किये जा सकते हैं—

आपकी मान्यता रही है कि प्रत्यक्षवाद सामाजिक विज्ञानों, भौतिकशास्त्र एवं रसायनशास्त्र के समान तार्किक, आनुभविक एवं प्रयोगसिद्ध बन सकता है। प्रत्यक्षवाद का उद्देश्य एक साधन के रूप में सामाजिक विज्ञानों को वैज्ञानिकता प्रदान कर सकता है। कॉम्ट का उद्देश्य प्रत्यक्षवाद

को प्रतिपादित करके मानव मस्तिष्क का धर्मशास्त्रीय या काल्पनिक, तत्वमीमासीय या अमूर्त बौद्धिक स्तर से स्वतन्त्र करना रहा है। आप पर फ्रांस की क्रान्ति का भी प्रभाव था जिसके कारण आपने प्रत्यक्षवाद का उद्देश्य सामाजिक पुनर्निर्माण करने का एक साधन माना।

प्रत्यक्षवाद का मूल्यांकन (Evaluation of Positivism)—प्रत्यक्षवाद के आलोचको ने इसकी कुछ प्रमुख कमियाँ निम्नलिखित गिनाई हैं। कुछ समाजशास्त्रियो ने प्रत्यक्षवाद पर आधारित समाजशास्त्र को विज्ञान मानने से असहमति व्यक्त की है। इनका मानना है कि समाजशास्त्र का उद्देश्य समाज के सम्बन्ध मे समझ पैदा करना है न कि समाज की व्याख्या करना। समाजशास्त्र का उद्देश्य सामाजिक सम्बन्धो को समझाना है न कि इनकी व्याख्या और नियमो का निर्माण करना। सामाजिक घटनाएँ प्रेरणा और उद्देश्यो पर आधारित होती हैं जबकि प्राकृतिक घटनाओं मे प्रेरणा और उद्देश्यो का अभाव होता है इसलिए समाजशास्त्र के प्रत्यक्षवाद का उपयोग करना अवैज्ञानिक और अतार्किक है। अमेरिकी समाजशास्त्री जगत के एक सम्प्रदाय—फ्रेंकफर्ट की आपत्ति है कि प्रत्यक्षवाद मात्र परिमाणात्मक एवं सख्यात्मक तथ्यो तक ही सीमित होता है और यह समाजशास्त्र की वास्तविकता एवं यथार्थता का अध्ययन नहीं करता। कॉम्ट ने समाजशास्त्र को अवलोकन योग्य घटनाओ तक ही सीमित रखकर प्रत्यक्षवाद की वकालत की है जबकि यथार्थवाद का कहना है कि समाजशास्त्र उन घटनाओ का भी अध्ययन करता है जो मात्र अवलोकन से अलग हटकर भी है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कॉम्ट ने प्रत्यक्षवाद की उपर्युक्त सीमा होते हुए भी समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य अध्ययन पद्धति और सिद्धान्तो के निर्माण मे विकास की प्रक्रिया को दिशा एव गति प्रदान की।

❑

अध्याय-6

स्पेन्सर : सामाजिक उद्विकास

(Spencer : Social Evolution)

हर्बर्ट स्पेन्सर (1820-1903) का जन्म एक मध्यम वर्गीय परिवार में हुआ था। आपने समाजशास्त्र के विकास में उल्लेखनीय योगदान किया है। समाजशास्त्रियों का कहना है कि हर्बर्ट स्पेन्सर ने ऑगस्ट कॉम्ट के समाजशास्त्रीय विकास के कार्य को आगे बढ़ाया। स्पेन्सर ने भी कॉम्ट की तरह समाजशास्त्र को एक समाज के विज्ञान के रूप में स्थापित करने में विशेष प्रयास किया। स्पेन्सर का समाजशास्त्र विज्ञान में उल्लेखनीय योगदान विकासवादी सिद्धान्त के आधार पर समाज के विकास की व्याख्या है। आप ऑगस्ट कॉम्ट के विचारों के सम्पर्क में तो आए, लेकिन आपने कॉम्ट से भिन्न समाज के अध्ययन के लिए एक अलग दृष्टिकोण अपनाया। स्पेन्सर का उल्लेखनीय योगदान सामाजिक उद्विकास है, जिसका सविस्तार वर्णन प्रस्तुत है—

सामाजिक उद्विकास (Social Evolution)—स्पेन्सर पर चार्ल्स डार्विन का विशेष प्रभाव पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप आपने सामाजिक उद्विकास के सिद्धान्त का निर्माण किया। एक प्रकार से स्पेन्सर ने चार्ल्स डार्विन की कृति 'द ओरिजिन ऑफ स्पीसीज़' (The Origin of Species) 1859 के विचारों को एक प्रकार से मानव समाज के विकास में रूपान्तरित किया है। आपने चार्ल्स डार्विन के दिए गए प्रमाण एवं प्रस्तापनाएँ, 'प्राकृतिक वरण' (Natural Selection), योग्यतम की उत्तर जीवितता (Survival of the Fittest) आदि को उपमा के रूप में प्रयुक्त करके सामाजिक उद्विकास की प्रस्थापनाएँ, विकास के क्रम, सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या की है।

स्पेन्सर अपने माता-पिता की 9 सन्तानों में सबसे बड़े थे और मात्र आप ही अपने भाई-बहिनों में वयस्क आयु प्राप्त कर पाए थे, बाकी सब आपके अन्य भाई-बहिनों की मृत्यु कम आयु में हो गई थी। वैज्ञानिकों की मान्यता है कि सम्भवतः इन्हीं परिस्थितियों के कारण आपने सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक उद्विकास में चार्ल्स डार्विन द्वारा प्रतिपादित जीव-जगत के प्रमाणों, प्राकृतिक वरण और योग्यतम की उत्तर जीविता को आधारभूत मान्यताएँ बनाया।

सामाजिक उद्विकास से सम्बन्धित रचनाएँ (Work Related to Social Evolution)—हर्बर्ट स्पेन्सर की निम्नलिखित प्रमुख रचनाएँ हैं जिनमें आपने अपने सामाजिक उद्विकास सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किए हैं—

1. सोशियल स्टेटिस्टिक्स, 1851

सक्षम होते हैं व उसी के अनुरूप लम्बी अवधि तक बने रहते हैं और विकसित होते हैं। इसके विपरीत वे समाज जो अपने पर्यावरण के साथ अनुकूलन नहीं कर पाते हैं व लुप्त हो जाते हैं। स्पेन्सर ने लिखा है कि मानव समाज जैविक अवस्थाओं की तरह निश्चित चरणों में आन्तरिक विभेदीकरण एवं समीकरण की प्रक्रिया द्वारा पर्यावरण से अनुकूलन करते हैं।

मानव समाज अपने उद्विकासीय क्रम में सरल एवं समानता की स्थिति से जटिल एवं विषमता रूपी औद्योगिक समाज की ओर विकसित होते हैं।

निकोलस एस. टिमाशेफ ने अपनी कृति 'सोशियोलोजिकल थ्योरी : इट्स नेचर एण्ड ग्रोथ' में लिखा है कि स्पेन्सर ने अपनी उद्विकासीय योजना अपनी कृति फर्स्ट प्रिंसिपल और पुनः प्रिंसिपल सोशियालाजी में वर्णित की है। समाज के उद्विकास की गति सरल समाज से जटिल समाज में अनेक चरणों से होकर होती है। कुछ सरल समाजों के सम्मिश्रण से जटिल समाजों का निर्माण होता है। पुनः इन जटिल समाजों के सम्मिश्रण से दोहरे जटिल समाजों की उत्पत्ति होती है और इन दोहरे समाजिक सम्मिश्रण से तिहरे समाजों का सम्मिश्रण होता है। इन्होंने उदाहरण देते हुए बताया कि सरल समाज में अनेक परिवार होते हैं। परिवारों के सम्मिश्रण समाज में क्लान या गोत्र होते हैं। ये क्लान या गोत्र मिलकर एक विशिष्ट जन-जाति बन जाते हैं तथा तिहरे सम्मिश्रण समाज जो हमारे जैसे समाज हैं, इनमें जनजातियाँ सम्मिश्रित हो जाती हैं और राष्ट्र और राज्य का निर्माण करती हैं। स्पेन्सर ने अपनी उपर्युक्त वर्णित कृतियों में लिखा है कि आकार के बढ़ने से संरचना की भी वृद्धि होती है और उसके साथ-साथ सदस्यों के व्यवसायों एवं शक्ति में भी भिन्नता आती है और इन्हीं के साथ-साथ कार्यों में भी भिन्नता आती है।

स्पेंसर ने सामाजिक उद्विकास की एक दूसरी रूपावली और दी है, जिसके अनुसार समाज के विकास का क्रम युद्धप्रिय समाज से औद्योगिक समाज के क्रम में होता है। युद्धप्रिय ,समाज में सहयोग का अनिवार्य रूप से प्रभुत्व होता है तथा औद्योगिक समाज में सहयोग ऐच्छिक होता है।

इस प्रकार से स्पेन्सर ने चार्ल्स डार्विन के जीवन जगत के उद्विकासीय सिद्धान्त अवधारणाओं, प्रमाणों और रूपावलियों के आधार पर समाजशास्त्र के सामाजिक विकास के क्रम प्रमाण, प्रस्थापनाएँ एवं रूपावलियाँ समानान्तर रूप से प्रस्तुत की हैं। स्पेन्सर को अपनी रचनाओं के आधार पर विक्टोरिया के समय का 'समाजशास्त्र का मसीहा' बताया जाता है। स्पेन्सर ने डार्विन के अनुसार समाजशास्त्र में सामाजिक उद्विकास का सिद्धान्त दिया है, इस कारण इन्हें 'सामाजिक डार्विनवाद का प्रवर्तक' माना जाता है।

□

अध्याय-7

परेटो : अभिजन-परिभ्रमण

(Pareto : Circulation of Elites)

समाजशास्त्र के विकास मे विलफ्रेडो परेटो (1848 1923) का योगदान उल्लेखनीय है। आप इटली के एक प्रसिद्ध समाजशास्त्री हैं। परेटो का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण वैज्ञानिक और आनुभविक रहा है। आपकी प्रमुख समाजशास्त्रीय पुस्तक 'द ट्रीटाइज ऑन जनरल सोशियोलोजी' 1916 मे लिखी थी। इस रचना का अँग्रेजी में अनुवाद 1935 मे 'माइड एण्ड सोसाइटी' (4 वाल्यूम) के शीर्षक के रूप मे हुआ। 'माइण्ड एण्ड सोसाइटी' मे आपने 'अभिजन परिभ्रमण' के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। अभिजन परिभ्रमण मे आपने अभिजात वर्ग और गैर अभिजात वर्ग को 'शेरो' और 'लोमड़ियो' के नामो से वर्णित किया है। शेरो और लोमडियों की अवधारणाओ को आपने 'मैकियावेली' से लिया है। परेटो ने अभिजन-परिभ्रमण के सिद्धान्त के द्वारा सामाजिक परिवर्तन की भी व्याख्या की है। परेटो समाजशास्त्र जगत मे अभिजनो के विश्लेषण और अभिजन परिभ्रमण की अवधारणा से पहचाने जाते हैं। आपने अभिजन वर्ग की परिभाषा, विशेषताएँ, अवशिष्ट वर्ग के प्रकार आदि की व्याख्याएँ की हैं जो निम्नलिखित हैं—

1. अभिजात वर्ग की परिभाषा (Definition of Elite Class)—परेटो के अनुसार अभिजात वर्ग ऐसे लोगो का वर्ग है जिनका कार्य अपने क्षेत्र मे सर्वोच्च स्थान रखता है। ऐसा माना जाता है कि परेटो पहले समाजशास्त्री हैं, जिन्होंने अभिजात (Elite) अवधारणा का प्रयोग समाजशास्त्र मे सर्वप्रथम किया है। आपने लिखा है कि अभिजात समाज के ऐसे थोडे गिने चुने श्रेष्ठ व्यक्ति होते हैं जो बहुसख्यक व्यक्तियो पर शासन करते हैं। आपने 'अभिजन' को समाज के सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान और योग्य व्यक्ति बताया है।

परेटो ने अभिजनो के सम्बन्ध मे निम्न तथ्य भी प्रस्तुत किया है। आपका कहना है कि शासन से सम्बन्धित अभिजनो को दो श्रेणियो मे बाँटा जा सकता है—

अभिजनो के प्रकार *(Types of Elites)*—परेटो ने शासकीय अभिजन एव गैर शासकीय अभिजन के प्रकारों पर प्रकाश डाला है। आपने लिखा है कि शासकीय अभिजन वे व्यक्ति होते हैं जो सरकार मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इनकी यह भूमिका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार की हो सकती है। दूसरे शेष अभिजन वर्ग मे गैर शासकीय अभिजनो को आपने रखा। परेटो ने अभिजनो के वर्गीकरण और गुण तो बताए हैं लेकिन अभिजन वर्ग के लोगो मे यह अन्तर स्पष्ट

नहीं करते हैं कि अभिजनो को प्रतिष्ठा विरासत में मिली है, धन के कारण मिली है अथवा अच्छे लोगो के साथ सम्पर्क के परिणामस्वरूप मिली है। आपने प्रदत्त और अर्जित प्रस्थिति के आधार पर अभिजन वर्ग के प्रकार के निर्माण पर प्रकाश नहीं डाला।

परेटो ने प्रदत्त प्रस्थिति के सम्बन्ध मे इतना अवश्य लिखा है कि जो अभिजन प्रदत्त प्रस्थिति के अनुसार होते हैं और उनकी उपलब्धियाँ उनके स्वय के प्रयास से प्राप्त नहीं होती हैं वे समाज के लिए पतनकारी होते हैं।

अभिजन-परिभ्रमण की व्याख्या (Explanation of Circulation of Elite)—परेटो ने अभिजन की परिभाषा देने के बाद अभिजन-परिभ्रमण की व्याख्या की है। आपकी मान्यता है कि प्रत्येक समाज मे व प्रत्येक काल में साधारणतया दो प्रमुख वर्ग होते हैं—एक अभिजन वर्ग (उच्च वर्ग) एवं दूसरा अभिजनेतर वर्ग (निम्न वर्ग)। अभिजन वर्ग के पास समाज की शक्ति, सत्ता एव प्रशासन होता है। ये समाज के शासक भी होते हैं। आपने यह भी स्पष्ट किया है कि यह अभिजन वर्ग स्थाई नहीं होता है। इस अभिजन वर्ग को आपने 'शेर' की संज्ञा दी है। जब ये शेर या अभिजन वर्ग आलसी एव निष्क्रिय हो जाता है तो इसके स्थान को प्राप्त करने की ताक में इन्तजार कर रहे चालाक, होशियार अभिजनेतर वर्ग, जिसको आपने लोमडी कहा है, उनका स्थान ग्रहण कर लेते हैं।

परेटो के अनुसार अभिजन-परिभ्रमण—अभिजन वर्ग और अभिजनेतर वर्ग की एक चक्रीय प्रक्रिया है। अभिजात वर्ग अपनी निष्क्रियता के कारण निम्न वर्ग में आ जाता है और निम्न वर्ग के चतुर, बुद्धिमान एवं कुशल व्यक्ति उनका स्थान ले लेते हैं। इस चक्रीय प्रक्रिया को परेटो ने 'अभिजन-परिभ्रमण' कहा है। आपने अपनी कृति में यह भी स्पष्ट किया है कि सभी समाजों में यह प्रक्रिया अवश्यम्भावी है लेकिन सभी समाजों मे यह प्रक्रिया भिन्न-भिन्न गति और तीव्रता के साथ चलती है। जिस प्रकार से कार्लमार्क्स ने समाजो का इतिहास 'वर्ग-संघर्ष का इतिहास' बताया है, उसी प्रकार से परेटो ने भी समाजों का इतिहास 'कुलीन तत्रों या कब्रिस्तान' बताया है। अभिजात-परिभ्रमण को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए इन वर्गों की विशेषताओं का अध्ययन श्रेयस्कर रहेगा—

(1) अभिजात वर्ग—'शेर' की विशेषताएँ (Characteristics of Elite-Class-'Lion')—परेटो ने अभिजात वर्ग की प्रमुख विशेषताएँ निम्न बताई हैं—अभिजात वर्ग के लोग रूढिवादी विचारधारा के होते हैं व अनुदार होते हैं। ये सामाजिक जड़ता और स्थायित्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस वर्ग के लोग अपने परिवार जाति, नगर, राष्ट्र आदि के प्रति बहुत अधिक निष्ठावान होते हैं। इनके व्यवहार में देशभक्ति और धार्मिक उत्साह भी देखा जा सकता है। ये लोग परिस्थितियों के अनुसार निस्संकोच कठोर कदम उठाते हैं।

(2) अभिजनेतर-वर्ग—'लोमड़ी' की विशेषताएँ (Characteristics of Non Elite-Class-'Fox')—अभिजन-परिभ्रमण में दूसरे निम्न वर्ग जो अभिजनों का स्थान ग्रहण करते हैं, की विशेषताएँ परेटो ने निम्नलिखित बताई हैं। इस निम्न वर्ग या लोमड़ी वर्ग की विशेषता बताते हुए आपने लिखा है कि उनमें संयोजन की विशेषता होती है। इस वर्ग के लोग पद्धति-निर्माण

के कार्य मे चतुर होते हैं। वृहद स्तर पर वित्तीय जोड़-तोड बिठाने मे अग्रणी होते हैं। इन्हीं गुणो के कारण 'मैकियावेली' और उनका अनुकरण करते हुए परेटो ने इन्हे 'लोमडी' की सज्ञा दी है। इनमें विशिष्ट लक्षणो को स्पष्ट करते हुए परेटो ने लिखा है कि ये लोग समाज मे परिवर्तन की प्रक्रिया को प्रारम्भ करने मे अग्रणी होते हैं। समाज मे परीक्षण करना इनका स्वभाव होता है। आपने इनमे कुछ नकारात्मक लक्षणो पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, कि ये लोग अस्थिर प्रवृत्ति के और वफादार हैं और निष्ठावान नहीं होते हैं।

सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त (Theory of Social Change)—परेटो की मान्यता है कि अभिजन-परिभ्रमण की प्रक्रिया के द्वारा समाज मे परिवर्तन होता है। अभिजन वर्ग के निष्क्रिय, आलसी और अयोग्य सदस्य अभिजनेतर या निम्न वर्ग मे चले जाते हैं। इसके विपरीत निम्न या अभिजनेतर वर्ग के चतुर साहसी, वित्तीय, जोड़-तोड बिठाने वाले चालाक व्यक्ति उनका स्थान ले लेते हैं। इस प्रकार से परेटो ने कहा कि शेरो का लोमडियाँ बन जाना और लोमडियो का शेर बन जाना अर्थात् अभिजन वर्ग के लोगो का निम्न वर्ग मे चले जाना और निम्न वर्ग के लोगो का अभिजन वर्ग में चले जाना—समाज मे चक्रीय परिवर्तन की प्रक्रिया को सक्रिय करता है। परेटो के अनुसार शेरों से लोमड़ियों और लोमडियो से शेरो की सामाजिक प्रक्रिया सभी समाजों में चलती रहती है। ये अभिजन-परिभ्रमण की प्रक्रिया एक समाज को एक स्थिति से दूसरी स्थिति में चक्र के रूप में परिवर्तित करती रहती है और सक्रिय बनाए रखती है।

सार रूप में समाजशास्त्र के विकास में परेटो का यह एक महत्त्वपूर्ण योगदान है।

❑

अध्याय-8

इमाइल दुर्खीम : श्रम-विभाजन

(Emile Durkheim : Division of Labour)

'दा डिविजन ऑफ लेबर इन सोसायटी' दुर्खीम की विश्वविख्यात प्रथम कृति है। इसमें आपने श्रम के विभाजन से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं की विवेचना की है। सर्वप्रथम यह ग्रन्थ फ्रान्सीसी भाषा में 1893 में 'De la division du travail social' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। इसका अंग्रेजी में अनुवाद 'The Division of Labour in Society' शीर्षक में हुआ है। यह विनिबन्ध दुर्खीम ने अपनी डॉक्टरेट की उपाधि के लिए लिखा था। दुर्खीम ने इस पुस्तक में श्रम-विभाजन से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्रीय अवधारणाएँ, प्रारूप, सिद्धान्त, वर्गीकरण आदि प्रतिपादित किए हैं। इसमें प्रस्तुत विचारों तथा निष्कर्षों का प्रभाव आपकी बाद की कृतियों तथा विचारों में भी देखा जा सकता है। रेमण्ड ऐरन का मत है कि दुर्खीम के समाजशास्त्रीय चिन्तन में प्रमुख केन्द्र श्रम-विभाजन की समस्या ही रहा है। 'समाज में श्रम-विभाजन' विनिबन्ध में श्रम-विभाजन से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों की विवेचना 17 अध्यायों में की गई है। इस पुस्तक की पाठ योजना निम्नानुसार है—

(I) प्रस्तावना (Introduction)—सर्वप्रथम दुर्खीम ने 'प्रस्तावना' शीर्षक के अन्तर्गत समस्या की व्याख्या की है। आपने समाज में श्रम-विभाजन के विकास का संक्षिप्त इतिहास और समस्या का वर्णन किया है। पुस्तक की पाठ योजना भी दी है।

(II) खण्ड प्रथम—श्रम-विभाजन का प्रकार्य (The Function of the Division of Labour)—इस प्रथम खण्ड में सात अध्याय हैं। इन अध्यायों में आपने कार्यों को निर्धारित करने की विधि, यान्त्रिक एकता, जैविक एकता और जैविक एकता का विकास आदि का वर्णन किया है। जैविक एकता, संविदात्मक एकता की व्याख्या की है। इसमें आपने मुख्य रूप से सामाजिक एकता और श्रम-विभाजन के सम्बन्धों की व्याख्या की है।

(III) खण्ड द्वितीय—कारण एवं दशाएँ (Causes and Conditions)—इस खण्ड के पाँच अध्यायों में आपने श्रम-विभाजन और सुख, श्रम-विभाजन के कारण, द्वैतीयक कारक, वंशानुक्रमण और परिणाम आदि का वर्णन और व्याख्या की है।

(IV) खण्ड तृतीय—असामान्य स्वरूप (Abnormal Forms)—पुस्तक के तीसरे खण्ड में कुल तीन अध्याय हैं। जिनमें आपने श्रम-विभाजन के कुछ असामान्य स्वरूपों की विवेचना की है।

(V) निष्कर्ष (Conclusion)—इस कृति के अन्तिम भाग मे, आपने प्रस्तावना मे जो व्यावहारिक समस्याएँ उठाई थीं उनका हल प्रस्तुत किया है। आपने अपने अध्ययन के निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। दुर्खीम ने प्रस्तावना मे लिखा है कि हमे श्रम विभाजन का अध्ययन वस्तुपरक तथ्य मानकर करना चाहिए। इनका अवलोकन तथा तुलना करनी चाहिए तथा हम देखेगे कि इन अवलोकनो के परिणाम उन अर्थो से भिन्न मिलेगे जो हमको बताए गए हैं। अब हम दुर्खीम के दृष्टिकोण से श्रम विभाजन को समझने के लिए उनके द्वारा दिए गए विभिन्न तथ्यो, जानकारियो, व्याख्याओ, निष्कर्षो आदि का अध्ययन करगे।

श्रम-विभाजन

(The Division of Labour)

दुर्खीम ने सर्वप्रथम प्रकार्यवादी दृष्टिकोण से श्रम विभाजन के प्रकार्यो पर प्रकाश डाला है। आपने श्रम विभाजन को सामाजिक तथ्य बताया है। पुस्तक के प्रथम खण्ड मे श्रम विभाजन के प्रकार्य, प्रकार्य की समाजशास्त्रीय परिभाषा, श्रम-विभाजन का सभ्यता के साथ सम्बन्ध, नवीन समूहो का निर्माण, सामाजिक एकता तथा इसके प्रकार—यात्रिक एव सावयवी एकता तथा इनके लक्षणो, भिन्नताओ आदि पर प्रकाश डाल है। इस खण्ड के अन्त मे श्रम विभाजन के विभिन्न प्रभावो तथा परिणामो की भी विवेचना की है।

प्रकार्य की समाजशास्त्रीय परिभाषा (Sociological Definition of Function)—दुर्खीम ने 'प्रकार्य' शब्द के निम्न दो अर्थ स्पष्ट किए है। (1) प्रकार्य का अर्थ **गति-व्यवस्था** से है अर्थात् क्रिया से है, और (2) प्रकार्य का दूसरा अर्थ क्रिया के द्वारा पूर्ण होने वाली आवश्यकता से है। इस पुस्तक मे आपने प्रकार्य की अवधारणा का दूसरा अर्थ लगाया है। इन्होने प्रकार्य को सामान्य अर्थ अर्थात् प्रभाव या परिणाम के रूप मे प्रयुक्त नहीं किया है। आपने लिखा है, "हम इस अवधारणा का प्रयोग दूसरे अर्थ मे करेगे।" आपके अनुसार श्रम-विभाजन के प्रकार्य से अर्थ है कि **श्रम-विभाजन की प्रक्रिया समाज के लिए किन-किन आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।** दुर्खीम ने लिखा है कि, जीव मे पाचन क्रिया, श्वसन क्रिया आदि शरीर की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए कार्य करती हैं। इसी प्रकार हम श्रम-विभाजन के कार्यो को समाज की आवश्यकताओ की पूर्ति के सन्दर्भ मे अध्ययन करेगे। आपने 'प्रकार्य' शब्द का यही अर्थ लगाया है।

श्रम-विभाजन एवं नैतिकता (Division of Labour and Morality)—दुर्खीम ने श्रम-विभाजन और नैतिकता मे परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध बताया है। आप समाज को एक नैतिक वास्तविकता मानते हैं। समाज की व्यवस्था, एकता, निरन्तरता आदि के लिए नैतिक व्यवस्था को अत्यावश्यक मानते हैं। नैतिकता के अभाव मे समाज विघटित हो जाता है। समाज का अस्तित्व नैतिक व्यवस्था पर टिका होता है। दुर्खीम का मत है कि सभी सामाजिक तथ्यो का मौलिक प्रकार्य नैतिक होना चाहिए।

दुर्खीम ने लिखा है कि नैतिकता व्यवहार के वे नियम हैं जो मानव के आचरण पर अनिवार्य रूप से लागू होते हैं और जिनके साथ समूह की अभिमति जुडी हुई होती है। आपका मत है कि नैतिक तथ्य मानव के आचरण से सम्बन्धित होते हैं। क्योकि श्रम-विभाजन की प्रकृति

नैतिक है इसी कारण श्रम विभाजन का प्रकार्य समाज में नैतिक तथ्यों को उत्पन्न करना तथा नैतिक कार्यों को सम्पन्न करना है। आपने लिखा है, "**नैतिकता न्यून अपरिहार्य है, अत्यावश्यक है, प्रतिदिन का भोजन है, जिसके बिना समाज बना नहीं रह सकता है।**

सभ्यता का विकास— श्रम-विभाजन का प्रकार्य नहीं—

दुर्खीम का मत है कि श्रम विभाजन का प्रकार्य सभ्यता का विकास करना नहीं है। आपका कहना है कि श्रम विभाजन सभ्यता के विकास का स्रोत है। श्रम विभाजन का अर्थ प्रकार्य के रूप में लगाना त्रुटिपूर्ण है। अन्य विद्वान् यह मानते हैं कि श्रम-विभाजन से सभ्यता का विकास होता है। ये कहते हैं कि श्रम विभाजन से समाज में विशेषीकरण आता है। इससे उत्पादन शक्ति में विकास तथा वृद्धि होती है। भौतिक विकास होता है। सुख सुविधाओं की वृद्धि होती है। इसके साथ साथ बौद्धिक प्रगति तथा ज्ञान का प्रसार होता है। दुर्खीम का मत है कि बौद्धिक तथा भौतिक प्रगति आदि श्रम विभाजन के स्रोत से उत्पन्न होते हैं। ये इस प्रक्रिया के परिणाम हैं। आपका कहना है कि न तो स्रोत का अर्थ ही प्रक्रिया है और न ही परिणाम का अर्थ प्रक्रिया। अतः श्रम विभाजन का प्रकार्य सभ्यता का विकास करना नहीं है।

सभ्यता के विकास के प्रकार (Types of the Development of the Civilization)—इमाइल दुर्खीम ने सभ्यता के निम्न तीन प्रकार के विकास बताए हैं—

1. औद्योगिक या आर्थिक विकास,
2. कलात्मक विकास और
3. वैज्ञानिक विकास।

1. औद्योगिक या आर्थिक विकास (Industrial or Economic Development)— अधिकतर समाजशास्त्री सभ्यता का प्रमुख लक्षण आर्थिक विकास को मानते हैं। मोटर, रेल, तार तथा अन्य मशीनें आजकल बहुत उपयोगी वस्तुएँ मानी जाती हैं। दुर्खीम इसे नैतिकता का तत्त्व नहीं मानते हैं। आपका मत है कि आर्थिक तथा औद्योगिक विकास से बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्र विकसित होते हैं। जहाँ आत्म-हत्याएँ और अपराधों में वृद्धि हो जाती है। यहाँ नैतिक उन्नति नहीं होती है।

2. कलात्मक विकास (Artistic Development)—कला का विकास सभ्यता से सम्बन्धित अवश्य है परन्तु कला से नैतिकता का विकास नहीं होता है। दुर्खीम के अनुसार कला विलासिता तथा उद्देश्यहीन श्रम है जो रागात्मक प्रवृत्तियों को विकसित करती हैं। आप कला को नैतिक तथ्य न मानकर नैतिक संकट मानते हैं। आप मानते हैं कि कलाकृतियों के द्वारा नैतिक मूल्यों को अभिव्यक्त किया जा सकता है लेकिन कला स्वयं नैतिक तथ्य नहीं हो सकती है। आप कला का विकास उत्तेजक विकास का पर्याय ही मानते हैं।

3. वैज्ञानिक विकास (Scientific Development)—समाज में प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य है कि वह ज्ञान और बुद्धि का विकास करे तथा वैज्ञानिक सत्य की खोज करे। इस अर्थ के फलस्वरूप दुर्खीम विज्ञान को नैतिकता का तत्त्व मानते हैं। लेकिन इसे भी केवल आंशिक मानते हैं। दुर्खीम सभ्यता के इन तीनों प्रकारों—औद्योगिक या आर्थिक, कलात्मक और वैज्ञानिक विकास

को नैतिक विकास नहीं मानते हैं, जबकि नैतिकता को समाज के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण मानते हैं जो आपके निम्न कथन से स्पष्ट होता है—

"नैतिकता सबसे न्यून अपरिहार्य, अत्यन्त आवश्यक है, दैनिक भोजन है जिसके बिना समाज बना नहीं रह सकता है।"

श्रम-विभाजन के प्रकार्य

(Functions of the Division of Labour)

दुर्खीम ने श्रम विभाजन के दो महत्त्वपूर्ण प्रकार्य बताए हैं जो समाज की निरन्तरता और अस्तित्व के लिए अत्यावश्यक हैं—(1) समाज में नवीन समूहों का निर्माण करना तथा (2) समूहों में सामाजिक एकता पैदा करना।

1. नवीन समूहों का निर्माण (Creation of New Groups)—दुर्खीम का मत है कि श्रम-विभाजन से समाज में अनेक नए-नए समूहों का निर्माण होता है। आपका कहना है कि समाज में जनसंख्या की वृद्धि होती है। सर्वप्रथम जनसंख्या की वृद्धि से श्रम का विभाजन होता है। इससे विशेषीकरण आता है। विशेषीकरण समाज में नए-नए व्यावसायिक तथा विशेषीकृत समूहों का निर्माण करता है। समाज परिवर्तनशील है। उसमें परिवर्तन होते हैं। इससे आवश्यकताओं में वृद्धि होती है। इनको पूरा करने के लिए नए-नए समूह जन्म लेते हैं। समाज में जनसंख्या की वृद्धि से नए-नए समूहों का निर्माण होना अवश्यम्भावी है। श्रम-विभाजन ही इन समूहों में एकता पैदा करता है।

2. नवीन समूहों में एकता पैदा करना (To Create Unity in New Groups)—दुर्खीम श्रम-विभाजन का दूसरा और महत्त्वपूर्ण कार्य नवीन समूहों में एकता पैदा करना मानते हैं। आपका मत है कि नए-नए समूहों में परस्पर एकता का होना समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। श्रम-विभाजन ही नए समूहों के निर्माण के साथ-साथ परस्पर एकता पैदा करता है जो समाज की व्यवस्था तथा सन्तुलन को बनाए रखता है। दुर्खीम के अनुसार इन विभिन्न नवीन समूहों में परस्पर एकता एक नैतिक आवश्यकता है जो श्रम-विभाजन द्वारा पूर्ण की जाती है।

श्रम-विभाजन का महत्त्वपूर्ण कार्य नैतिक एकता उत्पन्न करना है। आपका कहना है कि विभिन्न नवीन समूह विशिष्ट कार्य करते हैं। वे अन्य कार्यों के लिए अन्य विशिष्ट समूहों पर निर्भर हो जाते हैं। इससे समूहों में परस्पर निर्भरता बढ़ जाती है। बाध्य होकर उन्हें परस्पर सहयोग करना पड़ता है। यह सहयोग सामाजिक समूहों में परस्पर नैतिक एकता पैदा करता है। दुर्खीम के अनुसार श्रम-विभाजन ही नवीन समूहों का निर्माण तथा उनमें एकता पैदा करने का कार्य करता है।

दुर्खीम ने लिखा है कि समानता और भिन्नता दोनों ही आकर्षण के कारण होते हैं। ये कारण श्रम-विभाजन की प्रक्रिया के द्वारा एकता पैदा करते हैं। आपने लिखा है कि हम उनसे मित्रता रखते हैं जो हमसे समानता रखते हैं तथा उनसे भी जो हमारे से भिन्न हैं। आपने लिखा है, **"एक से परों वाली चिड़ियाँ एक झुण्ड बना कर रहती हैं।" "चोर-चोर मौसेरे भाई',**

'चोर का साथी गिरहकट', Like seeks like' आदि उदाहरण इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि समानता में एकता होती है। दुर्खीम ने असमानता से भी एकता पैदा होने के उदाहरण दिये हैं। स्त्री पुरुष में प्रेम तथा विवाह जो वैवाहिक एकता का उदाहरण है जिसका कारण लिंग भेद पर आधारित श्रम-विभाजन है। आपके अनुसार श्रम विभाजन का उद्देश्य समाज के कार्यों को व्यवस्थित करके एकता पैदा करना तथा उसे बनाए रखना है।

कानून—एकता का मापन

(Law—Measurement of Solidarity)

दुर्खीम ने लिखा है कि सामाजिक एकता पूर्णरूप से नैतिक घटना है जिसका प्रत्यक्ष एवं सुनिश्चित रूप से न तो अवलोकन ही कर सकते हैं और न ही माप सकते हैं। लेकिन सामाजिक एकता का मापन श्रम-विभाजन के प्रकार तथा इससे सम्बन्धित कानून व्यवस्था के प्रकार एवं इनकी तुलना के द्वारा किया जा सकता है। हमें नैतिक अमूर्त तथ्यों की कुछ बाहरी प्रत्यक्ष विशेषताओं को आधार के रूप में लेना होगा। दुर्खीम ने लिखा है, ये दिखाई देने वाले प्रतीक कानून हैं। आपने सामाजिक एकता को मापने के लिए प्रत्यक्ष प्रतीक के रूप में वैधानिक कानून का चयन किया है। वैधानिक कानून सम्बन्धित समाज के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को व्यक्त करते हैं। दुर्खीम ने समीकरण दिया है कि सदस्यों में जितने अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध होंगे उनके समूह में उतनी ही अधिक एकता होगी। आपने ये भी लिखा है कि कानूनी-व्यवस्था का रूप सामाजिक एकता को व्यक्त करता है। कानून बाहरी लक्षण है जिसको मापा जा सकता है। आपके अनुसार कानून और सामाजिक एकता सीधे सम्बन्धित हैं। किसी समाज में जिस प्रकार की सामाजिक एकता होगी उसी प्रकार की उस समाज में कानून व्यवस्था भी होगी। दुर्खीम ने कानून का वर्गीकरण किया है। साथ-साथ सामाजिक एकता का भी वर्गीकरण किया है। इनमें परस्पर सह-सम्बन्ध का अध्ययन करके स्पष्ट किया है कि जितने प्रकार की कानून व्यवस्था होती है उतने ही सामाजिक एकता के प्रकार भी होते हैं। समाज के कानून की माप ही समाज की एकता की माप है।

दुर्खीम ने कानून के प्रमुख दो प्रकार—(1) दमनकारी कानून तथा (2) प्रतिकारी कानून बताए हैं। कानून के प्रकारों से सम्बन्धित क्रमशः एकता के भी दो प्रकार बताए हैं—(1) यांत्रिक एकता और (2) सावयवी एकता। ये परस्पर सम्बन्धित हैं। इन्हें अग्र चित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।
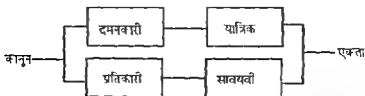
1. दमनकारी कानून एवं यांत्रिक एकता (Repressive Law and Mechanical Solidarity)—दुर्खीम ने लिखा है कि जिस समाज में दमनकारी कानून होते हैं वहाँ पर सामाजिक

एकता का प्रकार यांत्रिक होता है। इनमें आपने निम्न परस्पर सम्बन्ध बताया है। आपका कहना है कि दमनकारी कानून वे सार्वजनिक कानून होते हैं जो व्यक्ति एवं समाज के पारस्परिक सम्बन्धों को व्यवस्थित रखते हैं। इस कानून व्यवस्था मे समाज तता समूह के हितों का विशेष ध्यान रखा जाता है। दुर्खीम ने दमनकारी कानून के दो प्रकार बताए हैं। **(i) दण्डकारी कानून** (Penal law) का कार्य समाज मे कष्ट देने, नुकसान या हानि पहुँचाने, हत्या करने तथा स्वतन्त्रता आदि का हनन करना है। ये कानून यांत्रिक एकता वाले समाजों मे पाये जाते हैं। **(ii) व्याप्त कानून** (Diffused law) नैतिकता के आधार पर सम्पूर्ण समाज मे व्याप्त होते हैं।

दुर्खीम ने कहा है कि समाज मे जैसी कानून व्यवस्था होती है उसी के अनुसार समाज मे सामाजिक एकता का प्रकार भी होता है। इसी नियम के अनुसार आपने बताया कि जिस समाज मे दमनकारी कानून व्यवस्था होती है उन समाजो मे सामाजिक एकता का प्रकार यांत्रिक एकता का होता है। दमनकारी कानून व्यवस्था वाले समाजो की जीवन शैली विचारो, विश्वासो आदि मे समानता मिलती है। ऐसे समाजो में सामुदायिक सम्पत्ति, परम्परा का प्रभुत्व तथा जनमत मे एकरूपता आदि मिलती है। ये सभी लक्षण दमनकारी कानून तथा यांत्रिक एकता को प्रकट करते है।

2. प्रतिकारी कानून एवं सावयवी एकता (Restitutive Law and Organic Solidarity)—दुर्खीम ने कानून का दूसरा प्रकार प्रतिकारी कानून बताया है। प्रतिकारी कानून वह कानून है जो समाज के सदस्यों के सम्बन्धो मे उत्पन्न असन्तुलन को सामान्य स्थिति प्रदान करता है। यह सामूहिक हित की रक्षा करने के लिए नहीं होता हैं बल्कि यह स्थिति को सामान्य रखने का प्रयास करता है। इस प्रतिकारी कानून के कई उप प्रकार हैं, जैसे—दीवानी कानून, व्यावसायिक कानून, संवैधानिक कानून, प्रशासनिक कानून आदि। प्रतिकारी कानून जिस समाज मे होता है उन समाजो मे सावयवी एकता होती है। प्रतिकारी कानून श्रम-विभाजन और विभिन्नताओं से सम्बन्धित होता है। इस प्रकार श्रम विभाजन सावयवी एकता का स्रोत है। दुर्खीम ने दोनो प्रकार के कानूनो के साथ-साथ यांत्रिक एकता एवं सावयवी एकता की विवेचना की है जो अग्रलिखित है।

यांत्रिक-एकता
(Mechanical Solidarity)

दुर्खीम ने प्रथम प्रकार की एकता को **'यांत्रिक एकता'** कहा है जो प्राचीन, सरल, सादे, छोटे, अविकसित, आदिम और पिछड़े समाजो में पाई जाती है। इन समाजों के सदस्यो में सभी क्षेत्रो मे समानताएँ पाई जाती हैं जो सामाजिक एकता का आधार होती हैं। ये समाज आकार मे छोटे होते हैं। अर्थात् इनकी जनसंख्या एव जनसख्या का घनत्व बहुत कम होता है। ये छोटे-से भौगोलिक क्षेत्र में बसे होते हैं। इनकी आवश्यकताएँ बहुत सीमित होती हैं तथा एक जैसी होती हैं। व्यक्ति का व्यक्तित्व स्वतन्त्र नहीं होता है। वह समूह के व्यक्तित्व मे घुल मिल जाते हैं। इनमें एकता का कारण सभी क्षेत्रो मे एकरूपता का होना है। इसलिए दुर्खीम ने एकरूपता पर आधारित

एकता को यांत्रिक एकता बताया है। इन समाजों में श्रम के विभाजन के अभाव अथवा न्यूनतम या अल्प होने के कारण विभिन्न क्षेत्रों में एकरूपता होती है।

यांत्रिक एकता की विशेषताएँ (Characteristics of Mechanical Solidarity)—दुर्खीम ने श्रम के विभाजन के अभाव अथवा अल्पता के कारण इन आदिम समाजों की यांत्रिक एकता की जो विशेषताएँ बताई हैं उन्हें निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित रूप में देखा जा सकता है।

1. *मानव व्यवहार और मनोविज्ञान (Human Behaviour and Psychology)*—यांत्रिक एकता वाले आदिम समाजों के व्यक्तियों की मानसिक, नैतिक और सामाजिक घटनाओं के क्षेत्रों में एकरूपता व्याप्त होती है। उनके विश्वास, धारणाएँ, मत, तर्क, व्यवहार आदि-आदि सब कुछ एक जैसे होते हैं। दुर्खीम ने लिखा है कि इन यांत्रिक एकता वाले समाजों के व्यक्तियों में भिन्नता केवल आनुवंशिकता के कारण होती है। इन आदिम समाजों में परम्परा का प्रभुत्व होता है। वैयक्तिकता और व्यक्तिवाद का पूर्णतः अभाव पाया जाता है।

2. कानून, नैतिकता और सामाजिक नियन्त्रण (Law Morality and Social Control)—दुर्खीम का मत है कि यांत्रिक एकता का आधार सामाजिक अन्तर्विवेक और सामाजिक चेतना की एकरूपता होती है। यह शक्तिशाली, सर्वसम्मत तथा अव्यक्तिवादी होती है। सामाजिक नियन्त्रण का उद्देश्य समूह के नैतिक मूल्यों तथा नैतिक अन्तर्विवेक को पुनः स्थापित करना होता है। न्याय का उद्देश्य भी यही होता है तथा यह अपराधी द्वारा क्षतिग्रस्त की क्षति पूर्ति नहीं करवाता है।

3. एकात्मता और सामाजिक बन्धन (Solidarity and Social Ties)—इन समाजों में जनसंख्या के अल्प होने तथा श्रम-विभाजन की अल्पता के फलस्वरूप इनमें यांत्रिक एकता मिलती है। यह व्यक्तियों की सादृश्यता या सजातीयता पर आधारित होती है। बन्धन जो इनको एक सुदृढ़ एकता में बाँधते हैं, वे सशक्त जनमत की सर्व-सम्मति होती है। यह भी व्यक्तियों की मानसिक और नैतिक एकरूपता पर आधारित होती है।

4. राजनैतिक शासन-प्रणाली (Political Regime)—इन समाजों में सभी महत्वपूर्ण न्याय के कार्य तथा सामाजिक मामले सारा समाज मिलकर निपटाता है। शासन करना, नियम बनाना आदि कार्य सम्पूर्ण समूह अपने सदस्यों की सार्वजनिक सभा में मिलकर करते हैं। यह पंचायत के रूप में संगठित होते हैं। समाज का कोई भी मामला व्यक्तिगत नहीं होता है। उसकी चर्चा तथा मामले का निर्णय सामूहिक रूप से तय किया जाता है।

5. आर्थिक संगठन (Economic Organisation)—इनकी आर्थिकी संभरणात्मक होती है। व्यक्ति मुश्किल से ही अपनी आवश्यक आवश्यकताएँ—भोजन, वस्त्र और आवास की पूर्ति कर पाता है। सम्पत्ति सामूहिक होती है। विशेषीकरण का अभाव होता है। उत्पादन में श्रम के विभाजन का अभाव होता है। सभी परिवार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभी कार्य करते हैं। वर्ग नहीं होते हैं। सभी समान होते हैं। मालिक-मजदूर के सम्बन्ध नहीं मिलते हैं। सम्पत्ति सामुदायिक होती है।

6. धर्म एवं विचारधारा (Religion and Ideology)—दुर्खीम ने निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि इन आदिम समाजों में यांत्रिक एकता का मुख्य कारण धर्म एवं इनकी विचारधारा है। इन समाजों के लोग अवैयक्तिक टोटेम शक्तियों में विश्वास करते हैं। ये सामूहिक होती हैं। टोटेम व्यक्तित्व और वैयक्तिकता से स्वतन्त्र होती है। इनमें स्थानीय एवं जनजातीय भक्तिवाद मिलता है। सदस्यों में वैयक्तिकता का अभाव होता है। इसे पवित्र शक्ति में विश्वास तथा अभिव्यक्ति में देखा जा सकता है।

दुर्खीम के अनुसार यांत्रिक एकता और दमनकारी कानून में परस्पर सम्बन्ध है। आपने इनके परस्पर सम्बन्धों की व्याख्या की है जिसमें 'अपराध' 'दण्ड', और 'सामूहिक चेतना' पर अलग से प्रकाश डाला है। आदिम समाजों में दमनकारी कानून का प्रभुत्व होता है और उनमें यांत्रिक एकता होती है। *इसी सन्दर्भ में दुर्खीम ने अपराध तथा दण्ड की निम्न व्याख्या प्रस्तुत की है*—

1. अपराध (Crime)—दुर्खीम ने अपराध की व्याख्या करते हुए लिखा है कि सभी समाजों में अपराध के लिए दण्ड दिया जाता है। अपराध को सामूहिक चेतना का उल्लंघन माना जाता है। इसे सामाजिक नैतिकता के विरुद्ध आचरण माना जाता है। यांत्रिक एकता वाले समाजों में अपराध का निर्धारण दमनकारी कानून व्यवस्था के द्वारा किया जाता है। इन कानूनों के पीछे समूह की मान्यता होती है। दुर्खीम ने इन समाजों में अपराध किसे कहते हैं? यह समझाया है। आपका कहना है कि ये लोग अपराध उन कार्यों को मानते हैं जिसे समूह के सदस्य अनुचित समझते हैं तथा वे कार्य जो सामूहिक भावना को चोट पहुँचाते हैं। आपने निम्न शब्दों में अपराध की परिभाषा दी है—

"एक क्रिया अपराध है, जब वह सामान्य अन्तर्विवेक की शक्तिशाली और निश्चित अवस्थाओं पर आघात करती है।"

दुर्खीम के अनुसार सामूहिक चेतना, सामूहिक भावना, सामूहिक अन्तर्विवेक आदि के विरुद्ध कोई भी असामाजिक क्रिया अथवा कृत्य अपराध है।

2. दण्ड (Punishment)—जब कोई व्यक्ति समाज-विरोधी कार्य करता है तो समाज उसे दण्ड देता है। दुर्खीम का मत है कि दण्ड का उद्देश्य प्रतिशोध लेना है। अपराध को यो भी परिभाषित किया जा सकता है कि जिस कार्य के लिए समाज दण्ड देता है वही कार्य अपराध कहलाता है। जब व्यक्ति समाज के मूल्यों या समाजसम्मत नियमों अथवा अपेक्षित व्यवहार का उल्लंघन करता है तो वह दण्डनीय कार्य है जिसकी समाज कभी भी स्वीकृति नहीं देता है बल्कि प्रतिशोध लेता है, जो दण्ड का रूप ले लेता है। आदिम समाजों में दण्ड का उद्देश्य समाज के मूल्यों को पुनः स्थापित करना तथा अपराधी को कुचलना है। अपराध तथा अपराधी दोनों का दमन करना है।

दुर्खीम ने अपराध के विघटनकारी कार्यों के अतिरिक्त उसके अप्रत्यक्ष संगठनात्मक कर्मों पर भी प्रकाश डाला है। आपका कहना है कि अपराध की उपयोगिता यह है कि इसके विरुद्ध समूह के लोग संगठित होकर इसका विरोध करते हैं। लोगों में मानसिक एकता शक्तिशाली हो जाती है। दुर्खीम ने लिखा है, **"अपराध उत्तेजित अन्तर्विवेक को एक-दूसरे के निकट ला देता है और उन्हें एकाग्र कर देता है।"** दण्ड सामूहिक अन्तर्विवेक को पुष्ट करता है। दण्ड के

द्वारा सामूहिक चेतना तथा सामाजिक व्यवस्था पुन: स्थापित होती है। उसे बल मिलता है। दूसरों को कानून के विरुद्ध कार्य करने की हिम्मत नहीं होती है। दुर्खीम ने यांत्रिक एकता तथा दमनकारी कानून के घनिष्ठ सम्बन्धों को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है, *"एक ऐसी सामाजिक एकता का अस्तित्व है जो अन्तर्विवेक की उन निश्चित अवस्थाओं में से उत्पन्न होती है जो किसी समाज के सदस्यों के लिए सामान्य हैं। इसी को वास्तव में दमनकारी कानून व्यक्त करता है, कम-से-कम उस सीमा तक जहाँ तक कि यह अनिवार्य है।"*

इसी को दुर्खीम यांत्रिक एकता कहते हैं जो दमनकारी कानून से सम्बन्धित है। आपने दमनकारी कानून के बिल्कुल विपरीत प्रतिकारी कानून बताया है तथा यांत्रिक एकता से बिल्कुल भिन्न सावयवी एकता को प्रतिपादित किया है जिसकी विवेचना प्रस्तुत है।

सावयवी एकता
(Organic Solidarity)

दुर्खीम ने द्वितीय प्रकार की एकता को 'सावयवी एकता' कहा है जो यांत्रिक एकता से बिल्कुल विपरीत होती है। यह सावयवी एकता जटिल, विकसित, आधुनिक और औद्योगिक समाजों में विद्यमान होती है, जैसे—नगर, महानगर, औद्योगिक केन्द्र आदि। इन समाजों के सदस्यों में सभी क्षेत्रों में विभिन्नताएँ पाई जाती हैं तथा प्रतिकारी कानून व्यवस्था मिलती है। इन समाजों में भिन्नता का कारण श्रम-विभाजन और विशेषीकरण का होना है। ये सावयवी एकता वाले समाज आकार में बड़े होते हैं। इनकी जनसंख्या तथा जनसंख्या का घनत्व यांत्रिक एकता वाले समाजों की तुलना में बहुत अधिक होता है। ये बड़े भौगोलिक क्षेत्र में बसे होते हैं। इन समाजों के सदस्यों की आवश्यकताएँ बहुत अधिक होती हैं तथा भिन्न-भिन्न होती हैं। सभी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं। व्यक्तियों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है। इसमें सामूहिक भावना, सामूहिक चेतना आदि का प्रभाव कम हो जाता है। विभिन्न व्यक्ति एक-दूसरे से अप्रत्यक्ष रूप से परस्पर निर्भर और सम्बन्धित होते हैं।

दुर्खीम का मत है कि यांत्रिक एकता से सावयवी एकता का विकास निम्न क्रम में होता है। जब जनसंख्या बढ़ती है तो समाज के सदस्यों में श्रम-विभाजन होता है। श्रम-विभाजन सदस्यों के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए आवश्यक हो जाता है। श्रम-विभाजन के फलस्वरूप भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। जो जिस कार्य को बार-बार करता है तो वह उस कार्य को करने में दक्ष हो जाता है। समाज में विशेषीकरण का विकास होता है। व्यक्ति समाज के सदस्यों की किसी एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए कार्य करता है तथा अपनी अन्य सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज के दूसरे सदस्यों पर निर्भर रहता है। इससे सभी सदस्यों की एक-दूसरे पर निर्भरता बढ़ जाती है। दुर्खीम ने लिखा है कि यही निर्भरता सदस्यों को परस्पर एक-दूसरे से सहयोग करने के लिए बाध्य करती है। यह सहयोग ही जटिल समाजों में सावयवी एकता पैदा करता है। इसे निम्न उदाहरण द्वारा भी समझाया जा सकता है। यह विशिष्ट प्रकार की सावयवी एकता जटिल जीव-प्राणियों के शरीर के विभिन्न अंगों में मिलती है। जीवों के बने रहने तथा जीवित रहने के लिए विभिन्न अंगों में श्रम विभाजन, विशेषीकरण, निर्भरता तथा सहयोग मिलता है। शरीर

के विभिन्न अग—आँख, नाक, मुँह, पेट, सिर, फेफडे दिल तथा पैर आदि शरीर के लिए विशिष्ट कार्य करते हैं। सम्पूर्ण शरीर इन विभिन्न अगो पर निर्भर करता है तथा प्रत्येक अग सम्पूर्ण शरीर पर तथा परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित रहता है। यह सावयवी एकता कहलाती है। **दुर्खीम उन समाजों की एकता को सावयवी एकता कहते है, जिनमें श्रम-विभाजन, विशेषीकरण, निर्भरता तथा सहयोग के गुण मिलते हैं।** आपने समाज की सावयवी एकता को स्पष्ट करने के लिए उसकी विशेषताओ का वर्णन किया है, जो अग्रलिखित हैं—

सावयवी एकता की विशेषताएँ (Characteristics of Organic Solidarity)

1. मानव व्यवहार और मनोविज्ञान (Human Behaviour and Psychology)—सावयवी एकता वाले जटिल समाजो मे व्यक्तियों की मानसिक, नैतिक और सामाजिक एकरूपता का लोप हो जाता है। समाज के सदस्यो की वैयक्तिकता और विशिष्टता मे वृद्धि हो जाती है। उनके विश्वास, धारणाएँ, मत, तरीके, पसन्द, नैतिकता मे कम-से-कम समानता पाई जाती है। दुर्खीम के अनुसार इस वैयक्तिकता का कारण श्रम-विभाजन है। विशेषीकरण के कारण परम्पराओ मे कमी आ जाती है। व्यक्तियो की भूमिका तथा प्रस्थिति के निर्धारण मे आनुवाशिकता का महत्त्व बहुत कम हो जाता है। समाज मे प्रस्थिति प्रदत्त से अर्जित मे परिवर्तित हो जाती है। व्यवसाय और सामाजिक स्थिति पिता से पुत्र को हस्तान्तरित करने तथा जाति के प्रतिबन्धो मे परिवर्तन हो जाता है। परम्परागत बन्धन टूट जाते है। उनको तोडने मे श्रम विभाजन सहायक सिद्ध होता है।

2. कानून, नैतिकता और सामाजिक नियन्त्रण (Law, Morality and Social Control)—दुर्खीम का मत है कि श्रम-विभाजन के प्रभाव से सार्वजनिक तथा सामान्य सामाजिक चेतना तथा सामाजिक अन्तर्विवेक की एकरूपता मे कमी आ जाती है। अपराधी क्रियाओ को अब समाज-विरोधी नहीं माना जाकर केवल व्यक्ति की हानि समझा जाने लगता है। समाज के सदस्यो मे धार्मिक लक्षणो, विचारो, विश्वासो मे कमी आने लग जाती है। कानून मे दमनात्मक लक्षणो में दिन-प्रतिदिन कमी आती है। अब सम्पूर्ण समूह के नैतिक अन्तर्विवेक तथा चेतनता को दण्ड के द्वारा पुनः स्थापित करने पर जोर नहीं दिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप दमनात्मक दण्ड मे कमी आ जाती है। अब अपराधी केवल हानि पहुँचने वाले व्यक्ति की हानि की पूर्ति करता है। सामाजिक नियन्त्रण, सामूहिक उत्तरदायित्व के दृष्टिकोण शिथिल हो जाते हैं। इनकी कठोरता में कमी आ जाती है। परिवर्तन के फलस्वरूप केवल कुछ सार्वजनिक क्षेत्रो के व्यवहार ही निश्चित रह पाते हैं। अन्य क्षेत्रों मे, विशेष रूप से निजी क्षेत्रो में, प्रत्येक सदस्य को इच्छानुसार व्यवहार करने की स्वतन्त्रता होती है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता मे अपार वृद्धि हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप समझौते के कानून मे भी वृद्धि हो जाती है। विभिन्न व्यक्ति परस्पर सम्बन्धो को स्वतन्त्र संविदा या समझौते के अनुसार स्थापित करते हैं।

3 एकात्मकता और सामाजिक बन्धन (Solidarity and Social Ties)— दुर्खीम लिखते हैं कि सावयवी एकता वाले समाज में व्यक्तियो मे एकरूपता तथा सजातीयता विद्यमान नहीं होती है। इसलिए एकरूपता पर आधारित सामाजिक एकता तथा सामाजिक बन्धन भी शिथिल हो जाते हैं। सामाजिक बन्धन की भूमिका एकरूपता नहीं निभाती है। आप लिखते हैं कि अगर

समाज में इन बन्धनों को निभाने की भूमिका को दूसरा नहीं लेता है तो, समाज में अव्यवस्था फैल सकती है। समूह की एकता नष्ट हो जाती है। दुर्खीम के अनुसार श्रम-विभाजन ही वह नया बन्धन है, जो व्यक्तियों में एकता बनाये रखने की भूमिका निभाता है। अब समूह की सुदृढ़ एकता का आधार व्यक्तियों की पारस्परिक निर्भरता है। यह श्रम के विभाजन का परिणाम हो है जिसके कारण विशेषीकरण में वृद्धि होती है। प्रत्येक को एक दूसरे को आवश्यकता होती है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति केवल एक विशिष्ट कार्य ही सम्पन्न करता है। कार्य सभी के सहयोग से सम्पन्न होते हैं। इसलिए सभी परस्पर सहयोग करते हैं। दुर्खीम का मत है कि इस प्रकार से श्रम विभाजन के परिणामस्वरूप यांत्रिक एकता का रूपान्तरण सावयवी एकता में हो जाता है।

4. राजनैतिक शासन-प्रणाली (Political Regime)—सावयवी एकता वाले समाजों की एक विशेषता यह भी है कि इनमें राजनैतिक कार्यों का विशेषीकरण हो जाता है। न्यायपालिका, कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के द्वारा विभिन्न राजनैतिक कार्यों को सम्पन्न किया जाता है। अब राजनीतिक पद पिता से पुत्र को वंशानुगत के रूप में हस्तान्तरित नहीं होते हैं। वंशानुगत राजनैतिक पदों की प्रवृत्ति में कमी आ जाती है। सरकार तथा नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्ध समझौते के अनुसार निर्धारित होते हैं। सारांशतः कहा जा सकता है कि अब सार्वजनिक सभा में समूह के सभी सदस्य राजनैतिक कार्यों को मिलकर नहीं करते हैं। सम्पूर्ण राजनैतिक व्यवस्था औपचारिक स्वरूप में विकसित हो जाती है जो सावयवी एकता वाले समाज की विशिष्टता है।

5. आर्थिक संगठन (Economic Organisation)—सावयवी एकता की विशेषता सम्भरणात्मक आर्थिकी से आर्थिकी अधिशेष में परिवर्तन होना भी है। इसे बचत की आर्थिकी भी कहते हैं। परम्परागत व्यवसायों के महत्त्व में कमी आ जाती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का महत्त्व बढ़ जाता है। आर्थिक व्यक्तिवाद में वृद्धि हो जाती है। 'बन्द-अर्थ-व्यवस्था' के स्थान पर 'खुली अर्थ-व्यवस्था' का विकास हो जाता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार योग्यता, कार्य-कुशलता, ईमानदारी के आधार पर कोई भी व्यवसाय कर सकता है। दुर्खीम ने लिखा है कि श्रम-विभाजन के कारण वंशानुगत सामाजिक प्रस्थिति तथा वंशानुगत विशिष्ट क्षमताओं का ह्रास हो जाता है।

6. धर्म एवं विचारधारा (Religion and Ideology)—श्रम-विभाजन का प्रभाव धर्म तथा विचारधारा की अनेक विशेषताओं पर पड़ता है। इनमें अनेक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। बहु-ईश्वरवाद तथा एक ईश्वरवाद का संक्रमण हो जाता है। इन महानगरीय तथा जटिल समाजों में ईश्वर का वैयक्तिकीकरण तथा निजीकरण हो जाता है। धर्म का क्षेत्र भी लघु से वृहद् हो जाता है तथा धर्म का सार्वभौमिकरण हो जाता है। जनजातीय समाजों में विद्यमान स्थानीय तथा जनजातीय भक्तिवाद का ह्रास हो जाता है। समाज के स्थानीय धार्मिक विश्वासों का स्थान विश्ववाद तथा अन्तर्राष्ट्रीयवाद ले लेता है। इस प्रकार विचारधारा में विश्व के स्तर की भावनाओं का विकास हो जाता है।

यांत्रिक एकता एवं सावयवी एकता में अन्तर
(Difference between Mechanical Solidarity and Organic Solidarity)

इमाइल दुर्खीम ने लिखा है कि जिन समाजों मे श्रम के विभाजन का अभाव अथवा अल्पता होती है, उन समाजो में यांत्रिक एकता होती है। श्रम-विभाजन की इस कमी के प्रभाव उन समाजो के विभिन्न क्षेत्रों पर पड़ते हैं। इसी प्रकार आपका कहना है कि समय के साथ साथ श्रम का विभाजन बढ़ता है, इसमे वृद्धि होती है। आप आगे लिखते हैं कि यह एक ऐतिहासिक प्रवृत्ति और प्रक्रिया है। जब श्रम का विभाजन अधिक हो जाता है तब सावयवी एकता का विकास हो जाता है। श्रम विभाजन के प्रभाव समाज के विभिन्न क्षेत्रो पर पडते हैं। दुर्खीम का मानना है कि सामाजिक जीवन का आधार सामाजिक एकता है। यह एक नैतिक तथा परिवर्तनशील सामाजिक तथ्य है। यह दो प्रकार की होती है, जिसकी विस्तार से विवेचना उपर्युक्त पृष्ठों में की जा चुकी है। दुर्खीम के अनुसार यांत्रिक एकता तथा सावयवी एकता मे सामाजिक घटनाओ और क्षेत्रों में अग्रलिखित अन्तर मिलते हैं, जो सलग्न चार्ट द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

अन्तर के आधार	यांत्रिक एकता (श्रम-विभाजन का अभाव या अल्पता)	सावयवी एकता (श्रम-विभाजन की अधिकता)
1. मानव व्यवहार और मनोविज्ञान	व्यक्तियो की मानसिक, नैतिक और सामाजिक एक-रूपता। उनके विश्वास, धारणाएँ, मत, तरीके, व्यवहार आदि-आदि एक जैसे होते हैं। भिन्नता केवल आनुवंशिकता के कारण होती है। परम्परा का प्रभुत्व, वैयक्तिकता और व्यक्तिवाद का अभाव।	व्यक्तियो की मानसिक, नैतिक और सामाजिक एकरूपता का लोप। उनकी वैयक्तिकता और विशिष्ता मे वृद्धि। उनकी पसन्द, विश्वास, मत, नैतिकता मे कम से-कम समानता। श्रम का विशेषी-करण वैयक्तिकता का कारण। विशेषीकरण से परम्पराओ में कमी। आनुवंशिकता भूमिका के निर्धारण में कम-से-कम महत्त्वपूर्ण। यह व्यवसाय और सामाजिक स्थिति को पिता से पुत्र को हस्तान्तरित करने तथा जाति के बन्धनो को तोडने में सहायक होते हैं।

2. कानून, नैतिकता और सामाजिक नियन्त्रण	सामाजिक अन्तर्विवेक और सामाजिक चेतना की एकरूपता का आधार है जो शक्तिशाली, सर्वसम्मत तथा अव्यक्तिवादी है। अपराध वह क्रिया है जो शक्तिशाली तथा गहरी सामाजिक अन्तर्विवेक के विरुद्ध है तथा इसके लिए कठोर दमन आवश्यक है। फौजदारी कानून-दमन और दण्ड का प्रभुत्व दीवानी कानून पर होता है। न्याय का उद्देश्य समूह के नैतिक अन्तर्विवेक को पुन:स्थापित करना होता है न कि अपराधी द्वारा क्षति ग्रस्त की क्षति-पूर्ति करना।	सार्वजनिक तथा सामान्य सामाजिक चेतना तथा अन्तर्विवेक में कमी। अपराधों के विरोध में कमी होना जिससे सामान्य सामाजिक अन्तर्विवेक में भी कमी। अपराधी क्रियाओं को केवल सदस्यों की हानि समझना। उनमें धार्मिक लक्षणों की गिरावट। इसके फलस्वरूप कानून में दमनात्मक लक्षणों की दिन प्रतिदिन कमी होना। अब सम्पूर्ण समूह के नैतिक अन्तर्विवेक को दण्ड द्वारा पुन:स्थापित करने की आवश्यकता नहीं होने के कारण दण्ड में भी कमी। अपराधी केवल क्षतिग्रस्त की हानि की पूर्ति करता है। सामाजिक नियन्त्रण न्यून कठोर तथा अधिक शिथिल। केवल कुछ सार्वजनिक क्षेत्रों के व्यवहार निश्चित। अन्य क्षेत्रों में प्रत्येक को इच्छानुसार व्यवहार की स्वतन्त्रता। वैयक्तिक स्वतन्त्रता और संविदा कानून में वृद्धि तथा सम्बन्धों का आधार पक्षों में स्वतन्त्र संविदा का होना।
3. एकात्मकता और सामाजिक बन्धन	"यांत्रिक एकात्मकता" व्यक्तियों की सादृश्यता (सजातीयता) पर आधारित होती है। वे बन्धन जो इनको एक सुदृढ़ एकता में बाँधते हैं, यही सशक्त जनमत की सर्वसम्मति होती है जो व्यक्तियों की मानसिक और नैतिक एकरूपता पर आधारित होते हैं।	क्योंकि व्यक्तियों में अब सजातीयता विद्यमान नहीं होती है इसलिए यह अब सामाजिक बन्धन की भूमिका नहीं निभाती है। अगर समाज में कोई नया बन्धन नहीं होता तो समूह की एकता भी नष्ट हो जाती। श्रम का विभाजन ही वह नया बन्धन है। अब समूह की सुदृढ़ एकता का आधार विजातीय व्यक्तियों की अन्यात्म-निर्भरता है, जो श्रम के विभाजन का परिणाम है। प्रत्येक को एक-दूसरे की आवश्यकता है और बिना सहयोग के उनका जीना असम्भव क्योंकि हर कोई काम का केवल एक विशिष्ट कार्य ही करता है। इस प्रकार से यांत्रिक एकता का रूपान्तरण जैविक एकता में हो जाता है।

4 राजनैतिक शासन-प्रणाली	सभी महत्त्वपूर्ण सामाजिक मामले एव न्याय के कार्य, जैसे—नियम बनाना, शासन करना आदि सम्पूर्ण समूह द्वारा अपने सदस्यो की सार्वजनिक सभा मे किये जाते हैं।	राजनैतिक कार्यो का विशेषीकरण, वशानुगत राजनैतिक पदो की प्रवृत्ति मे कमी। सरकार तथा नागरिको के समझौते के सम्बन्ध।
5 आर्थिक सगठन	साम्प्रदायिक सम्पत्ति।	व्यक्तिगत सम्पत्ति, आर्थिक व्यक्तिवाद, सविदागत सहयोग, ''खुली अर्थव्यवस्था'' प्रणाली जिसमे प्रत्येक कोई भी व्यवसाय कर सकता है। श्रम के विभाजन के कारण वशानुगत सामाजिक प्रस्थिति तथा वशानुगत विशिष्ट क्षमताओ का ह्रास।
6. धर्म एव विचारधारा	अवैयक्तिक टोटेम शक्तियो मे विश्वास जो व्यक्तित्व या वैयक्तिकता से स्वतन्त्र होती है। सदस्यो मे वैयक्तिकता का अभाव होता है जो पवित्र शक्ति मे वैयक्तिकता के अभाव के द्वारा अभिव्यक्त होता है। स्थानीय एव जनजातीय भक्तिवाद।	बहु-ईश्वरवाद तथा एक ईश्वर-वाद का सक्रमण। ईश्वर का वैयक्तिकीकरण तथा निर्जीकरण के साथ-साथ धर्म का सार्वभौमिकीकरण। स्थानीय एव जनजातीय भक्तिवाद का ह्रास और विश्ववाद या अन्तर्राष्ट्रीयवाद मे वृद्धि।

स्रोत : पिटिरिम सोरोकिन : कॉनटेम्पोरेरी सोशियोलॉजिकल थ्योरिज, पृ 468-470

पूर्वोक्त तालिका मे वर्णित अन्तरो को निम्नलिखित रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है—

1. श्रम-विभाजन (Division of Labour)—यान्त्रिक एकता वाले समाज मे श्रम-विभाजन का अभाव होता है अथवा यह अल्प मात्रा मे होता है, जबकि सावयवी एकता मे समय के साथ-साथ श्रम का विभाजन बढता जाता है। यह एक ऐतिहासिक प्रवृत्ति और प्रक्रिया है, जिसके परिणामस्वरूप अन्य सभी क्षेत्रो में विकास और प्रभावो मे वृद्धि होती है।

2. विशेषीकरण (Specialization)—यान्त्रिक एकता वाले समाज मे विशेषीकरण का अभाव अथवा अल्पता होती है। सावयवी एकता मे विशेषीकरण अधिक होता है जो श्रम-विभाजन के कारण विकसित होता है।

3. निर्भरता (Interdependence) —यान्त्रिक एकता वाले समाज मे व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ के सम्बन्ध मे आत्म-निर्भर होते हैं, सावयवी एकता समाज मे आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं।

4. एकता का आधार (Basis of Solidarity)—यांत्रिक वाले समाज एकता का आधार समाज के सदस्यों की सभी क्षेत्रों में समरूपता या एकरूपता है, जबकि सावयवी एकता का आधार विशेषीकरण और निर्भरता पर आधारित सहयोग जिसके द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाते हैं। यांत्रिक एकता का आधार समानता है तथा सावयवी एकता का आधार विशिष्टता तथा भिन्नता है।

5. कानून (Law)—यांत्रिक एकता में दमनकारी कानून का प्रभुत्व होता है तथा सावयवी एकता समाज में प्रतिकारी कानून का। दमनकारी कानून सामूहिक चेतना को पुन:स्थापित करता है। प्रतिकारी कानून क्षतिग्रस्त की हानि को पूर्ण करवाता है।

6. व्यक्ति के समाज से सम्बन्ध (Relation of Man with Society)—यांत्रिक एकता वाले समाज में व्यक्ति का समाज से सीधा सम्बन्ध होता है तथा समाज के उद्देश्यों, मूल्यों, चेतना, प्रतिनिधान, विचारधारा से भी व्यक्ति का सीधा व प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। व्यक्ति अपनी क्रियाओं में समाज का प्रत्यक्ष ध्यान रखता है। सावयवी एकता में व्यक्ति और समाज में परस्पर सम्बन्ध प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष होता है। विशेषीकरण के परिणामस्वरूप विभिन्न व्यक्ति एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं।

7. व्यक्ति का विकास (Development of the Individual)—यांत्रिक एकता वाले समाज में व्यक्ति का अस्तित्व महत्त्वपूर्ण नहीं होता है। व्यक्ति के विकास में यह एकता बाधक होती है। परम्पराएँ, रूढ़ियाँ, सामान्य भावनाएँ आदि व्यक्ति पर पूर्ण नियन्त्रण रखती हैं। व्यक्ति अपना जीवन समाज के लिए जीता है। सावयवी एकता वाले समाज में व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र होता है। वह जैसे चाहे वैसे विकास कर सकता है। व्यक्तित्व के गुणों को महत्त्व दिया जाता है।

8. सादृश्यता (Analogy)—दुर्खीम ने यांत्रिक एकता को असावयवी या वस्तु तथा सावयवी एकता को जीवों के समान माना है। आपका कहना है कि जिस प्रकार से असावयवी और अचेतन वस्तुओं की संरचना तथा संगठन का निर्माण विभिन्न लेकिन एक-से तत्त्वों के परस्पर एक-दूसरे में घुल-मिल जाने पर होता है। इन निर्जीव तत्त्वों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता है। श्रम-विभाजन नहीं होता है। उनमें क्रिया साथ-साथ होती है। उसी के सादृश्य पर यांत्रिक एकता वाले सामाजिक संगठन में सभी सदस्य घुले-मिले होते हैं। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता है। वे सब एक-से होते हैं। उनमें श्रम-विभाजन तथा विशेषीकरण नहीं होता है।

9. अपराध (Crime)—यांत्रिक एवं सावयवी एकता में एक बड़ा अन्तर अपराधों के स्वरूप तथा अपराधों की संख्या में मिलता है। यांत्रिक एकता-अपराधों के प्रकार अधिक होते हैं। व्यक्ति के समाजसम्मत आचरण से मामूली अलगाव भी अपराध माना जाता है। इनमें अपराधों की संख्या अधिक होती है। सावयवी एकता वाले समाजों में छोटी-मोटी भूल पर कोई ध्यान नहीं देता है। धार्मिक अपराध तो लगभग समाप्त हो जाते हैं। परिवार तथा विवाह से सम्बन्धित नियमों का उल्लंघन ही अपराध माना जाता है। सावयवी एकता में अपराधों के प्रकार यांत्रिक एकता से बिल्कुल भिन्न होते हैं। यांत्रिक एकता में अपराध समाज विरोधी होते हैं तथा सावयवी एकता में व्यक्ति विरोधी।

10. सामाजिक संरचना (Social Structure)—यांत्रिक एकता वाले समाजों की सामाजिक संरचना का आधार नातेदारी—विवाह रक्त और गोद सम्बन्धों पर आधारित होता है, जैसे—परिवार, संयुक्त-परिवार, वंश-समूह, गोत्र-समूह आदि। ये बहिर्विवाही और अन्तर्विवाही समूह होते हैं। आर्थिक दृष्टिकोण से सब समान होते हैं। सावयवी एकता वाले समाजों में सामाजिक संरचना का आधार नातेदारी पर कम आश्रित होता है तथा द्वैतीयक समूहों पर अधिक आधारित होता है। समाज में विशेषीकरण के फलस्वरूप संरचना का आधार अर्जित विशेषता पर आधारित होता है। समाज में वर्ग-व्यवस्था होती है। आर्थिक भिन्नता अधिक मिलती है। यांत्रिक एकता वाले समाजों की सामाजिक संरचना समानता पर आधारित होती है तथा सावयवी एकता में भिन्नता तथा निर्भरता प्रमुख आधार होते हैं।

11. धर्म (Religion)—यांत्रिक एकता वाले समाज धर्म प्रधान होते हैं। समाज तथा व्यक्ति की सभी बातों का निर्देशन, संचालन, नियन्त्रण आदि धर्म करता है। धर्म उनकी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि सभी क्रियाओं का निर्धारण करता है। सावयवी एकता वाले समाजों में धर्म का प्रभाव लगभग बहुत कम हो जाता है। इसका स्थान दूसरी विशिष्ठ संस्थाएँ तथा समितियाँ ले लेती हैं।

12. भावना/नियम (Feelings/Law)—यांत्रिक एकता वाले समाज में व्यक्ति की सभी क्रियाओं में सामूहिक भावनाओं का प्रभुत्व होता है। भावनाओं का प्रभाव इतना अधिक होता है कि व्यक्ति का व्यक्तिगत-जीवन सामूहिक-जीवन बन जाता है। वह समुदाय के लिए जीता है। सावयवी एकता वाले समाजों में सामूहिक भावना का स्थान नियम ले लेते हैं। व्यक्ति का जीवन नियमों पर आधारित होता है न कि भावना पर।

13. समाजों के प्रकार (Types of Society)—यांत्रिक एकता वाले समाजों के उदाहरण हैं—कबीले, आदिम समाज, घुमन्तू समाज, गिरिजन समाज, जनजातियाँ, चारागाही समाज, आखेटक एवं भोजन एकत्र करने वाले समाज। यांत्रिक एकता वाले समाजों के उदाहरण हैं—कस्बाई समाज, नगरीय समाज, महानगरीय समाज, औद्योगिक समाज आदि।

इन उपर्युक्त वर्णित भिन्नताओं के अतिरिक्त और भी अनेक लक्षण तथा आधार हैं जो यांत्रिक एकता तथा सावयवी एकता में भिन्नता स्पष्ट करते हैं, जैसे— शिक्षा-संचार तथा यातायात के साधन, व्यवसाय, आर्थिक उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण, सामाजिक प्रस्थिति—प्रदत्त तथा अर्जित, सम्पत्ति, वस्तु विनिमय तथा मुद्रा विनिमय, संस्कृति आदि। यांत्रिक एकता वाले समाजों में अशिक्षा, यातायात तथा संचार के साधनों का अभाव, परम्परागत व्यवसाय, परिवार उत्पादन, उपभोग तथा विनिमय की इकाई, सामूहिक सम्पत्ति की प्रधानता, वस्तु विनिमय का प्रचलन तथा नकद मुद्रा का अभाव आदि विशेषताएँ मिलती हैं। इसके विपरीत सावयवी एकता वाले समाज में साक्षरता, उन्नत यातायात तथा संचार के साधन, अर्जित प्रस्थिति पर आधारित व्यवसाय, व्यक्तिगत सम्पत्ति, परिवार केवल उपभोग की इकाई, नकद मुद्रा विनिमय का प्रचलन आदि विशेषताएँ मिलती हैं।

दुर्खीम का उद्विकासीय सिद्धान्त

(Durkheim's Evolutionary Theory)

दुर्खीम ने समाज के उद्विकास की व्याख्या श्रम-विभाजन और सामाजिक एकता के प्रकारों के आधार पर की है। आपका मत है कि समाज का विकास यांत्रिक एकता से सावयवी एकता की ओर क्रम में होता है। इस विकास का कारण श्रम-विभाजन है। प्रारम्भ में समाज में श्रम विभाजन का अभाव होता है। समाज की जनसंख्या भी कम होती है। जनसंख्या का घनत्व कम होता है। धीरे-धीरे समाज की जनसंख्या में वृद्धि होती है। उसके घनत्व में भी वृद्धि होती है। समाज के सदस्यों की आवश्यकताएँ भी बढ़ती हैं। प्रारम्भ में समाज सरल, सादे तथा सीधे होते हैं। उनमें यांत्रिक एकता होती है। यांत्रिक एकता वाले समाजों को सभी विशेषताओं की प्रधानता होती है, जैसे—दमनकारी कानून का प्रचलन होता है। सामूहिक प्रतिनिधान तथा सामूहिक चेतना का प्रभुत्व होता है। यांत्रिक एकता से समाज सावयवी एकता की विशेषताओं वाले समाजों में परिवर्तन तथा विकास एक ऐतिहासिक तथ्य है। दुर्खीम स्पेन्सर की भाँति यह मानते हैं कि समाज सरलता से जटिलता में विकसित होता है। समाज के विभिन्न गुणों में समानता से विभिन्नता में परिवर्तन होता है। आत्मनिर्भरता से पारस्परिक निर्भरता में परिवर्तन होता है। इस प्रकार समाज यांत्रिक एकता से सावयवी एकता श्रम-विभाजन की वृद्धि के फलस्वरूप परिवर्तन होता है। सामाजिक परिवर्तन एक कालक्रमिक प्रक्रिया है। इसमें समय के साथ-साथ श्रम-विभाजन में वृद्धि होती है। दुर्खीम इसे ऐतिहासिक घटना मानते हैं। श्रम-विभाजन के कारण विशेषीकरण आता है, जो समाज में परिवर्तन लाता है। विशेषीकरण से समाज की विभिन्न इकाइयों में पारस्परिक निर्भरता बढ़ती है जो समाज को सावयवी एकता वाले समाज में विकसित और परिवर्तित कर देती है। दुर्खीम के अनुसार श्रम-विभाजन आदि सामाजिक तथ्य हैं। इनका सामाजिक परिवर्तन में प्रभाव पड़ता है। आपका मत है कि श्रम-विभाजन से मानव के सुख में वृद्धि होती है। आपके अनुसार सामाजिक परिवर्तन समाज के विभिन्न गुणो, जो यांत्रिक एकता वाले समाज में पाए जाते हैं, में होता है। समाज के यांत्रिक एकता वाले गुणों से सावयवी एकता के गुणों में परिवर्तन का प्रदर्शन संलग्न चार्ट **'यांत्रिक एकता और सावयवी एकता में अन्तर'** में किया गया है। यही दुर्खीम का सामाजिक परिवर्तन का उद्विकासीय सिद्धान्त है।

श्रम-विभाजन के कारण

(Causes of Division of Labour)

दुर्खीम ने श्रम-विभाजन के कारणों की विवेचना अपनी पुस्तक के द्वितीय खण्ड में की है। आपने श्रम-विभाजन के दो कारण माने हैं। ये निम्न हैं—

(1) प्राथमिक कारण—1.1. जनसंख्या में वृद्धि, और

(2) द्वितीय कारण—

2.1. सामूहिक चेतना का ह्रास, और

2.2. पैतृकता का घटता प्रभाव।

1.1 जनसंख्या में वृद्धि (Population Growth)—दुर्खीम का मत है कि श्रम विभाजन का प्राथमिक कारण जनसख्या मे वृद्धि होना है। आपने जनसख्या की वृद्धि दो प्रकारों की बताई हैं—(1) जनसंख्या के आकार मे वृद्धि, तथा (2) जनसख्या के घनत्व मे वृद्धि। आपने अपने निम्न कथन मे स्पष्ट किया है कि जनसंख्या और श्रम विभाजन किस प्रकार परस्पर सम्बन्धित हैं—

"श्रम-विभाजन समाजों की जटिलता और घनत्व के साथ सीधे अनुपात मे विचरण करता है, और यदि सामाजिक विकास के दौरान यह निरन्तर वृद्धि करता है तो इसका कारण यह है कि समाज नियमित रूप से अधिक घने और सामान्यत: अधिक जटिल हो जाते हैं।"

आपने लिखा है कि जनसख्या के बढने या घटने का समाजों के श्रम-विभाजन के बढने या घटने के साथ सीधा सम्बन्ध होता है। घनत्व बढेगा तो समाजो की जटिलता भी बढेगी। यह बढने की प्रक्रिया समाजो के विकास के साथ-साथ निरन्तर चलती रहती है। आपने यह भी बताया है कि जनसख्या के आकार तथा घनत्व मे वृद्धि के कारण खण्डात्मक समाज मिश्रित समाज में बदल जाते हैं। यातायात के साधनो की सुविधा का प्रभाव भी समाज की जटिलता तथा विशेषीकरण पर पड़ता है। लोगों को आने जाने की सुविधा मिलने से ये एक स्थान पर केन्द्रित होने लगते हैं। इसी सन्दर्भ मे दुर्खीम ने जनसख्या के घनत्व के दो प्रकार बताए हैं—(1) **भौतिक घनत्व** तथा (2) **नैतिक घनत्व**। शारीरिक दृष्टि से लोग एक स्थान पर केन्द्रित होते हैं उससे जो जनसंख्या का घनत्व बढता है उसे आप भौतिक घनत्व कहते हैं। इसको बढाने में यातायात के साधनो का प्रभाव पडता है। आपका मत है कि नैतिक घनत्व में समाज के सदस्यो के सम्बन्धों, सामाजिक क्रियाओ और प्रतिक्रियाओ की वृद्धि को देखा जाता है। यह भौतिक घनत्व के बढ़ने से बढता है। जब नैतिक घनत्व बढता है तो समाज की जटिलता भी बढती है। साराशत: यह कहा जा सकता है कि जनसख्या की वृद्धि के दूरगामी प्रभाव पड़ते हैं जिससे समाज सरल अवस्था तथा यान्त्रिक एकता से जटिल अवस्था तथा सावयवी एकता में परिवर्तित हो जाता है। जनसख्या के बढने से अस्तित्व के लिए सघर्ष, श्रम का विभाजन, भौतिक घनत्व तथा नैतिक घनत्व में वृद्धि आदि तथा समाज की सामाजिक संरचना में जटिलता में वृद्धि होती है।

द्वैतीयक कारक (Secondary Factors)—ये दो प्रकार के होते हैं। दुर्खीम ने इनकी निम्न व्याख्याएँ की हैं—

2.1. सामूहिक चेतना का ह्रास (Decline in the Collective Consciousness)—दुर्खीम का मत है कि सामूहिक चेतना के कम होने से व्यक्तिगत चेतना में वृद्धि होती है जो श्रम-विभाजन में वृद्धि करती है। दुर्खीम के अनुसार सामूहिक चेतना को श्रम विभाजन का द्वैतीयक कारक बताया गया है जो श्रम-विभाजन पर विपरीत प्रभाव डालता है। सामूहिक चेतना प्रबल होगी तो श्रम-विभाजन में वृद्धि नहीं होगी। सामूहिक चेतना के घटने और कमजोर पड़ने पर श्रम-विभाजन मे वृद्धि होती है। इन गुण सम्बन्धो को आपने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—

"यह देखा जा सकता है कि श्रम-विभाजन की प्रगति उतनी ही अधिक कठिन और धीमी होगी, जितनी सशक्त और निश्चित सामूहिक चेतना होगी। इसके विपरीत, यह उतनी ही तीव्र होगी जितनी व्यक्ति अपने व्यक्तिगत पर्यावरण के साथ सामजस्य करने मे समर्थ है।"

2.2. पैतृकता का घटता प्रभाव (Decreasing Influence of Hereditary)— दुर्खीम ने पैतृकता को दूसरा द्वैतीयक कारक बताया है। आपने कहा कि पैतृकता जब प्रभाव- शाली होती है तो सामाजिक परिवर्तन की गति कम होती है। आपका पैतृकता से तात्पर्य है कि समाज में व्यवसाय, कार्यों का बँटवारा आदि प्रदत्त होते हैं। व्यक्ति के जन्म के आधार पर निश्चित होते हैं। अर्थात् व्यक्ति वही व्यवसाय करता है जो उसके पिता तथा पूर्वज करते आए हैं। इस प्रकार समाज में पैतृकता के कठोर होने के कारण व्यवसाय तथा कार्यों का बँटवारा प्रतिबन्धित होता है जो सामाजिक परिवर्तन में बाधक होता है। इससे श्रम-विभाजन में वृद्धि नहीं होती है। दुर्खीम ने इन्हीं वास्तविकताओं के आधार पर निम्न निष्कर्ष दिए हैं। आपका मत है कि पैतृकता जितनी अधिक प्रभावशाली होगी समाज में श्रम विभाजन में वृद्धि तथा परिवर्तन उतना ही कम होगा। पैतृकता के घटने तथा कमजोर होने पर परिवर्तन तीव्र होंगे। लोग परम्परागत व्यवसाय त्याग कर अन्य व्यवसाय करेंगे। श्रम- विभाजन में वृद्धि भी तेजी से होगी। आधुनिकीकरण भी पैतृकता के प्रभाव को घटाता है। निष्कर्षत: दुर्खीम का मत है कि पैतृकता के प्रभाव के बढ़ने से श्रम-विभाजन नहीं बढ़ता है तथा पैतृकता के घटने से श्रम-विभाजन बढ़ता है। इनमें परस्पर विपरीत सम्बन्ध है। एक के घटने से दूसरा बढ़ता है।

श्रम-विभाजन के परिणाम
(Consequences of Division of Labour)

दुर्खीम ने श्रम-विभाजन के प्रमुख आठ परिणामों का उल्लेख किया है जो निम्न हैं—

1. प्रकार्यात्मक स्वतन्त्रता एवं विशेषीकरण (Functional Freedom and Specialization)—दुर्खीम ने श्रम-विभाजन का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह बताया है कि इसके द्वारा कार्यों का विभाजन होता है, उससे विशेषीकरण में वृद्धि होती है। व्यक्ति कार्यों के चुनाव करने के लिए भी स्वतन्त्र होता है। इस पर पैतृकता का बन्धन नहीं रहता है। आपने इस परिणाम के निम्न चार कारण बताए हैं। व्यक्ति विशिष्ट कार्य करता है। अपनी शारीरिक क्षमता का विशिष्ट कार्य करने के लिए जितना अधिक उपयोग करता है उसकी क्षमता में उतना अधिक निखार आता है। एक शारीरिक क्षमता तो परिष्कृत हो जाती है तथा शेष शारीरिक क्षमताएँ शिथिल हो जाती हैं। व्यक्ति जब निश्चित कार्य करता है तो उसके प्रकार्य का एक निश्चित रूप बन जाता है। उसकी क्रिया का विशेषीकरण हो जाता है। व्यक्ति कार्य का चुनाव करने तथा त्यागने के लिए स्वतन्त्र होता है। उसे इस नए समाज मे परम्परागत बन्धन से मुक्ति प्राप्त होती है। वह जब चाहे इच्छानुसार व्यवसाय चुने या त्यागे। दुर्खीम के अनुसार प्रकार्य सामाजिक संरचना से स्वतन्त्र होते हैं। व्यवसायों को चुनने तथा त्यागने की स्वतन्त्रता होती है जिससे गतिशीलता बढ़ जाती है। श्रम-विभाजन के कारण प्रकार्यों में विशिष्टता आ जाती है। दुर्खीम ने निष्कर्ष निकाला कि ये सब श्रम-विभाजन के परिणाम समाज की प्रगति के प्रतीक हैं। आप स्पेन्सर की भाँति इस मत के हैं कि प्रकार्यात्मक जटिलता ही प्रगति की आधारशिला है। आपने इसे समाज तथा संस्कृति के विकास से सम्बन्धित पाया है।

2. सभ्यता का विकास (Development of Civilization)—दुर्खीम ने श्रम-विभाजन का दूसरा महत्त्वपूर्ण परिणाम सभ्यता का विकास बताया है। आपने लिखा है कि जनसंख्या के आकार और जनसंख्या के घनत्व मे वृद्धि से समाज मे श्रम विभाजन में वृद्धि होती है जिसका परिणाम सभ्यता का विकास होता है। आपने यह परिणाम निम्न कथन में स्पष्ट किया है, ''**सभ्यता स्वयं उन परिवर्तनों का आवश्यक परिणाम है जो समाजों के आकार तथा घनत्व में उत्पन्न होते है।**'' जनसंख्या की वृद्धि से व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्ध जटिल हो जाते हैं। व्यक्ति कठोर परिश्रम करता है। क्षमताओ का अधिकतम उपयोग करता है। इसी के फलस्वरूप सभ्यता और संस्कृति का विकास होता है। दुर्खीम के अनुसार सभ्यता श्रम-विभाजन का लक्ष्य नहीं है। सभ्यता तो श्रम विभाजन का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम है।

3. सामाजिक प्रगति (Social Progress)—परिवर्तन अवश्यम्भावी है। समाज हमेशा गतिशील रहता है। समाज कोई वस्तु नहीं है। यह तो एक प्रक्रिया है जो हमेशा चलती रहती है। दुर्खीम का मत है कि परिवर्तन से ही समाज की प्रगति होती है। आपने श्रम-विभाजन को परिवर्तन का कारण माना है तथा परिवर्तन को प्रगति का कारण। इस प्रकार प्रगति श्रम-विभाजन का परिणाम है। दुर्खीम लिखते हैं कि श्रम-विभाजन मे वृद्धि नहीं होगी तो परिवर्तन रुक जाएगा। परिवर्तन रुक जाएगा तो समाज की प्रगति भी रुक जाएगी। इस प्रकार से श्रम-विभाजन का परिणाम प्रगति है जो अवश्यम्भावी है।

4. सामाजिक परिवर्तन एवं व्यक्तिगत परिवर्तन (Social Change and Individual Change)—दुर्खीम ने सामाजिक परिवर्तन और व्यक्तिगत परिवर्तन की व्याख्या श्रम-विभाजन के आधार पर की है। आपका मत है कि जनसंख्या के घनत्व, जनसंख्या के आकार मे वृद्धि से जो परिवर्तन आते हैं ये श्रम-विभाजन में वृद्धि करके समाज को संरचना और सामाजिक सम्बन्धो में परिवर्तन करते हैं। इसके प्रभाव व्यक्ति पर भी पड़ते हैं। व्यक्ति के विचार, दृष्टिकोण, व्यवसाय को चुनने की स्वतन्त्रता, व्यक्तिवाद की भावना आदि में भी परिवर्तन आते हैं। परन्तु ये परिवर्तन श्रम-विभाजन के परिणाम हैं क्योंकि श्रम-विभाजन तो विशेषीकरण, पारस्परिक निर्भरता आदि का कारण है। ये कारण समाज तथा व्यक्ति मे परिवर्तन लाते हैं, इसलिए श्रम-विभाजन के परिणाम कहलाते हैं। दुर्खीम के अनुसार यह चौथा परिणाम है जो समाज तथा व्यक्ति का विकास भी है। सामाजिक परिवर्तन से ही व्यक्ति मे भी परिवर्तन आते हैं।

5. नवीन समूहों की उत्पत्ति और अन्तर्निर्भरता (Origin of New Groups and Interdependence)—दुर्खीम ने श्रम-विभाजन का एक और महत्त्वपूर्ण परिणाम समाज में नए-नए समूहों की उत्पत्ति तथा उन समूहों में परस्पर निर्भरता बताया है। आपने लिखा है कि श्रम-विभाजन से समाज में विशेषीकरण आता है। एक विशेष कार्य को करने के लिए विशेष व्यक्तियों का समूह संगठित होकर उस कार्य को सम्पन्न करता है। इस प्रकार से समाज में जितना अधिक श्रम-विभाजन होगा उतने ही अधिक विशिष्ट समूह समाज में बन जाते हैं। क्योंकि ये समूह समाज में अलग-अलग कार्य करते हैं इसलिए जो विशिष्ट कार्य एक विशिष्ट समूह करता है उस पर अन्य सभी आवश्यकताओं के लिए अन्य सभी विशिष्ट समूह निर्भर हो जाते हैं तथा वह समूह अपनी

सभी अन्य आवश्यकताओं के लिए अन्य समूहों पर निर्भर हो जाता है। इस प्रकार से श्रम- विभाजन के प्रभाव के परिणामस्वरूप समाज में अनेक नए-नए समूहों का निर्माण होता है और उनमें परस्पर निर्भरता भी बढ़ती जाती है।

6. व्यक्तिवादिता का विकास (Development of Individualism)—दुर्खीम ने श्रम-विभाजन के अनेक परिणाम बताए हैं उनमें से एक परिणाम व्यक्तिवादी विचारधारा बताया है। श्रम -विभाजन से समाज में सामूहिक चेतना तथा सामूहिक प्रतिनिधान का प्रभाव शिथिल होता जाता है तथा व्यक्तिगत चेतना में वृद्धि होती है। व्यक्तित्व का महत्त्व बढ़ता है। समूहवाद का ह्रास होता है। व्यक्तिगत विचार, दृष्टिकोण तथा स्वतन्त्रता बढ़ती है। इन सबका परिणाम व्यक्तिवादी विचारधारा को उन्नत तथा विकसित करने में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

7. प्रतिकारी कानून और नैतिक दबाव (Restitutive law and Moral Pressure)— श्रम-विभाजन का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम दमनकारी कानून से प्रतिकारी कानून के परिवर्तन के रूप में देख सकते हैं। जब समाज में श्रम-विभाजन का अभाव होता है अथवा अल्प श्रम विभाजन होता है तब समाज में प्रतिकारी कानून व्यवस्था होती है तथा सामूहिक चेतना का वर्चस्व होता है। लेकिन जब श्रम-विभाजन में वृद्धि होती है तो व्यक्तियों में विशेषीकरण बढ़ता है। इसके कारण समझौते के सम्बन्धों का विकास होता है। पारस्परिक सम्बन्ध जटिल बन जाते हैं। सामूहिक उत्तरदायित्व के स्थान पर व्यक्तिगत उत्तरदायित्व बढ़ जाते हैं। व्यक्तिवाद का महत्त्व बढ़ जाता है। व्यक्तियों के सम्बन्धों तथा अपराधों को नियन्त्रित, निर्देशित तथा संचालित करने के लिए दमनकारी कानून का स्थान प्रतिकारी कानून ले लेता है। सामूहिक हितों से सम्बन्धित नैतिकता का भी विकास होता है इससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, स्वार्थ आदि पर नियन्त्रण रखा जाता है। इस प्रकार से श्रम-विभाजन का एक परिणाम प्रतिकारी कानून का महत्त्व बढ़ना तथा नैतिकता का विकास होना है।

8. सावयवी सामाजिक एकता (Organic Social Solidensity)—दुर्खीम ने श्रम-विभाजन का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम समाज में सावयवी एकता की स्थापना बताया है। वास्तविकता तो ये है कि श्रम-विभाजन के सारे परिणामों की व्याख्या इस एक परिणाम 'सावयवी एकता' के अन्तर्गत की जा सकती है, जो इस प्रकार है। आपका मत है कि श्रम-विभाजन के अभाव अथवा अल्पता की स्थिति में समाज में यांत्रिक एकता होती है। जैसे-जैसे श्रम-विभाजन में वृद्धि होती है वैसे-वैसे समाज में विशेषीकरण, पारस्परिक निर्भरता, अन्यो यांश्रितता तथा सहयोग बढ़ता है। इसी सहयोग के परिणामस्वरूप समाज में सावयवी एकता स्थापित होती है जिससे समाज के विभिन्न व्यक्तियों, समूहों या अंगों में परस्पर प्रकार्यात्मक निर्भरता, संगठन एवं सहयोग मिलता है। इसी को दुर्खीम ने श्रम-विभाजन का परिणाम सावयवी सामाजिक एकता कहा है।

श्रम-विभाजन के असामान्य स्वरूप

(Abnormal Forms of Divsion of Labour)

दुर्खीम ने आलोच्य पुस्तक के तीसरे और अन्तिम खण्ड में श्रम-विभाजन के तीन महत्त्वपूर्ण असामान्य स्वरूपों की विवेचना की है। आपका मत है कि जहाँ श्रम-विभाजन के अनेक

सगठनात्मक परिणाम है वहाँ कुछ व्याधिकीय परिणाम भी हैं। दुर्खीम ने श्रम-विभाजन के व्याधिकीय परिणाम उनको कहा है जो समाज मे एकता पैदा नहीं करते हैं। आपने निम्नांकित श्रम-विभाजन के असामान्य स्वरूपो का उल्लेख किया है--

1. आदर्शहीन श्रम-विभाजन,
2. बलात् श्रम-विभाजन, और
3. व्यक्तिगत कार्य की अपर्याप्तता।

1. आदर्शहीन श्रम-विभाजन (Idealless Division of Labour)--जब समाज मे श्रम-विभाजन विभिन्न सामाजिक कार्यो मे तालमेल तथा परस्पर सामजस्य स्थापित नही करता है तब वह एक-दूसरे के कार्य तथा विकास मे बाधाएँ उत्पन्न करता है। दुर्खीम के अनुसार ऐसा विशेष रूप से आर्थिक क्षेत्रो तथा विज्ञान के क्षेत्रो मे अव्यवस्थित श्रम-विभाजन के फलस्वरूप होता है। दुर्खीम ने उस श्रम-विभाजन को आदर्शहीन श्रम-विभाजन कहा है जो श्रम-विभाजन विभिन्न प्रकार्यों मे असामजस्य उत्पन्न करता है। यह आदर्शहीन श्रम विभाजन आर्थिक क्षेत्र तथा वैज्ञानिक क्षेत्र मे पाया जाता है।

1.1. आर्थिक क्षेत्र में आदर्शहीन श्रम-विभाजन (Idealless Division of Labour in Economic Field)--जब उत्पादन के सगठनो, औद्योगिक केन्द्रो, कारखानो आदि मे श्रम विभाजन होता है तो उससे विशेषीकरण आता है जो उत्पादन मे लगे मालिक और मजदूरो मे सघर्ष पैदा कर देता है। इनमे परस्पर, व्यापारिक तथा अन्य झगडे होते हैं। इस प्रकार श्रम-विभाजन आर्थिक क्षेत्रो तथा विभिन्न सामाजिक इकाइयो मे तनाव, सघर्ष तथा असन्तुलन पैदा कर देता है। लाभ के स्थान पर हानि होती है। सामाजिक सावयवी एकता पर आघात लगता है। सहयोग का स्थान पारस्परिक संघर्ष, हडताल, तालाबन्दी आदि ले लेते हैं। इसी को दुर्खीम ने आर्थिक क्षेत्र में आदर्शहीन श्रम-विभाजन कहा है।

1.2. वैज्ञानिक क्षेत्र में आदर्शहीन श्रम-विभाजन (Idealless Division of Labour in Scientific Field)--दूसरा आदर्शहीन श्रम-विभाजन आपने वैज्ञानिक क्षेत्र मे बताया है। पहिले सभी विज्ञान परस्पर सम्बन्धित थे। अलग-अलग नहीं थे। परन्तु अब विज्ञानो मे श्रम-विभाजन के फलस्वरूप बहुत अधिक विशेषीकरण आ गया है। एक वैज्ञानिक अब केवल एक विज्ञान अथवा उसकी भी एक शाखा मात्र से जुड़ा हुआ है। इसने विज्ञानो में परस्पर दूरियाँ बढ़ा दी हैं। सावयवी एकता स्थापित नहीं होने के कारण विभिन्न विज्ञानो के सम्बन्ध टूट गए हैं। दुर्खीम के अनुसार श्रम-विभाजन ने विज्ञान मे सघर्ष, तथा दूरियाँ बढ़ा दी हैं।

2. बलात् श्रम-विभाजन (Forced Division of Labour)--दुर्खीम का मत है कि बाहर से थोपा गया श्रम-विभाजन बलात् श्रम-विभाजन है। व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार कार्य को चुनने तथा त्यागने की स्वतन्त्रता नहीं होती है। उससे शक्ति से काम लिया जाता है। वह पूर्व निश्चित कार्यों को करने के लिए बाध्य रहता है। आपका मत है कि श्रम विभाजन से एकता स्थापित करना सरल कार्य नहीं है। यह तभी स्थापित हो सकती है जब समाज के सभी लोगो को उनकी योग्यता, कार्यकुशलता, रुचि आदि के अनुसार व्यवसाय मिले जो जाति व्यवस्था तथा वर्ग-

व्यवस्था में भी नहीं मिलता है। यह श्रम-विभाजन का दुष्कार्य है जिसे बलात् श्रम-विभाजन भी कहते हैं।

3. व्यक्तिगत कार्य की अपर्याप्तता (Insufficientness of Individual Work)—दुर्खीम के अनुसार श्रम-विभाजन का तीसरा असामान्य कार्य समाज के सदस्यों को पर्याप्त मात्रा में कार्य प्रदान नहीं कर पाता है। श्रम-विभाजन समाज में एकता पैदा नहीं कर सकता जब तक कि कार्य करने वालों को काफी काम न दिया जाए। व्यक्ति को क्रियाओं के लिए पर्याप्त सामग्री प्राप्त होनी चाहिए। श्रम-विभाजन के कारण ऐसा नहीं हो पाता है। व्यावसायिक और औद्योगिक संस्थाओं में श्रम का विभाजन ठीक से नहीं होता है। लोगों में असन्तोष होता है। अनुपयोगी कार्यों की अधिकता होती है। कार्यों का विभाजन अनुपयोगी होता है। इससे व्यवस्था स्थापित न होकर अव्यवस्था बनी रहती है। जब श्रम-विभाजन अव्यवस्था और असन्तुलन पैदा करता है और सावयवी एकता पैदा नहीं कर पाता है तो यह व्यक्तिगत कार्य की अपर्याप्तता कहलाती है। श्रम-विभाजन आवश्यक नहीं है कि एकता तथा संगठन ही पैदा करे। यह असंगठन, असन्तुलन तथा अव्यवस्था भी फैलाता है।

आलोचनात्मक मूल्याँकन
(Critical Evaluation)

'समाज में श्रम-विभाजन' दुर्खीम की प्रथम कृति है। इसमें कमियों का होना स्वाभाविक है। इस विनिबन्ध की आलोचना विभिन्न समाजशास्त्रियों—गिन्सबर्ग, बीरस्टैड, मर्टन, बोगार्डस, रेमण्ड एरन आदि ने की है। इन विभिन्न विद्वानों ने दुर्खीम के इस शोध प्रबन्ध का कई बिन्दुओं—तथ्यों, अवधारणाओं, पद्धति, वर्गीकरण, कारणों, प्रभावों, सिद्धान्त तथा निष्कर्षों के आधार पर मूल्याँकन तथा आलोचना की है, जो निम्न प्रकार है—

1. अस्पष्ट तथ्य (Vague Facts)—दुर्खीम ने दावा किया है कि आपका अध्ययन समाजशास्त्रीय है तथा इसमें जो तथ्य दिये गये हैं, वे समाजशास्त्रीय हैं। परन्तु अनेक समाजशास्त्रियों का कहना है कि आप स्पष्ट रूप से सामाजिक तथ्यों तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों में अन्तर नहीं कर पाये हैं। दुर्खीम के एकता तथा सामाजिक एकता का अन्तर अवैज्ञानिक है। एकता एक मानसिक सत्य तथा तथ्य है। एकता भावात्मक तथ्य है न कि समाजशास्त्रीय।

2. अस्पष्ट अवधारणाएँ (Vague Concepts)—दुर्खीम द्वारा इस अध्ययन में प्रयुक्त अवधारणाएँ—प्रकार्य, एकता, खण्डात्मक समाज, सामूहिक चेतना आदि की मर्टन, रेमण्ड, एरन आदि ने आलोचनाएँ की हैं। मर्टन का मत है कि दुर्खीम ने उद्देश्य के स्थान पर प्रकार्य शब्द का प्रयोग किया है, यह अनुपयुक्त है। इसी प्रकार एकता की अवधारणा को दुर्खीम ने विकसित किया है तथा इसे सामाजिक तथ्य कहा है। वास्तव में यह मनोवैज्ञानिक अवधारणा है। आपने यान्त्रिक एकता वाले समाजों को खण्डात्मक समाज कहा है। एरन ने आपत्ति उठाई है और कहा है कि आदिम समाजों तथा यांत्रिक एकता वाले समाजों को खण्डात्मक समाज कहना अवैज्ञानिक तथा त्रुटिपूर्ण है। जाति-व्यवस्था तथा वर्ग-व्यवस्था वाले समाज खण्डात्मक समाज हैं।

सामूहिक चेतना की अवधारणा की भी समाजशास्त्रियों ने आलोचना की है। सामूहिक चेतना समूह-मन का पर्यायवाची है तथा यह एक मनोवैज्ञानिक अवधारणा है न कि समाजशास्त्रीय अवधारणा है।

3. अव्यावहारिक अध्ययन पद्धति (Unworkable Method of Study)—मर्टन और **बर्गेस** दुर्खीम द्वारा काम में ली गई अध्ययन पद्धति से असहमत हैं। आप दोनों की आपत्ति है कि दुर्खीम ने श्रम विभाजन और सामाजिक एकता के अध्ययन में भौतिक विज्ञान की अध्ययन पद्धति का मनमाने ढंग से प्रयोग किया है, वह अवैज्ञानिक तथा अविश्वसनीय तथा अप्रमाणित प्रयोग है।

4. त्रुटिपूर्ण दृष्टिकोण (Faulty Perspective)—एमिल सेनीपल—स्मुलियन, मर्टन आदि समाजशास्त्रियों ने दुर्खीम के समूहवादी दृष्टिकोण की कटु आलोचना की है। इन्होंने कहा कि दुर्खीम अपने इस सम्पूर्ण विनिबन्ध में यह सिद्ध करने का पूर्ण प्रयास करते हैं कि समाज सब कुछ है, सर्वोपरि है। समाज व्यक्ति का निर्माण करता है। व्यक्ति का अस्तित्व समाज के लिए कुछ नहीं है। यह धारणा तथा दृष्टिकोण अवैज्ञानिक तथा तर्कहीन है। टार्डे ने आपत्ति उठाई है कि दुर्खीम का यह दृष्टिकोण अतिवादी है तथा भ्रामक है। टार्डे ने लिखा है, *''मैं मानता हूँ कि मेरे लिए यह समझना कठिन है कि व्यक्तियों को निकाल देने के बाद समाज जैसी कोई वस्तु शेष रह जायेगी। यदि किसी विश्वविद्यालय के छात्रों तथा अध्यापकों को अलग कर दिया जाये तो मैं नहीं समझता कि वहाँ नाम के अतिरिक्त भी कुछ शेष रह जायेगा।''*

सोरोकिन, टार्डे के मत का समर्थन करते हैं तथा लिखते हैं, *''संक्षिप्त में दुर्खीम की यह वास्तविकता वैज्ञानिकतानुसार गलत है तथा इसे त्याग देना चाहिए, यह कुछ नहीं है, केवल एक अनुचित रहस्यवाद है।''* मर्टन आदि अनेक विद्वानों ने भी दुर्खीम के इस दृष्टिकोण को त्रुटिपूर्ण बताया है।

5. अतार्किक वर्गीकरण (Illogical Classification)— *मर्टन, स्मुलियन, बीरस्टीड* आदि समाजशास्त्री दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित *वर्गीकरणों को अनुचित, अतार्किक और अस्पष्ट* मानते हैं।

5.1. मर्टन तथा स्मुलियन दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित व्यक्तिगत नैतिकता तथा सामूहिक नैतिकता के वर्गीकरण को अस्पष्ट मानते हैं तथा लिखते हैं कि नैतिकता तो नैतिकता है उसको व्यक्तिगत तथा सामूहिक में बाँटा नहीं जा सकता है। जो कुछ व्यक्ति के प्रति नैतिकता का *कर्तव्यपूर्ण आचरण है वह अन्ततोगत्वा व्यक्ति* को समाज के प्रति हो तो नैतिकता को प्रकट करता है।

5.2. बीरस्टीड ने दुर्खीम के प्राचीन तथा आधुनिक समाजों के किये गये वर्गीकरण पर आपत्ति उठाई है। बीरस्टीड का विरोध यह है कि इन दोनों प्रकार के समाजों के वर्गीकरण के आधार—समानता तथा विभेद उचित नहीं हैं। आपका मत है कि सभी समाजों में समानता और भिन्नता के लक्षण कुछ मात्रा में अवश्य पाये जाते हैं।

5.3. मर्टन तथा **स्मुलियन** की आपत्ति है कि दुर्खीम ने कानून और एकता के विभिन्न प्रकारों या वर्गीकरणों में विश्वसनीय सम्बन्ध स्थापित नहीं किया है। यह दुर्खीम की कमी रही है।

5.4. अनेक समाजशास्त्रियों की आपत्ति है कि दुर्खीम ने यांत्रिक एकता एवं सावयवी एकता की जो विशेषताएँ बताई हैं वे विकसित तथा ग्रामीण समाजों में भी मिलती हैं। इसलिए इनका 'एकता के दो प्रकार' या स्वरूप भी पूर्ण स्पष्ट नहीं है।

6. कारणों पर आपत्ति (Objection on Causes)—अनेक समाजशास्त्रियों—सोरोकिन, मर्टन, एरन, गिन्सबर्ग, बोगार्डस और स्मुलियन आदि ने दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित श्रम-विभाजन के सिद्धान्त के कारणों पर आपत्ति उठाई है। इन विद्वानों का मत है कि दुर्खीम ने श्रम-विभाजन का प्राथमिक कारण जनसंख्या का आकार और जनसंख्या का घनत्व में वृद्धि को माना है लेकिन ये कारण जैविक हैं। इस प्रकार से इन जैविक कारणों पर आधारित व्याख्या भी जीवशास्त्रीय व्याख्या हो जाती है न कि समाजशास्त्रीय। एमिल बेनॉयत-स्मुलियन ने निम्न शब्दों में अपनी आपत्ति व्यक्त की है—

"स्पष्ट रूप से यह (श्रम-विभाजन) समाजशास्त्रीय की अपेक्षा एक जीवशास्त्रीय व्याख्या है।"

7. कारणों और परिणामों में अस्पष्टता (*Vagueness in Causes and Result*)—दुर्खीम ने अपनी पुस्तक में श्रम-विभाजन के महत्त्वपूर्ण आठ परिणामों का उल्लेख किया है। लेकिन आपने स्पष्ट रूप में श्रम-विभाजन को विभिन्न परिणामों का कारण निश्चित करके व्याख्या को अस्पष्ट तथा अवैज्ञानिक बना दिया है। आप सभ्यता और प्रगति को श्रम-विभाजन का परिणाम मानते हैं, लेकिन कोई भी सम्प्रदाय इसको नहीं मानता है। सभ्यता और संस्कृति तथा समाज की प्रगति के अनेक कारण हैं। श्रम-विभाजन को इसका एकमात्र कारण मानना गलत है। सोरोकिन का मत है कि समाज से सम्बन्धित एक कारण को विभिन्न परिणामों के लिए उत्तरदायी ठहराना अवैज्ञानिक तथा तर्कहीन है। क्योंकि सामाजिक व्यवस्था में अनेक कारक परस्पर अन्योन्याश्रित होते हैं। यही आलोचना श्रम-विभाजन के अन्य परिणामों—प्रकार्यात्मक स्वतन्त्रता, सामाजिक तथा व्यक्तिगत परिवर्तन, व्यक्तिवादी विचारधारा, प्रतिकारी कानून और नैतिक दबाव एवं सावयवी सामाजिक एकता के सम्बन्ध में भी विद्वानों ने की है।

8. उद्‌विकासीय सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Evolutionary Theory)—मर्टन ने दुर्खीम के सामाजिक उद्‌विकासीय सिद्धान्त की आलोचना की है। आपका कहना है कि दुर्खीम ने विकास के क्रम में एक छोर पर प्राचीन या यांत्रिक एकता वाले समाजों को रखा है तथा दूसरे छोर पर आधुनिक या सावयवी एकता वाले समाजों को रखा है। दुर्खीम ने समाजों का उद्‌विकास रेखीय, सरल से जटिल, समानता से विभिन्नता आदि के द्वारा समझाया है। इसका कारण श्रम-विभाजन बताया है। अनेक विद्वानों ने मत व्यक्त किया है कि सामाजिक परिवर्तन अनेक कारणों से होता है। मर्टन ने भी यही आपत्ति उठाई है। सोरोकिन का कथन है कि सामाजिक परिवर्तन का एक कारकीय सिद्धान्त हो ही नहीं सकता है। सामाजिक परिवर्तन

श्रम-विभाजन के अतिरिक्त अनेक कारणा का परिणाम होता है। सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या मैकीवर, मजूमदार, मदान, मैलिनोव्स्की, रेडक्लिफ-ब्राउन आदि के अनुसार, उद्विकासीय सिद्धान्त से नहीं की जा सकती है, जो दुर्खीम ने की है। वह सत्य तथा प्रमाणित नहीं है।

दुर्खीम की उपर्युक्त आलोचनाओं का यह अर्थ कदापि नहीं लगा लेना चाहिए कि उनका श्रम-विभाजन का सिद्धान्त निरर्थक तथा अनुपयोगी है। आपकी यह कृति समाजशास्त्र मे एक अमूल्य योगदान मानी जाती रही है और भविष्य मे भी मानी जाती रहेगी। इस सन्दर्भ में जॉर्ज सिम्पसन का निम्न कथन विचारणीय है, आपने दुर्खीम की इस आलोच्य पुस्तक के आमुख म दिया है—

"उस व्यक्ति (दुर्खीम) की प्रथम महान् रचना है जिसने लगभग चौथाई शताब्दी तक फ्रांसीसी विचारधारा पर नियन्त्रण किया है और जिसका प्रभाव भी घटने के स्थान पर बढ़ रहा है, यह पुस्तक आज भी ऐतिहासिक और प्रसग के दृष्टिकोण से उन सभी को पढ़नी चाहिए जो सामाजिक विचारधारा के ज्ञान तथा सामाजिक समस्याओ मे रुचि रखते हैं।"

❒

अध्याय-9

वेबर : प्रोटेस्टैंट आचार और पूँजीवाद की भावना

(Weber : The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism)

समाजशास्त्र में मैक्स वेबर के योगदानों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान आपके द्वारा किये गये धर्म सम्बन्धी अध्ययन को माना जाता है। आपने विश्व के प्रमुख छः धर्मों—हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, कन्फ्यूशियस, इस्लाम और यहूदी धर्म का गहन अध्ययन किया तथा इनकी समाजशास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की है। वेबर द्वारा किए गए धर्म सम्बन्धी अध्ययन एवं व्याख्याएँ आपकी विश्वविख्यात कृतियों—(1) दा प्रोटेस्टेण्ट एथिक एण्ड दा स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म, (2) दा रिलिजन ऑफ चाइना, (3) दा रिलिजन ऑफ इण्डिया और (4) एन्शियण्ट जूडाइज्म में मिलते हैं। ये सभी कृतियाँ जर्मन भाषा में लिखी पुस्तकों के अंग्रेजी अनुवाद हैं। आपने विश्व के प्रमुख धर्मों का अध्ययन धर्म तथा सामाजिक घटनाओं के पारस्परिक गुण-सम्बन्ध को मालूम करने के लिए किया था। मैक्स वेबर का अनुमान था कि सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में किसी एक कारक को अध्ययन की सुविधा के लिए कारण मान कर अध्ययन किया जा सकता है। परन्तु किसी एक कारक को (जैसा कि कार्ल मार्क्स ने आर्थिकी को माना है) निर्णायक सिद्ध करना गम्भीर भूल करना है। वेबर के अनुसार समाज में विभिन्न कारक परस्पर एक-दूसरे से बहुत अधिक गुम्फित होते हैं और ये एक-दूसरे से अलग नहीं हो सकते हैं। मार्क्स ने धर्म का निर्णायक कारक—आर्थिकी को बताया है। मैक्स वेबर ने मार्क्स के इस सामान्यीकरण एवं निष्कर्ष का परीक्षण विश्व के छः प्रमुख धर्मों को आर्थिकी का कारण मान कर किया तथा सिद्ध कर दिया कि आर्थिक व्यवस्था का निर्णायक धर्म है।

वेबर का प्रमुख उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि समाज में विभिन्न कारक, घटनाएँ, विशेषताएँ आदि परस्पर एक-दूसरे से प्रभावित होती हैं तथा एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। सोरोकिन ने भी लिखा है कि मैक्स वेबर ने विशेष रूप से यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार से भारत, चीन, प्राचीन विश्व, मध्य काल और वर्तमान समय के आर्थिक संगठनों के लक्षण अपने-अपने सम्बन्धित धर्मों, जादू, परम्पराओं अथवा तर्कनापरकता की विशेषताओं से नियंत्रित, निर्देशित, संचालित तथा अनुकूलित होते हैं।

वेबर ने अपने अध्ययनो के आधार पर प्रमुख रूप से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि आधुनिक पूँजीवाद सबसे पहिले पश्चिम के देशो मे ही क्यों आया, अन्य देशों में क्यों नहीं आया? इसके लिए आपने विश्व के प्रमुख छः धर्मो के धार्मिक लक्षणो, विशेषताओ, आचार संहिताओं आदि का तुलनात्मक अध्ययन किया और धर्म का प्रभाव सामाजिक सगठनो तथा आर्थिकी पर क्या पड़ा, इसका विश्लेषण किया।

वेबर : धर्म का समाजशास्त्र
(Weber . Sociology of Religion)

मैक्स वेबर ने पूर्वी जर्मनी मे खेतिहर श्रमिकों और स्टॉक एक्सचेन्ज का आनुभविक अध्ययन किया। प्रोटेस्टेण्ट एथिक के अध्ययन का स्रोत भी यही था। आपने धर्म के समाजशास्त्र को तीन खण्डो मे प्रकाशित किया था जिसमे उपर्युक्त वर्णित अध्ययन तथा कन्फ्यूशियस, हिन्दू, बौद्ध, ईसाई और यहूदी धर्मो का अध्ययन भी सम्मिलित किया है। वेबर द्वारा किए गए धर्मों का अध्ययन समाजशास्त्र मे अग्रणी एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। आपका प्रारम्भ मे उद्देश्य विभिन्न सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन करने का था लेकिन बाद मे आपने धर्म के समाजशास्त्र को विकसित तथा स्थापित कर दिया। आपके धर्म के आनुभविक अध्ययन का उद्देश्य यह मालूम करना था कि विभिन्न सभ्यताओ के विकास मे धर्म सम्बन्धी कारको की क्या भूमिका है।

धर्म के समाजशास्त्र की विषयवस्तु (Subject Matter of Sociology of Religion)—प्रत्येक धर्म एक विशेष प्रकार के सामाजिक व्यवहार को जन्म देता है। धर्म के द्वारा उत्पन्न तथा धर्म-जनित अन्तःक्रियाओ और व्यवहारो का अध्ययन ही समाजशास्त्र की विषयवस्तु होती है।

जुलियेन फ्रेण्ड (Julien Freund) ने वेबर के धर्म के समाजशास्त्र की निम्न व्याख्या की है—**"जब कोई धर्मावलम्बी किसी धर्म के सन्दर्भ में अर्थपूर्ण व्यवहार करता है तो उसका अध्ययन धर्म के समाजशास्त्र के अन्तर्गत आता है।"** फ्रेण्ड लिखते हैं कि धर्म का समाजशास्त्र केवल धार्मिक व्यवहार का मानव की लौकिक गतिविधि के रूप मे क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन करता है। वेबर ने धर्म के समाजशास्त्र को विशेष प्राथमिकता अपने जीवन के अन्तिम वर्षों मे दी थी। आपने यह अन्वेषण करने का प्रयास किया था कि धार्मिक व्यवहार का प्रभाव आचार और अर्थव्यवस्था पर कितना पड़ता है और कैसा पडता है। आपकी मान्यता थी कि धार्मिक व्यवहार मे तर्कनापरकता और तार्किकता होती है। आपने धार्मिक व्यवहारो के द्वैतीयक प्रभावों को शिक्षा और राजनीति में भी देखने का प्रयास किया था। आपके अनुसार यही सब धर्म के समाजशास्त्र की विषयवस्तु है।

धर्म के प्रकार (Types of Religion)

वेबर ने धार्मिक व्यवहारों के आधार पर धर्म के निम्न दो प्रकार बताए हैं—(1) मुक्ति धर्म और (2) कर्मकाण्डीय धर्म।

(1) मुक्ति धर्म या विश्वास मूलकधर्म (Religion of Conviction or Salvation)—वह व्यवहार जो मोक्ष से सम्बन्धित होता है तथा व्यवहार करने वाले धर्मावलम्बी को यह विश्वास होता है कि अमुक-अमुक क्रियाएँ करने से उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाएगी—मुक्ति

धर्म कहलाता है। वेबर के अनुसार मोक्ष मार्गीय धर्मावलम्बी निम्न तीन प्रकार की क्रियाएँ करते हैं—

1 मोक्ष मार्गीय धर्मावलम्बी कर्मकाण्डीय या अनुष्ठान सम्बन्धी क्रियाएँ करते हैं। इसमें उनके व्यक्तिगत रहस्यों और करिश्मों में वृद्धि हो जाती है।

2 ये धर्मावलम्बी सभी के साथ भाईचारा रखते हैं, स्नेह से देखते हैं, नीतिपूर्ण व्यवहार करते हैं जिससे उनकी समाज में प्रतिष्ठा एवं सम्मान बढ़ जाता है।

3 इन मुक्ति धर्मावलम्बियों का विश्वास होता है कि ऐसा करने से वह मोक्ष के निकट पहुँच जायेंगे। ये स्वयं को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करते हैं। पूर्णता की प्राप्ति के लिए कोशिश करते हैं।

वेबर इन मोक्ष प्राप्त करने वाले धर्मावलम्बियों को सामान्य जीवन से उच्च तथा असाधारण धार्मिक जीवन से निम्न अर्थात् मध्यम स्थिति वाला मानते हैं। ये अनुयायी न तो पूर्णरूप से संसार से पृथक् हो पाते हैं और न ही मोक्ष प्राप्त कर पाते हैं। परन्तु ऐसे व्यक्ति रहस्यपूर्ण या करिश्माई बन जाते हैं। वेबर के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के लिए किए प्रयास एवं क्रियाओं के जो प्रभाव अर्थव्यवस्था, नैतिकता तथा राजनीति पर पड़ते हैं वे धर्म के समाजशास्त्र के अध्ययन के अन्तर्गत आते हैं।

(2) कर्मकाण्डीय धर्म (Ritualistic Religion)—वेबर के अनुसार इस धर्म के अन्तर्गत लौकिक व्यवहार आते हैं। व्यक्ति पूर्ण रूप से कर्मकाण्डी होता है तथा दुनिया के क्रियाकलापों को स्वीकार करता है तथा उनसे अनुकूलन भी करता है। चीन का कन्फ्यूशियस धर्म कर्मकाण्डीय है। इस धर्म की परम्पराओं की बाध्यता इतनी कठोर होती है कि व्यक्ति की नैतिकता पूर्ण रूप से धार्मिक व्यवहारों तक सीमित होकर रह जाती है। इन अनुयायियों के लिए दुनिया का अर्थ द्वैतीयक हो जाता है एवं कर्मकाण्ड तथा लौकिक व्यवहार प्राथमिक हो जाते हैं। गैर धार्मिक लौकिक हो जाते हैं। धार्मिक संस्कार इनके लिए मात्र संस्कार होते हैं। ये धर्मावलम्बी धर्म के रहस्य को भूल जाते हैं। यहूदी धर्म में भी कर्मकाण्डीय व्यवहार देखे जा सकते हैं। कर्मकाण्डीय धर्म ऐसे हैं जो एक सम्प्रदाय की तरह से स्थापित होते हैं और इनके विश्वास तथा धारणाएँ रूढ़िवादी होती हैं।

धर्म एवं संघर्ष
(Religion and Conflict)

वेबर ने धर्म से उत्पन्न होने वाले संघर्षों के निम्न छः प्रकार बताए हैं—

(1) सामाजिक संघर्ष (Social Conflict)—मुक्ति धर्म के कारण समाज में संघर्ष पैदा हो जाते हैं क्योंकि यह धर्म अनुयायियों को पारलौकिक क्रिया एवं व्यवहार करने के लिए कहता है। यह धर्म अवतारी होता है। अपने बन्धु-बान्धवों को त्यागने की सलाह देता है। अनुयायियों को सार्वभौमिक दान देने के लिए बाध्य करता है। ईसा मसीह ने भी अपने शिष्यों को ऐसा करने का आदेश दिया था। इससे मोक्ष धर्म पालक का अपने सम्बन्धियों तथा अन्य लोगों से मन-मुटाव तथा झगड़ा हो जाता है जो बाद में संघर्ष का रूप धारण कर लेता है।

(2) आर्थिक संघर्ष (Economic Conflict)—मुक्ति धर्म तथा अनेक धर्म आर्थिक क्षेत्र में संघर्ष पैदा करते हैं। अनेक धर्म ब्याज लेना पाप मानते हैं। दान देने को प्रोत्साहित करते हैं। निम्नतम आवश्यकताओं को पूर्ण करते हुए जीवन निर्वाह करने का प्रवचन देते हैं। धर्म अनेक व्यवस्थाओं को करना पाप मानता है तथा उन्हें निषिद्ध कर देता है। इस प्रकार से आधुनिक समय में धर्म के ये निबन्ध तथा मान्यताएँ कदम कदम पर संघर्ष पैदा कर देते हैं। वेबर के अनुसार हिन्दू, बौद्ध, कन्फ्यूशियस और इस्लाम धर्म आधुनिक पूँजीवाद का विरोधी है क्योंकि इन धर्मों के अनुसार ब्याज लेना, धन संचय करना आदि पाप है। ये मूल्य पूँजीवाद के विरोधी है।

(3) राजनैतिक संघर्ष (Political Conflict)—राजनैतिक संघर्ष का कई बार कारण धर्म होता है। अनेक धार्मिक युद्ध इसके प्रमाण है। साम्प्रदायिक झगड़े भारत का विभाजन, हिन्दू-मुसलमानों का झगड़ा आदि इसके उदाहरण हैं।

(4) सांस्कृतिक संघर्ष (Cultural Conflict)—कला के क्षेत्र में धर्म के कारण संघर्ष पैदा हो जाते हैं। अनेक धर्म नृत्य, संगीत और मूर्ति पूजा के कट्टर विरोधी होते हैं। जो धर्म मूर्ति पूजक नहीं है वह मूर्ति-पूजक धर्मों से संघर्ष करते हैं। उनका विरोध करते हैं। मूर्ति पूजक के साथ कुछ धर्म जैसे—इस्लाम धर्म विवाह नहीं करते है।

(5) वेबर ने कामवासना को एक संवेगात्मक शक्ति के रूप में देखा है। आपने धर्म के समाजशास्त्रीय विवेचन में यौन सम्बन्धों, कामुकता तथा कामवासना को संवेगात्मक शक्ति के रूप में विद्यमान पाया जो लोगों में तनाव तथा संघर्ष को उत्पन्न करती है।

(6) शैक्षिक संघर्ष (Educational Conflict)—वेबर ने धर्म के कारण ज्ञान के क्षेत्र में भी तनाव एवं संघर्ष को पाया। आपने कहा कि पुरोहितों ने समाज में प्रभावपूर्ण पद को प्राप्त करके ईश्वर और धर्मावलम्बियों के बीच मध्यस्थता की प्रभावपूर्ण भूमिका निभा कर जनता का शोषण किया है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि विभिन्न कालों में पुरोहितों ने जनसाधारण पर अनेक प्रतिबन्ध लगाए हैं, तथा तनाव एवं संघर्ष पैदा किए हैं। हिन्दू धर्म में ब्राह्मण पुरोहितों ने अछूतों के लिए शिक्षा को निषिद्ध किया। निम्न जातियों को भी शिक्षा से दूर रखा, पिछड़े वर्ग या जातियाँ ऊपर नहीं उठ पाईं। इससे संघर्ष पैदा हुए हैं।

धर्म से सम्बन्धित अवधारणाएँ (Concepts related to Religion)

वेबर ने धर्म के समाजशास्त्र का विकास विश्व के विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन एवं विश्लेषण करने के साथ-साथ धर्म से सम्बन्धित कुछ अवधारणाओं पर भी प्रकाश डाला है। धर्म के समाजशास्त्र को समझने के लिए निम्नांकित कतिपय अवधारणाओं का अर्थ जान लेना उपयोगी होगा।

(1) अलौकिक (Supernatural)—वेबर ने धर्म के समाजशास्त्र में अलौकिक शक्तियों, ईश्वर, देवी-देवता, लाभकारी एवं अनिष्टकारी आत्माओं की अवधारणाओं को महत्त्वपूर्ण माना है। आपके अनुसार इनके द्वारा ही किसी समाज के धर्म को ठीक से समझा जा सकता है। इन विभिन्न पारलौकिक शक्तियों के प्रभावों को समाज की विभिन्न घटनाओं, क्रियाकलापों, आपात स्थिति आदि में देख सकते हैं। इन अलौकिक शक्तियों की दो प्रथाएँ हैं,

कुछ तो संसार के सभी समाजों में पूजे जाते हैं, जैसे—ईश्वर, भगवान तथा कुछ स्थानीय देवी-देवता होते हैं जो परिवार, नगर या गाँव के स्तर पर पूजे जाते हैं। वेबर ने स्पष्ट किया है कि हिन्दू धर्म बहु-ईश्वरवादी है तो कुछ धर्म, जैसे—इस्लाम एवं यहूदी धर्म एक-ईश्वरवादी धर्म हैं।

(2) प्रतीक (Symbol)—देवी-देवता, ईश्वर, अलौकिक शक्ति आदि के सम्बन्ध में मानना है कि ये घटनाओं, क्रियाकलापों आदि को प्रभावित करती हैं। ये शक्तियाँ अमूर्त और अदृश्य होती हैं जिनको समझने, आराधना करने आदि के लिए समाज उन्हें प्रतीकों के रूप दे देता है। इनको अभिव्यक्त करने के लिए प्रतीकों की सहायता ली जाती है। इसीलिए धर्मों में प्रतीकों का विशेष महत्त्व है।

(3) सामर्थ्य (Competence)—वेबर ने लिखा है कि अलौकिक शक्ति को सम्बन्धित धर्म वाले मानते हैं कि वह सर्वत्र विद्यमान है, सर्व शक्तिमान है। वह कुछ भी कर सकने की सामर्थ्य रखती है। यही संसार की पालक तथा कर्त्ता है। इन पारलौकिक शक्तियों एवं सामर्थ्य के अनुसार सम्बन्धित धर्म के अनुयायी क्रमानुसार इनकी पूजा-पाठ करते हैं। देवी देवताओं में उनका स्थान सर्वोच्च बताया है।

(4) जादुई तत्त्व (Magical Elements)—विश्व के सभी धर्मों में प्रार्थना, अर्चना, पूजा पाठ आदि के अतिरिक्त जादुई तत्त्व भी होता है। जनसाधारण ये मानते हैं कि पूजा-पाठ से जो कार्य सिद्ध होते हैं उनको ईश्वर के द्वारा पुरोहित करवाता है। अगर कोई कार्य नहीं हो पाता है तो वह पुरोहित में कुछ कमी होने का परिणाम माना जाता है। धर्मावलम्बियों की धारणा होती है कि धर्म में कोई-न-कोई चमत्कारी शक्ति है जो असम्भव कार्य को जादुई शक्ति के द्वारा पूर्ण कर देती है। कार्य सिद्ध नहीं होने पर अनुयायी ईश्वर को दोष न देकर पुरोहित के द्वारा की गई किसी त्रुटि का दोष मानते हैं।

(5) पाप (Sin)—वेबर ने धर्म से सम्बन्धित पाप की अवधारणा पर प्रकाश डाला है। आपने धर्म के तुलनात्मक अध्ययन में पाया कि पाप की अवधारणा के कारण धार्मिक सोच में परिवर्तन आया। अगर कोई धार्मिक नियमों, व्यवहारों, कृत्यों, संस्कारों का उल्लंघन करेगा तो उसे अलौकिक शक्ति के क्रोध को भोगना पड़ेगा। धर्म-विरुद्ध कार्य पाप है और उसका दण्ड मिलता है। हिन्दू धर्म में पिछले जन्म के कर्मों का फल इस वर्तमान जन्म में भोगना पड़ता है। अगर कोई पिछले जन्म में धर्म-विरोधी कर्म (पाप) करेगा तो इस जन्म में भुगतने पड़ेंगे। इस जन्म के पाप पूर्ण कुकर्मों के फल अगले जन्म में भुगतने पड़ेंगे। पाप की अवधारणा के फलस्वरूप अनुयायियों में भलाई-बुराई, सत कर्म, अच्छा-बुरा, हिंसा-अहिंसा आदि से सम्बन्धित चेतना, विश्वास, धारणाओं का विकास हुआ।

(6) निषेध (Taboo)—वेबर ने निषेध को धर्म से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण अवधारणा माना है। धर्म को समझने के लिए निषेधों की व्याख्या तो नहीं की है परन्तु इसके गुण-दोषों तथा नैतिक और व्यावहारिक लक्षणों पर प्रकाश डाला है। सभी धर्मों में कुछ कार्यों या क्रियाओं को करने पर प्रतिबन्ध लगे होते हैं वही निषेध कहलाते हैं। हिन्दू धर्म में गाय को मारना पाप है। ब्राह्मणों

मे माँस खाना निषेध है। वेबर ने लिखा है कि एक समान निषेधों का पालन करने वालो मे बन्धुत्व की भावना पैदा हो जाती है। निषेध के पीछे तर्कनापरकता या विवेकीकरण को प्रक्रिया कार्य करती है। धर्म को पहिचान निषेधो द्वारा भी की जा सकती है।

धार्मिक अधिकारियों के प्रकार एवं कार्य

(Types and Functions of Religious Officials)

वेबर ने लिखा है कि सभी धर्मो मे अलौकिक शक्ति की आराधना तथा उपासना की क्रियाओ को करने के लिए विशिष्ट व्यक्ति होते हैं, जैसे—पुरोहित, पादरी, ओझा, पैगम्बर आदि। आपने उल्लेख किया है कि धार्मिक गतिविधियाँ कौन-से धार्मिक अधिकारी किस प्रकार करते हैं। कुछ प्रमुख धार्मिक अधिकारी, उनकी विशेषताएँ एव कार्य निम्नांकित हैं—

(1) पुरोहित और ओझा (Priest and Sorcerer)—पुरोहित धर्म का व्यावसायिक अधिकारी होता है। उसका कर्तव्य ईश्वर की प्रतिष्ठा को स्थापित करना होता है। इसकी गतिविधियाँ नियमित होती हैं, जैसे—मूर्ति को प्रतिदिन स्नान करवाना, तिलक और चन्दन लगाना, वस्त्राभूषण पहिनाना आदि-आदि। वह अपने कार्य मे स्वतंत्र होता है। ओझा की प्रस्थिति और कार्य पुरोहित से भिन्न होते हैं। ओझा भूत-प्रेतो को भगाता तथा उतारता है। वह उन पर नियंत्रण करने की विद्या जानता है। वेबर तथा कुछ सामाजिक मानवशास्त्रियों के अनुसार कुछ समाजो मे ओझा और पुरोहित के कार्य एक ही व्यक्ति करता है। पुरोहित और ओझा मे अन्तर अनुमानित होता है। वेबर ने लिखा है कि पुरोहित को अपने धर्म का ज्ञान होता है तथा वह सात्विक और बौद्धिक दृष्टि से उच्च स्तर का होता है। उसे धार्मिक परम्परा का ज्ञान होता है। कुछ धर्मो मे ओझा भी ज्ञानी और विद्वान देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार पुरोहित भी अज्ञानी और अनपढ देखे जा सकते हैं। ओझा की जानकारी आनुभविक होती है तथा पुरोहित की तार्किक। पुरोहित अपने मठ या सम्प्रदाय का अधिकारी होता है। उसके अनुयायी सुनिश्चित और स्पष्ट होते हैं। ओझा का जीवन, कार्य-प्रणाली, क्षेत्र, अनुयायी आदि व्यक्तिगत होते हैं। इसका कोई मठ या सामुदायिक सगठन नहीं होता है।

(2) पैगम्बर (Prophet)—पैगम्बर या अवतार लगभग सभी धर्मों मे होते हैं। ईश्वर के आदेश पैगम्बर द्वारा अनुयायियो को प्राप्त होते हैं। ईश्वर अमूर्त और अदृश्य होता है जबकि पैगम्बर सशरीर होता है। वेबर के अनुसार पैगम्बर असाधारण विशेषताओं वाला होता है। उसमे करिश्मा होता है जिसके कारण उसका जीवन, दिनचर्या, बाते, आदेश, वचन सब कुछ जन-सामान्य के लिए आदर्श हो जाता है। पैगम्बर नवीन धर्म की घोषणा करता है तथा उसके प्रवचन एवं उपदेश धार्मिक आदेश के रूप मे अनुयायियो द्वारा पालन किए जाते हैं। पैगम्बर के लिए नए धर्म की स्थापना करना या नवीन धार्मिक सम्प्रदाय को जन्म देना आवश्यक नहीं है। पैगम्बर समाज सुधारक भी हो सकता है। इस्लाम धर्म के हजरत मोहम्मद पैगम्बर इसके उदाहरण हैं।

सामाजिक वर्गों की धार्मिक अभिवृत्तियाँ (Religious attitudes of Social Classes)—वेबर ने विश्व के विभिन्न धर्मों के विश्लेषणो मे पाया कि समाज के विभिन्न स्तरो, वर्गों, श्रेणियों आदि के धर्म के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण होते हैं। आपने कहा कि लोगों की जैसी सामाजिक स्थिति होती है उसी के अनुसार उनका धर्म के प्रति दृष्टिकोण होता है। इसी

[illegible] सैनिक सरदार, अधिकारी, व्यापारिक वर्ग और निम्न वर्ग के [illegible] विवेचना प्रस्तुत है।

(1) [illegible] (Peasant)—वेबर की मान्यता है कि किसान की कृषि जादू और मूल्य [illegible] होती है, यह प्रकृति के निकट होते हुए भी धर्म के प्रति लगाव नहीं रखता है। [illegible] ऐतिहासिक दृष्टि से भी स्वीकार नहीं किया। उनका कहना है कि धर्म एक शहरी [illegible] मानते हैं कि किसान प्रकृति के निकट होने के कारण धर्म मे विश्वास रखता है। [illegible] अनुसार लोगों की यह धारणा गलत है।

(2) कुलीन योद्धा (Noble Warrior)—कुलीन योद्धा, सैनिक सरदार, राजपूत [illegible] आदि का जीवन युद्ध के कारण कभी भी समाप्त हो सकता है। उनका जीवन अनिश्चित होता है। इसलिए इस वर्ग के लोगों की आवश्यकता की पूर्ति वही धर्म कर सकता है जिसमें जीवन [illegible] सुरक्षा से सम्बन्धित काला जादू हो, विजय के लिए प्रार्थना-अर्चना हो, मरणोपरान्त स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति की बात हो। योद्धाओं का धर्म लौकिक अधिक होता है। ये सैनिक सरदार मोक्ष, पाप, दया, अहिंसा आदि में विश्वास नहीं रखते हैं।

(3) अधिकारी (Bureaucrats)—अधिकारी, नौकरशाह, दफ्तरशाही और अधिकारियों आदि की अभिरुचि उपयोगितावादी और अवसरवादी धर्म में होती है। इस वर्ग के लोगों में तार्किकता अधिक होती है। इसीलिए इस वर्ग के लोग वेबर के अनुसार धर्म-विमुख होते हैं।

(4) व्यापारिक वर्ग (Business Class)—व्यापारी वर्ग के लोगों का प्रमुख उद्देश्य अधिक-से-अधिक धनोपार्जन करना होता है। ये लोग पारलौकिक दुनिया से कोई सम्बन्ध नहीं रखते हैं परन्तु वेबर की मान्यता है कि ऐतिहासिक प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि धर्म तथा व्यापारिक और औद्योगिक विकास में पिछली शताब्दियों में परस्पर गहन सम्बन्ध रहा है। आपने लिखा है कि व्यापारिक वर्ग धार्मिक नीतिपरक व्यवहार से जितना अधिक सम्बन्धित होगा व्यापारिक और औद्योगिक विकास उतना ही अधिक होगा। आपने आगे चलकर धर्म और पूँजीवाद के परस्पर सम्बन्ध को अपनी महान् कृति "प्रोटेस्टैण्ट आचार और पूँजीवाद की आत्मा" में विस्तार से विश्लेषित किया है।

(5) निम्न वर्ग (Lower Class)—वेबर ने अपने अध्ययन में देखा कि निम्न वर्ग के लोग, जैसे कि गुलाम और कारखानों में काम करने वाले कामगारों मे धर्म के प्रति कोई विशेष उल्लेखनीय संवेग या आकर्षण नहीं होता है। आपने इसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि धर्म के प्रति संवेग का अभाव उनकी निर्धनता तथा विपन्नावस्था है। ये वर्ग अपनी समस्याओं से इतने अधिक ग्रसित होते हैं कि इनको धर्म के सम्बन्ध में सोचने का समय ही नहीं मिलता है। आज का सर्वहारा वर्ग भी धर्म में कोई विश्वास नहीं रखता है। धर्म के सम्बन्ध में यह धारणा मिलती है कि उच्च वर्ग तथा जातियाँ धर्म के द्वारा अपनी उच्च स्थिति बनाए रखते हैं तथा निम्न जातियों तथा वर्गों को ऊपर उठने नहीं देते हैं। वेबर इसे भी अतिशयोक्ति मानते हैं कि आदिम ईसाई धर्म

में यह आग्रहपूर्वक कहा गया है कि कमजोर वर्ग के लोग ईसा मसीह के प्रति सम्पूर्ण संवेदना रखते हैं। धर्म तो गरीबों को गरीब बनाए रखने का प्रभावपूर्ण साधन है। फिर ऐसे धर्म के प्रति गरीबों की आस्था कैसे हो सकती है।

(6) बौद्धिक वर्ग (Intellectual Class)—वेबर ने बौद्धिक वर्ग के लोगों की धर्म के प्रति आस्था तथा अभिवृत्तियों की विवेचना करते हुए लिखा है कि अनेक वर्षों तक बौद्धिक क्षेत्र के विकास ने धर्म को बहुत प्रभावित किया है। यूरोप में स्वाधीनता के आने के साथ-साथ धार्मिक क्षेत्र में भी धर्म निरपेक्षता का विकास हुआ है। वेबर के अनुसार बौद्धिक वर्ग के लोगों में धर्मों के प्रति सहिष्णुता भी विकसित हुई है तो दूसरी ओर आक्रामक मनोवृत्ति के विकास को भी देखा जा सकता है। बौद्धिक वर्ग ने धर्म की व्याख्याएँ भी की हैं।

वेबर का बौद्धिक दृष्टिकोण

(Intellectual Perspective of Weber)

वेबर के धर्म सम्बन्धी बौद्धिक दृष्टिकोण को उनकी कृति '**दा प्रोटेस्टेण्ट एथिक एण्ड दा स्पिरिट ऑफ कैपिटलजिम्म**' में देख सकते हैं। आपने प्रश्न उठाया कि पश्चिमी समाजों में प्रचलित विचार *"मनुष्य का कर्त्तव्य ईश्वर द्वारा प्रदत्त अपनी आजीविका कमाने में है।"* का मूल क्या है? विभिन्न समाजों और सभ्यताओं में इस समस्या का सम्बन्ध धर्म और समाज से है। वेबर ने संसार के छः प्रमुख धर्मों के तुलनात्मक अन्वेषण एवं व्याख्या के आधार पर यह स्पष्ट किया कि किस प्रकार से कुछ धार्मिक सिद्धान्तों के प्रभाव से आर्थिक जीवन की तर्कनापरकता में वृद्धि होती है और किस प्रकार से कुछ धार्मिक सिद्धान्तों के द्वारा घटती है। मैक्स वेबर ने निम्न तीन प्रमुख समस्याओं को लेकर धर्म की समाजशास्त्रीय विवेचना का अध्ययन प्रारम्भ किया था—

(1) एक औसत अनुयायी की धर्म-निरपेक्ष नीति और आर्थिक व्यवहार पर प्रमुख धार्मिक विचारों का प्रभाव।

(2) समूह की रचना पर धार्मिक विचारों का प्रभाव।

(3) विभिन्न सभ्यताओं में धार्मिक नीतियों के कारणों और प्रभावों की तुलना के द्वारा पश्चिमी सभ्यता के तत्त्वों को ज्ञात करना।

वेबर ने उपर्युक्त समस्याओं से सम्बन्धित प्रभावों और कारणों का पता लगाने के लिए पश्चिमी पूँजीवाद के विकास का अध्ययन करके यह जानने का प्रयास किया कि पूँजीपति लोगों में धार्मिक झुकाव का क्या प्रारूप है। वेबर ने तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष निकाला कि सभी समाजों में बड़े व्यापारियों में एक नैतिक कल्पना होती है कि देवता व्यक्ति से अच्छे कार्य की अपेक्षा करते हैं और उसे उपयुक्त पुरस्कार भी देते हैं एवं दूसरी ओर बुरे कार्यों के लिए व्यक्ति को दण्ड दिया जाता है। वेबर का कहना है कि व्यक्ति अपनी उन्नति और दीर्घायु के लिए धार्मिक विश्वासों के अनुसार कार्य करता है। आपने धार्मिक कारकों को परिवर्तनों का कारण माना है। आपके अनुसार आर्थिक और सामाजिक घटनाओं तथा परिणामों का कारण धर्म है। आपने मार्क्स के निष्कर्ष कि "आर्थिकी धर्म का निर्णायक हैं" नहीं माना है। बल्कि इसके विपरीत धर्म

को आर्थिकी का कारण माना है तथा विश्व के छ: महान धर्मों के अध्ययन के आधार पर इसे सिद्ध भी कर दिया। आपकी मान्यता है कि लोग धार्मिक आचारों के अनुसार इसलिए कार्य करते हैं कि उनको विश्वास है कि ऐसा करने से उनकी प्रगति एव उन्नति होगी तथा वे दीर्घायु होंगे।

मैक्स वेबर ने गहन अध्ययन करके प्रोटेस्टेण्ट धर्म के उन महत्त्वपूर्ण आचारों को खोज निकाला जिनके प्रभाव से आधुनिक पूँजीवाद की आत्मा का विकास हुआ है। आपने धर्म को कारण माना तथा सिद्ध किया कि धर्म किस प्रकार से सामाजिक और आर्थिक जीवन को प्रभावित करता है। वेबर ने धर्म के समाजशास्त्र से सम्बन्धित निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं—

(1) पारस्परिक निर्भरता (Interdependence—वेबर ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि धार्मिक एवं आर्थिक घटनाएँ परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित और एक दूसरे पर आश्रित होती हैं। सामाजिक व्यवस्था में इनमें से किसी एक को दूसरे का निर्णायक (कारण) मानना अनुचित एवं अवैज्ञानिक है। सत्य तो ये है कि दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं और प्रभावित होती हैं।

(2) बहुवाद (Pluralism)—वेबर बहुवादी थे। आपका कहना था कि सामाजिक वैज्ञानिक को सामाजिक घटनाओं के विश्लेषण में एक-तरफा तथा एक-कारकीय दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहिए। मात्र धार्मिक या आर्थिक आधार पर किसी घटना की व्याख्या और विवेचना नहीं करनी चाहिए बल्कि अन्य कारकों के प्रभाव का भी ध्यान रखना चाहिए।

(3) एक-कारक की सुविधा (One-factor facility)—अध्ययन की सुविधा के लिए किसी एक कारक को कारण तथा निर्णायक के रूप में देखा जा सकता है। किसी एक कारक को एक परिवर्तनीय तत्त्व या कारण माना जा सकता है, जैसे—मार्क्स ने आर्थिकी को तथा वेबर ने धर्म को समाज में सभी परिवर्तनों एवं परिणामों का कारण सिद्ध किया। वेबर ने धार्मिक कारक को एक परिवर्तनीय तत्त्व या कारक मानकर आर्थिक तथा अन्य सामाजिक घटनाओं पर प्रभाव के विश्लेषण की विवेचना की।

(4) आदर्श प्रारूप (Ideal Type)—वेबर ने प्रमुख धर्मों के केवल आदर्श प्रारूपों की विवेचना की है। आपने सभी धर्मों के सभी तत्त्वों का उल्लेख नहीं किया है। आपने धर्म के अन्वेषण में आदर्श प्रारूप का प्रयोग किया है।

धर्म सम्बन्धी विचार
(Views Related to Religion)

वेबर ने 1904 और 1905 में व्यक्ति के आर्थिक व्यवहारों पर धार्मिक कारकों के प्रभावों की व्याख्या सम्बन्धी लेख लिखे थे। इन्हीं लेखों के आधार पर आपने विस्तार से इस समस्या पर प्रकाश डाला कि किस प्रकार से प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीतियाँ पूँजीवाद के विकास को प्रभावित करती हैं। यह सम्पूर्ण सामग्री आपकी कृति **'दा प्रोटेस्टेण्ट एथिक एण्ड दा स्पिरिट ऑफ कैपीटलिज्म'** में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में वेबर ने कहा कि प्रोटेस्टेण्ट नीति एक आवश्यक कारक था जिसके अभाव में आधुनिक पूँजीवाद का विकास नहीं हो सकता था। आपने इन दोनों—आधुनिक पूँजीवाद

और प्रोटेस्टेण्ट नीति के 'आदर्श प्रारूपो' के आधार पर उपर्युक्त गुण-सम्बन्ध के सत्यापन की जाँच की थी। वेबर के धर्म सम्बन्धी विचारो एव धर्म के समाजशास्त्र की पूर्ण जानकारी के लिए इन दोनो अवधारणाओ का ज्ञान आवश्यक है जो निम्नलिखित पृष्ठो मे प्रस्तुत किया जा रहा है।

(1) पूँजीवाद का सार *(Essence of Capitalism)*—वेबर ने पूँजीवाद की विशेषताओ को अपने पारिवारिक जीवन मे देखा। आपने अपने चाचा कार्ल डेविड वेबर मे व्यक्तिवाद तथा आर्थिक आचरणो से सम्बद्ध नैतिकता का एक विशिष्ट सम्मिश्रण पाया। उनके चाचा गाँव के घरेलू उद्योग पर आधारित उद्यम के सस्थापक थे तथा वे कठोर परिश्रमी, दिखावा न करने वाले, दयालु और तर्कनापरकता के गुणो व्यक्तित्व वाले थे। ऐसे गुण आधुनिक पूँजीवाद के उद्यमकर्त्ताओ मे मिलते हैं। चाचा के व्यक्तित्व से वेबर प्रभावित हुए तथा वेबर की धारणा बन गई कि पूँजीवाद मे एक विशेष प्रकार की नैतिकता का होना आवश्यक है। पूँजीवाद के सार को समझने एव विवेचना करने के लिए वेबर ने एक अन्य आर्थिक क्रिया की अवधारणा दी जिसको इन्होने '**परम्परावाद**' कहा। परम्परावाद पूँजीवाद की बिल्कुल विपरीत आर्थिक-क्रिया है। वेबर के अनुसार परम्परावाद वह स्थिति है जिसमे व्यक्ति अकस्मात् लाभ प्राप्त करना चाहता है, सिद्धान्तहीन तरीको से धन सचय करना चाहता है। व्यक्ति कम काम और अधिक लाभ प्राप्त करना चाहता है। काम के समय आराम करना अधिक पसन्द करता है। उसमे कार्य की नवीन प्रविधियो से अनुकूलन करने की इच्छा एवं गुण का अभाव होता है। ये लोग कम आय से ही सन्तुष्ट रहते ह। वेबर ने दक्षिण यूरोप, एशिया के विशेषाधिकार सम्पन्न समूहो, चीन के अधिकारियो, रोम के अभिजात वर्ग तथा एल्बी नदी के पूर्व के जमीदारो की आर्थिक क्रियाओ को पूँजीवाद नहीं माना है क्योंकि ये अकस्मात् लाभ कमाना चाहते हैं, इनकी आर्थिकी मे तर्कनापरकता का अभाव विद्यमान था। आधुनिक पूँजीवाद मे परम्परावाद की उपर्युक्त विशेषताओ से विपरीत विशेषताएँ विद्यमान होती हैं।

वेबर ने आधुनिक पूँजीवाद के निम्न विशिष्ट लक्षण गिनाएँ हैं—

(1) आधुनिक पूँजीवाद में व्यापार, वाणिज्य और उद्योग बडे पैमाने मे तर्कनापरकता पूर्ण वैज्ञानिकता पर आधारित विधि से व्यवस्थित, सगठित एव संचालित होता है। उत्पादन अधिक लोगो द्वारा मशीनों से किया जाता है। (2) उत्पादित वस्तुओ की विक्रय व्यवस्था सगठित होती है। (3) अधिकतम कार्यकुशलता पर जोर दिया जाता है जिसके लिए श्रम-विभाजन एव विशेषीकरण का विशेष ध्यान रखा जाता है। (4) पूँजीवादी व्यवस्था का सर्वोच्च उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना होता है। इस व्यवस्था मे कार्य ही जीवन, कुशलता एवं धन है। (5) इस व्यवस्था मे जोखिम अधिक होती है। व्यक्ति मे कर्त्तव्य परायणता, आत्मविश्वास तथा व्यवसाय के प्रति पूर्ण निष्ठा होना आवश्यक है। व्यवसाय मे कुशल व्यक्ति धन और सम्मान दोनो पाता है तथा अकुशल व्यक्ति धन और सम्मान दोनों ही नहीं पाता है। वेबर के पूँजीवाद का यही सार है।

पश्चिमी समाजो के अतिरिक्त अन्य समाजो मे भी ऐसे लोग हुए हैं जिन्होने अपने व्यापार के लिए कठोर परिश्रम किया, बचत को व्यापार के विस्तार करने में लगाया, वेबर का कहना है कि उपर्युक्त वर्णित पूँजीवादी विशेषताएँ पश्चिमी समाजो में अधिक मिलती हैं। पश्चिम के समाजो मे कठोर श्रम, तर्कनापरकता, तार्किक आधार पर वस्तुओ का उत्पादन, सगठित विनिमय

केन्द्र आदि जीवनयापन के सामान्य तरीके बन गए हैं। यह सब कुछ समाज की संस्कृति के अभिन्न अंग एव विशेषताएँ हैं। व्यापारिक आचार, सार्वजनिक श्रम व्यवस्था, पूँजी का निरन्तर विनियोजन, कठोर परिश्रम आदि पूँजीवाद का सार है, जो सामान्य आर्थिकी या परम्परावाद से बिल्कुल विपरीत एव भिन्न हैं।

(2) प्रोटेस्टेण्ट नीति (Protestant Ethics)—प्रश्न यह उठता है कि आधुनिक पूँजीपति-आर्थिक-व्यवस्था को कौनसी शक्ति या कारक सम्भव बनाती है? वेबर के अनुसार वह शक्ति या कारक प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीति या आचार है जो इस पूँजीपति व्यवस्था को निर्धारित निर्देशित, संचालित तथा सन्तुलित रखती है। आधुनिक पूँजीपति व्यवस्था को बनाए रखने के लिए जिन आचरणों, मूल्यों, नीतियों की आवश्यकता होती है उनसे सम्बन्धित अनेक प्रवचन उपदेश, आचार आदि प्रोटेस्टेण्ट धर्म से प्रभावित धार्मिक और सामाजिक नेताओं में प्रचारित होते रहे हैं। ये निम्न प्रकार के हैं—

पेटी (Petty) माण्टेस्क्यू (Montesquieu), बकल (Buckle), कीट्स (Keats) आदि ने वेबर से पूर्व प्रोटेस्टेण्ट धर्म और व्यापारिक प्रवृत्ति के विकास के परस्पर सम्बन्धों पर अपने विचार व्यक्त किए थे। वेबर ने अपने शिष्य बाडेन (Baden) में शिक्षा के चयन और धार्मिक सम्बन्धों का सर्वेक्षण करवाया जिससे पता चला कि कैथोलिक छात्रों की तुलना में प्रोटेस्टेण्ट विद्यार्थी उन शिक्षण संस्थाओं में अधिक जाते हैं जो औद्योगिक जीवन से सम्बन्धित होती हैं। अध्ययन में यह पाया गया कि यूरोप में कुछ अल्पसंख्यक समूहों ने कठोर परिश्रम करके सामाजिक और राजनैतिक हानियों को पूरा कर लिया। परन्तु कैथोलिक धर्मावलम्बी ऐसा नहीं कर पाए। इन परिणामों के आधार पर वेबर ने यह परिणाम निकाला कि धार्मिक नीति (आचार) और आर्थिक गतिविधियों में परस्पर सहसम्बन्ध होता है। वेबर ने सर्वेक्षण में पाया कि जिन नगरों और प्रदेशों के लोगों ने प्रोटेस्टेण्ट धर्म अपनाया वहाँ आर्थिक लाभ को प्रोत्साहित किया जा रहा था। प्रोटेस्टेण्ट धर्म पोप के सर्वस्व अधिकार को भी स्वीकार नहीं करता है। यूरोप के विभिन्न देशों में पूँजीवाद के विकास का प्रमुख कारण वहाँ पर प्रोटेस्टेण्ट धर्म के प्रमुख तत्वों : संग्रह की प्रवृत्ति, ईमानदारी, नैतिकतावादी दृष्टिकोण, धर्म के प्रति निष्ठा का होना था। इन देशों मे प्रोटेस्टेण्ट धर्म के अनेक आदेशों तथा नीतियों का प्रभाव भी पड़ा। जिनमे से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं।

(1) संण्ट पाल के प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीति से सम्बन्धित निम्न आदेश का व्यापक रूप मे प्रभाव पड़ा, "जो व्यक्ति काम नहीं करेगा, वह रोटी नहीं खाएगा... तथा निर्धन की तरह धनवान भी ईश्वर के गौरव में वृद्धि करने के लिए किसी-न-किसी पेशे में अवश्य जुटे।"

(2) रिचार्ड बैक्स्टर (Richard Baxter) का कथन, "केवल कर्म के लिए ही ईश्वर हमारी और हमारी क्रियाओं की रक्षा करता है, परिश्रम ही शक्ति का नैतिक एवं प्राकृतिक उद्देश्य है.... केवल परिश्रम से ही ईश्वर की सबसे अधिक सेवा एवं सम्मान हो सकता है।"

(3) संण्ट जॉन बनियन का कथन, "यह नहीं कहा जाएगा कि तुम क्या विश्वास करते थे, केवल यह कहा जाएगा कि क्या तुम कुछ परिश्रम भी करते थे या केवल बातूनी थे।"

(4) बेंजामिन फ्रेंकलिन (Banjamin Franklin) आधुनिक पूँजीवाद के भौतिक सिद्धान्तों के प्रतिपादक माने जाते हैं। आपने आत्मकथा में उन लोगों के लिए अनेक उपदेश दिए हैं जो धनी होना या व्यवसाय में सफल होना चाहते हैं। ये उपदेश प्रोटेस्टण्ट नीतियों या आचारों के अनुरूप हैं। इन उपदेशों में से कुछ महत्त्वपूर्ण उपदेश यहाँ पर वर्णित किए जा रहे हैं—

1. समय ही धन है।
2. धन से धन कमाया जाता है।
3. एक पैसा बचाना एक पैसा कमाना है।
4. ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है।
5. कार्य ही पूजा है।
6. जल्दी सोना और जल्दी उठना व्यक्ति को स्वस्थ, धनी और बुद्धिमान बनाता है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि प्रोटेस्टेण्ट नीति में सक्रिय जीवन, परिश्रम, समय का सदुपयोग, व्यर्थ की बातचीत पर प्रतिबन्ध, कम सोना, ईश्वर के ध्यान के स्थान पर परिश्रम एवं कार्य करना, ईमानदार एवं उत्साही होना, पैसा बचाने पर जोर देना, मितव्ययी होना आदि हैं, जिन्होंने आधुनिक पूँजीवाद को सम्भव बनाया है।

प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीतियाँ एवं पूँजीवाद

(Ethics of Protestant Religion and Capitalism)

वेबर के अनुसार प्रोटेस्टेण्ट धर्म की निम्नलिखित कुछ महत्त्वपूर्ण नीतियाँ हैं जिनके प्रभाव से यूरोप में आधुनिक पूँजीवाद का विकास हुआ है—

(1) कार्य ही पूजा है (Work is Worship)—प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीति है "काम करना ही सबसे बड़ा गुण है।" कैथोलिक धर्म में परिश्रम करके जीविकोपार्जन करना पाप एवं दण्ड है। इस सम्बन्ध में कैथोलिक धर्म में आदम और ईव की गाथा प्रमाण है। ईश्वर ने आदम और ईव को स्वर्ग में एक पेड़ के फल को खाने से मना कर रखा था। जिसको खाने से अच्छे-बुरे का ज्ञान प्राप्त हो जाता था। इन्होंने ईश्वर के मना करने पर भी शैतान के बहकावे में आकर वह फल खा लिया। ईश्वर ने रुष्ट होकर उन्हें स्वर्ग से निकाल दिया तथा पृथ्वी पर भेज दिया और श्राप दिया कि ईव और उसकी पुत्रियों को कष्ट से सन्ताने होंगी और आदम और उसके पुत्र परिश्रम करके पसीना बहा कर रोटी रोजी कमाएँगे। यह श्राप स्पष्ट करता है कि कैथोलिक धर्म में श्रम करके रोटी कमाना बुरी बात है तथा एक दण्ड है वहीं प्रोटेस्टेण्ट धर्म में परिश्रम एक उत्तम कार्य माना जाता है। "कर्म ही पूजा है" अथवा "परिश्रम से ही ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है।" प्रोटेस्टेण्ट धर्म को इस नीति के प्रभाव के परिणामस्वरूप पूँजीवाद का विकास सम्भव हुआ है।

(2) कैल्विनवाद या व्यावसायिक आचार (Calvinism or Vocational Ethics)—प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीति की दूसरी महत्त्वपूर्ण देन पूँजीवाद का 'व्यावसायिक आचार' है। पूँजीवाद के विकास के लिए परिश्रम, उत्साह और व्यावसायिक सफलता अनिवार्य लक्षण हैं। कैल्विनवाद इन्हीं विशेषताओं का समाज में प्रचार और प्रसार निम्न प्रकार से करता है।

प्रोटेस्टेण्ट धर्म मे मान्यता है कि जो श्रम करेगा, व्यवसाय में सफल होगा वही स्वर्ग मे जाएगा तथा जो आलसी होगा, श्रम से डरेगा, व्यवसाय में असफल रहेगा वह नरक में जाएगा। केलविनवाद प्रत्येक व्यक्ति को यह नैतिक शिक्षा देकर उसे कठोर परिश्रमी बनाता है। गिरजाघर मे जाने से मुक्ति नहीं मिलेगी। मुक्ति मिलेगी कठोर परिश्रम तथा व्यावसायिक सफलता से और ईश्वर इसी सफलता से प्रसन्न होता है।

(3) ब्याज की आय को मान्यता (Approval of Interest-income)—प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीति है ''धन से धन पैदा होता है।'' इसलिए इस धर्म मे ब्याज पर पैसा देकर धन को द्विगुणित त्रिगुणित करना अच्छा माना जाता है। इसके विपरीत कैथोलिक, इस्लाम, हिन्दू आदि धर्मों मे ब्याज लेना पाप माना जाता है। पूँजीवाद के विकास में इस ब्याज कमाने के आचार ने सहयोग किया है।

(4) शराबखोरी पर प्रतिबन्ध एवं ईमानदारी को प्रोत्साहन (Reirictions on Alcoholism and Encouragement to Honesty)—प्रोटेस्टेण्ट धर्म में शराबखोरी तथा नशेबाजी का बुरा बताया गया है और ईमानदारी को उच्च सम्मान प्रदान किया गया है। इस आचार संहिता के परिणामस्वरूप लोगों मे नशाखोरी घटती गई तथा आलस्य भी कम होता चला गया। इससे कार्यकुशलता में वृद्धि हुई। इनका प्रभाव पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विकास पर सकारात्मक पड़ा। व्यक्ति कारखानों मे शराब पीकर मशीन नहीं चला सकते। नशे में दुर्घटना घटने की पूर्ण सम्भावना रहती है। उससे जानमाल की हानि होती है। इस पर रोक लगने से तथा ईमानदारी से काम करने से दुर्घटनाएँ घटनी कम हुई तथा उत्पादन बढ़ा जिसने पूँजीवाद के विकास को प्रोत्साहित किया।

(5) अवकाश पर रोक (Restrictions on Leave and Holidays)— प्रोटेस्टेण्ट धर्म में अगर कोई व्यक्ति लम्बे समय तक अवकाश या छुट्टी पर जाता है तो उसे अनुचित माना जाता है। पूँजीवाद का तो नारा ही ''कार्य ही पूजा है'' का है उसमें न्यूनतम तथा विशेष परिस्थितियों में ही अवकाश प्रदान किया जाता है। इस अधिक कार्य एवं न्यून छुट्टी की विशेषता के कारण भी पूँजीवाद सफलतापूर्वक विकसित होता चला गया।

टानी (Tawney) ने 'इन्ट्रोडक्शन टू प्रोटेस्टेण्ट एथिक एण्ड दा स्पिरिट ऑफ कैपिटेलिज्म' में लिखा है, ''इस क्रान्तिकारी धार्मिक अवधारणा ने नैतिक मानदण्ड को बदलकर धन-लाभ की प्राकृतिक कमजोरी को आत्मा का आभूषण बना दिया तथा पूर्ववर्ती युगों में जिन आदतों को बुरा समझा जाता था, उनको आर्थिक गुणों से बदल दिया .....पूँजीवाद को केल्विन के धर्मशास्त्र का सामाजिक प्रतिरूप मानना चाहिए।''

इस प्रकार प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीतियों—सदुपयोग, अधिक न सोना, व्यर्थ की बातचीत न करना, ईश्वर के ध्यान के स्थान पर कार्य करना, नशाखोरी नहीं करना, ईमानदार होना, मेहनत से कार्य करना, एवं न्यूनतम छुट्टी लेना आदि के परिणामस्वरूप पूँजीवाद सफलतापूर्वक विकसित हुआ है। परन्तु वेबर की यह मान्यता नहीं है कि पूँजीवाद के विकास का एकमात्र कारण प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीति (आचार) है। आपके अनुसार अन्य अनेक कारकों का भी प्रभाव रहा होगा। मैक्स

वेबर इस प्रकार एक-कारकवादी या एक-कारक निर्णायकवादी न होकर बहुकारकवादी माने जा सकते हैं।

वेबर ने अपने निष्कर्षों की प्रामाणिकता एवं विश्वसनीयता को सिद्ध करने के लिए अनेक ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। आपने तथ्य प्रस्तुत करके स्पष्ट किया है कि आधुनिक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का सर्वोत्तम विकास अमरीका, हालैण्ड, इग्लैण्ड आदि उन देशों में हुआ है जहाँ पर लोग प्रोटेस्टेण्ट धर्मावलम्बी हैं। उन देशो में पूँजीवादी व्यवस्था विकसित नहीं हुई है जहाँके लोग कैथोलिक धर्मावलम्बी हैं, जैसे—स्पेन, इटली आदि।

पूँजीवाद और प्रोटेस्टेण्ट नीति का सम्बन्ध (Relationship of Capitalism and Protestant Ethics)—वेबर ने प्रोटेस्टेण्ट नीति को कारण तथा पूँजीवाद को उसका परिणाम मानकर अध्ययन किया तथा निष्कर्ष में भी पाया कि प्रोटेस्टेण्ट नीति कारण चालक और चर है तथा पूँजीवाद उसका प्रभाव, चरित्र तथा परिणाम है। आपने धर्मों के तुलनात्मक अध्ययनो में 'पूँजीवाद के सार' एवं 'प्रोटेस्टेण्ट नीतियो' में अनेक समानताएँ देखीं। वेबर ने ऐतिहासिक प्रमाणों, तथ्यो तथा घटनाओं के आधार पर यह स्थापना की है कि यूरोप के कई देशों में पूँजीवाद की उत्पत्ति, विकास एवं निरन्तरता में प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीतियों की प्रमुख भूमिका रही है। प्रोटेस्टेण्ट धर्म की विभिन्न नीतियो के प्रचार-प्रसार एव शिक्षा के द्वारा इस धर्म के अनुयायियो का विकास हुआ उससे वे कैथोलिक धर्मावलम्बियो की तुलना में अधिक परिश्रमी, ईमानदार, कर्मठ, पैसा बचाने, ब्याज कमाने, कार्य ही पूजा है, समय ही धन है आदि गुणो से सम्पन्न हो गए तथा पूँजीवाद के विकास में सहायक सिद्ध हुए। वेबर ने निष्कर्षतः यही स्थापना की है कि पूँजीवाद के विकास के लिए प्रोटेस्टेण्ट धर्म प्रमुख कारण रहा है।

संसार के महान् धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन : धर्म और पूँजीवाद
(Comparative Study of World's Great Religicm Religions and Capitalism)

वेबर ने धर्म और आर्थिक संरचना (पूँजीवाद) के पारस्परिक सम्बन्धों को ज्ञात करने के लिए विश्व के महान् छः धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया। ये छः महान् धर्म—(1) कन्फ्यूशियस, (2) बौद्ध, (3) हिन्दू, (4) ईसाई, (5) इस्लाम और (6) यहूदी थे। इन महान् धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा आप धर्मों का पूँजीवाद की उत्पत्ति और विकास पर पड़ने वाले प्रभावों को जानना चाहते थे। आप ये ज्ञात करना चाहते थे कि धर्म का आर्थिक नीति के साथ कहाँ तक और क्या गुण-सम्बन्ध है।

संसार के धर्मों की आर्थिक नीति (Economic Ethics of the World Religions)—वेबर का उद्देश्य विश्व के महान् धर्मों का अध्ययन करके ये पता लगाना था कि इन विभिन्न धर्मों के नियम, आचार, प्रवचन, मूल्य, उद्देश्य, लौकिक और पारलौकिक जीवन की व्याख्या आदि कहाँ तक आधुनिक पूँजीवाद के विकास से सम्बन्धित है। आपने उन धर्मों को महान् धर्म माना है जिनके धर्मावलम्बियो की संख्या बहुत अधिक है, जैसे—हिन्दू, बौद्ध, ईसाई और इस्लाम धर्म। यहूदी धर्मावलम्बी संख्या में कम हैं परन्तु वेबर ने इस धर्म का अध्ययन इसलिए

किया क्योंकि इस धर्म मे अधिकाश लोग पूँजीपति एव व्यापारी हैं। वेबर के अध्ययन का उद्देश्य धर्मों की ईश्वरीय मीमासा का अध्ययन करना नहीं था बल्कि आपका उद्देश्य तो धर्मों की उन सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, व्यावहारिक आदि विशेषताओं का पता लगाना था जो आर्थिकी के विभिन्न पक्षों को प्रभावित, नियंत्रित और निर्देशित करती है। धर्म की वे कौन कौनसी विशेषताएँ हैं जो पूँजीवाद की आत्मा को प्रभावित करती है। धर्म का पूँजीवाद पर सकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव कितना है? वेबर ने अपने अध्ययन के प्रारम्भ में यह स्पष्ट कर दिया है कि यह आवश्यक नहीं है कि धर्म ही आर्थिक सगठन का निर्णायक हो।

धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के कारण (Reasons of Comparative Study of Religions)—**रेमण्ड एराँ** ने शका व्यक्त की है कि वेबर ने जब संसार के विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन करने का निश्चय किया तो इसके पीछे कोई-न-कोई प्रमुख कारण रहा होगा। एराँ ने इसके पीछे प्रमुख निम्न दो कारणों का अनुमान लगाया है—

(1) जब वेबर ने यह देखा कि काल्विनवाद (प्रोटेस्टेण्ट धर्म) में ऐसी आचार संहिताएँ हैं जिसके प्रभाव से पश्चिमी समाजों में पूँजीवाद का उदय हुआ तो क्या पश्चिमी समाजों के अतिरिक्त भी ऐसे धर्म हैं जिनकी आचार संहिताएँ भी पूँजीवाद को जन्म दे सके या पूँजीवाद की आत्मा को जाग्रत कर सके? एराँ का कहना है कि शायद इसी जिज्ञासा की शान्ति के लिए वेबर ने विश्व के महान् धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया था।

(2) एराँ ने वेबर द्वारा धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन का दूसरा कारण यह अन्वेषण करना बताया कि विभिन्न धर्मों में आधारभूत धार्मिक प्रकार कौन-कौन से हैं तथा इन मौलिक धार्मिक प्रकारों के पीछे लोगों की आर्थिक अभिरुचियाँ क्या हैं?

इसी सन्दर्भ में वेबर ने जिन महान् धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किए हैं वे प्रस्तुत हैं।

चीन का कन्फ्यूशियस धर्म
(Confucious Religion of China)

वेबर ने चीन के धर्म कन्फ्यूशियस और ताओवाद की सविस्तार विवेचना अपनी कृति **'चीन का धर्म'** (The Religion of China) में की है। इसमें इस पुस्तक के अन्तिम भाग में आपने कन्फ्यूशियस और प्रोटेस्टेण्ट धर्म की नीतियों का तुलनात्मक अध्ययन करके निष्कर्ष दिया है कि इनकी धार्मिक नीतियों में भिन्नता के कारण ही चीन और पश्चिम के समाजों की आर्थिक मनोवृत्तियों में भिन्नता है। वेबर ने इस पुस्तक में चीन के नगरों, पैतृकवाद, अधिकारी वर्ग, चीनी धार्मिक संगठन, प्रारम्भिक इतिहास, राजवंशी सरकार और सामाजिक संरचना, पण्डित वर्ग एवं कन्फ्यूशियस धर्म की रूढ़िवादिता, राजकीय उपासना और जनप्रिय धार्मिकता और कन्फ्यूशियसवाद और प्रोटेस्टेण्ट धर्म के शुद्धाचारवाद का वर्णन किया है। यहाँ पर चीन की सामाजिक व्यवस्था के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं का वर्णन दिया जा रहा है—

(1) नगर (Cities)—वेबर ने लिखा है कि चीनी और पश्चिमी यूरोप के नगरों में पूर्ण विपरीतताएँ नहीं थीं। पश्चिम की तरह से चीनी नगर भी अक्सर गढ़ियों और राजकीय निवास स्थानों के रूप में पैदा हुए थे। वे व्यापार और शिल्प के केन्द्र थे। इनके विभिन्न भाग व्यापारिक संगठनों के नियंत्रण में थे। परन्तु चीन के नगरों में पश्चिमी समाज जैसी सुपरिचित राजनैतिक

स्वायत्तता किसी भी रूप में कभी भी नहीं रही। ग्रामों की तुलना में स्वायत्त शासन की गारण्टी भी बहुत कम थी। नगर का प्रत्येक निवासी अपने मूल निवास स्थान के परिवार से सब प्रकार से सम्बन्धित रहता था। पारिवारिक सम्बन्धों की रक्षा पूर्वजों की पूजा के अभ्यास से सम्बन्धित थी। नगर के रहने वाले विभिन्न व्यक्तियों में कोई एकता नहीं हो पाती थी। चीनी नगरों के निवासियों का नागरिकों के रूप में कोई एक अलग प्रस्थिति समूह नहीं था जिनके स्पष्ट विशेषाधिकार और कर्त्तव्य हों और उनके आधार पर सारे नगर पर उनका स्वायत्तपूर्ण अधिकार हो। चीन में नागरिक स्वायत्तता के अभाव का एक और महत्त्वपूर्ण कारण साम्राज्यवादी प्रशासन का प्रारम्भ से ही केन्द्रीयकरण था। एक स्थान से भर्ती किए हुए सैनिकों को अक्सर बहुत दूर भेज दिया जाता था जिससे प्रशासकीय सत्ता को उनसे कम से-कम खतरा हो।

(2) पैतृकता (Patrimonialism)—चीन में पितृवंशीय बहिर्विवाह व्यवस्था थी अर्थात् व्यक्ति अपने परिवार और ग्राम से बाहर ही विवाह कर सकता था। ये गोत्र-समूह पूर्ण रूप से अपनी भूमि से जुड़े होते थे। पूर्वजों की पूजा का महत्त्व था। परिवार में उच्च स्तर की सामूहिक सुदृढ़ता थी। पिता का नियन्त्रण बहुत कठोर था। सन्तानों को परिवार के मुखिया के आदेशों का कठोरता से पालन करना होता था। जहाँ यूरोप और अमरीका के समाज में महिलाओं को स्वतन्त्रता प्राप्त थी वहीं चीनी समाज में इसका अभाव था। सभी दृष्टिकोणों से चीनी समाज में व्यक्ति की तुलना में परिवार एक प्रभावशाली एवं ताकतवर इकाई थी।

(3) स्तरीकरण (Stratification)—चीन में यूरोप जैसी वर्ग व्यवस्था तथा भारत जैसी वर्ण या जाति व्यवस्था नहीं थी। चीन में पद सोपान जैसी व्यवस्था का अभाव था। सभी व्यक्तियों को व्यवसाय के चुनाव करने का समान अवसर प्राप्त था। कोई भी व्यक्ति किसी भी व्यवसाय को अपना सकता था। व्यवसाय के चयन में परिवार और गोत्र का भी कोई प्रभाव, दबाव अथवा परम्परागत हस्तान्तरण नहीं था। चीन का व्यावसायिक चयन तथा व्यवस्था पश्चिम के पूँजीवादी समाजों जैसी थी।

(4) राज्य व्यवस्था (*State System*)—चीन में राज्य व्यवस्था एक प्रकार से धर्म-तन्त्र ही थी जो ईसाई राजनैतिक संरचना से भिन्न थी। चीन में राज्य का सम्राट स्वर्ग पुत्र के रूप में सम्मानजनक समझा जाता था। राजा की प्रतिष्ठा और सम्मान समाज और परमात्मा के बीच की थी। राजा के माध्यम से ही परमात्मा तक पहुँचा जा सकता था। ऐसे में व्यवधान आने पर परमात्मा तक पहुँचने का मार्ग बन्द हो जाता था। चीन के लोगों में सम्राट धार्मिकता का केन्द्र था।

(5) धर्म और प्रशासन (Religion and Administration)—चीन में सभी धार्मिक अधिकार एवं सत्ता सम्राट के हाथ में थी। यहाँ पर न तो कोई पुरोहित था और न ही पुरोहित व्यवस्था। सम्राट की देखरेख में अधिकारियों का विशेष वर्ग मंदारिन का था जो सम्पूर्ण प्रशासन का संचालन करते थे। सम्पूर्ण राजनैतिक तंत्र का संचालन भी ये ही लोग करते थे। लेकिन इस अधिकारी तंत्र (मंदारिन) में यूरोप जैसे बुर्जुआ पूँजीवाद को विकसित करने की क्षमता नहीं थी। राजकीय अधिकारी (मंदारिन) की नियुक्ति उस क्षेत्र में नहीं की जाती थी जहाँ पर उसका कोई पारिवारिक सम्बन्धी रहता हो। अधिकारी को एक स्थान पर तीन वर्ष से अधिक नहीं रहने दिया जाता था। इन नियमों का पालन कड़ाई से किया जाता था। इस प्रकार से अधिकारी केन्द्रीय सत्ता को चुनौती देने की स्थिति में कभी नहीं रहे। चीन की राजनैतिक व्यवस्था में सामन्तवाद कभी नहीं पनपा।

स्थानीय परिस्थितियो के ज्ञान के अभाव मे मंदारिन अधीनस्थ कर्मचारियो पर निर्भर रहता था। मदारिन रोज के काम-काज, राजकीय क्रिया कलापो के लिए अधीनस्थों पर निर्भर रहते थे। वेबर ने इस प्रशासन-तंत्र को अधिकारी-तंत्र (पेट्रिमोनियल) दफ्तरशाही कहा है।

कन्फ्यूशियस और प्रोटेस्टेण्ट धर्म में अन्तर

(Difference Between Confucious and Protestant Religion)

राइनहार्ड वेण्डिक्स (Reihard Bendix) ने "मैक्स वेबर : एक बौद्धिक व्यक्तित्व" कृति में कन्फ्यूशियस धर्म और प्रोटेस्टेण्ट धर्म के बीच पाए जाने वाले कुछ अन्तरों को संक्षिप्त मे निम्न रूप में प्रस्तुत किया है—

कन्फ्यूशियस धर्म	प्रोटेस्टेण्ट धर्म
1 अवैयक्तिक ब्रह्माडीय व्यवस्था मे विश्वास एव जादू के प्रति सहन-शीलता।	विश्वातीत ईश्वर में विश्वास और जादू का त्याग।
2 पृथ्वी और स्वर्ग मे शान्ति बनाए रखने के लिए ससार के साथ अनुकूलन, व्यवस्था का आदर्श।	ईश्वर की दृष्टि मे निरन्तर सदाचार की तलाश के लिए संसार पर अधिकार : प्रगति-शील परिवर्तन का आदर्श।
3 आत्म-परिपूर्णता और गौरव के लिए सतर्क आत्म-नियंत्रण।	मनुष्य की पापी प्रकृति को नियंत्रित करने और ईश्वर की इच्छा को पूर्ण करने के लिए सतर्क आत्म-नियंत्रण।
4. अनुल्लंघनीय परम्परा से सम्बन्धित भविष्यवाणी की अनुपस्थिति, यदि मनुष्य उचित तरीके से कार्य करे तो वह अच्छा बन सकता है और प्रेतात्माओ के क्रोध को टाल सकता है।	भविष्यवाणी परम्परा का निर्माण करती है और वास्तविक संसार पापी प्रतीत होता है; मनुष्य अपने प्रयत्नों से अच्छा नहीं बन सकता।
5. पारिवारिक धर्म-निष्ठा सभी मानवीय सम्बन्धों के संचालन का सिद्धान्त है।	सभी मानवीय सम्बन्ध, ईश्वर की सेवा के अधीन हैं।
6. बन्धुत्व सम्बन्ध ही वाणिज्यिक लेन-देन, ऐच्छिक समितियाँ, कानून और लोक प्रशासन के आधार हैं।	वाणिज्यिक लेन-देन, ऐच्छिक समितियाँ, कानून और लोक प्रशासन के आधार— तर्कयुक्त नियम और समझौते हैं।
7. विस्तृत परिवार से बाहर के सभी व्यक्तियों पर अविश्वास।	उन सभी व्यक्तियों पर विश्वास जो "धर्म-भ्राता" हैं।
8. धर्म एक प्रकार से प्रतिष्ठा और आत्म-पूर्णता का आधार है।	धर्म एक प्रकार से सदाचारी जीवन का अनचाहा उपोत्पाद और प्रलोभन है।

चीन में आधुनिक पूँजीवाद के अभाव के कारण
(Causes of Lack of Modern Capitalism in China)

वेबर ने चीन के धर्म, परिवार, नगर, स्तरीकरण, राज्य व्यवस्था, श्रम और प्रशासन का विस्तृत व्याख्या करने के बाद निष्कर्ष निकाला कि चीन के धर्म के तार्किक होने पर भी वहाँ आधुनिक पूँजीवाद क्यों नहीं पनपा। वेबर ने चीन के धर्म की विशेषताओं के सन्दर्भ में उन कारणों परिस्थितियों, मूल्यों, विश्वासों आदि का मूल्यांकन पूँजीवाद के विकास से सम्बन्धित नीतियों के अभाव के सन्दर्भ में किया है, जो निम्नलिखित हैं।

(1) चीन का कन्फ्यूशियस धर्म अपने धर्मावलम्बियों को समाज के वर्तमान रूप से अनुकूलन करने पर जोर देता था। यह धर्म अपने अनुयायियों को किन्हीं विशेष आदर्शों जैसे—पूँजीवाद के अनुरूप अपने को परिवर्तित करने की आज्ञा नहीं देता था। यह धर्म रूढ़िवादी था।

(2) कन्फ्यूशियस धर्म में जन-कल्याण से सम्बन्धित आर्थिक और राजनैतिक शिक्षा में अनेक बातों का वर्णन काफी बढ़ा-चढ़ा कर किया गया है लेकिन उनमें ऐसी कोई उचित आर्थिक और राजनैतिक मनोवृत्ति नहीं है जो जन कल्याण सम्बन्धी धार्मिक नीतियों में परिवर्तन ला सके अर्थात् आधुनिक पूँजीवाद को स्थापित कर सके। चीन के धर्म की तुलना में प्रोटेस्टेण्ट धर्म में श्रम और कर्म की ऐसी नीतियाँ रहीं जिनसे पूँजीवाद का विकास सम्भव हुआ। चीनी धर्म ने पूँजी के संचय और तार्किक विचारों को कभी भी प्रोत्साहित नहीं किया।

(3) कन्फ्यूशियस धर्म ने चीन की परम्परागत राजनैतिक व्यवस्था को बनाए रखा। इस व्यवस्था में सम्राट को स्वर्ग का पुत्र माना जाता था। उसको चुनौती देने की बात तो कोई सोच भी नहीं सकता था फिर पूँजीवाद कैसे आ सकता था।

(4) यह धर्म पैतृकवाद को विशेष बढ़ावा देता था। यह धर्म पारिवारिक सम्बन्धों की परम्परागत शैली की निरन्तरता पर जोर देता था। इसके प्रभाव के कारण लोग परम्परा और परिपाटी से हमेशा बँधे रहे और उससे स्वतंत्र होने तथा आधुनिक पूँजीवादी मूल्यों को अपनाने के लिए कभी प्रयास नहीं किया।

(5) समाज के सदस्यों ने पूर्वजों द्वारा दी गई सामाजिक व्यवस्था को बिना किसी विरोध एवं प्रश्न के स्वीकार किया था। समाज में किसी भी प्रकार के विरोध के लिए कोई स्थान नहीं था।

(6) कन्फ्यूशियस धर्म में तर्कनापरकता थी परन्तु समाज के सदस्यों ने बिना किसी विवाद के सभी परम्पराओं को स्वीकार कर लिया था। सोरोकिन ने लिखा है कि कन्फ्यूशियस धर्म के प्रति इस प्रकार की निष्ठा और कुछ न होकर पूर्ण रूप से रूढ़िवादिता थी। ऐसी परिस्थितियों में पूँजीवाद का विकास कैसे सम्भव हो सकता है।

(7) कन्फ्यूशियस धर्म ने लोकप्रिय जादू की गहरी जड़ों को कभी भी प्रभावित नहीं किया। इसी प्रकार चीनी समाज में मंदारिन या अधिकारी-तन्त्र से भी विशिष्टीकरण का पूर्ण अभाव था। ये कारक पूँजीवाद के विकास में बाधक रहे थे।

(8) वेबर ने अन्त मे लिखा है कि चीन में पूँजीवाद के नहीं आने का प्रमुख कारण कन्फ्यूनियम धर्म रहा जिसने अपनी आचार संहिता को विवेकीकरण की दृष्टि से कभी भी नहीं देखा था। अगर विवेकीकरण की दृष्टि से आचार संहिता मे परिवर्तन होता तो पूँजीवाद का विकास चीन में भी जाता। चीनी समाज का ज्ञान भी उनके शास्त्रीय ग्रन्थों (क्लासिकल ग्रन्थों) तक ही सीमित रहा। वो इन्हीं ग्रन्थो का अध्ययन करते थे और उसी के अनुरूप रूढ़िवादी जीवन व्यतीत करते रहे। ये कुछ कारण रहे जिनके कारण चीन मे आधुनिक पूँजीवाद का विकास नहीं हो पाया।

भारत का हिन्दू धर्म
(Hindu Religion of India)

वेबर ने विश्व के महान् धर्मों मे जिस दूसरे धर्म का अध्ययन किया है वह हिन्दू धर्म है। इस धर्म का अध्ययन आपकी मृत्यु के बाद 'भारत का धर्म' (The Religion of India) मे प्रकाशित हुआ है। इस हिन्दू धर्म के अध्ययन मे आपने उन कारणों की विवेचना की है जिनके कारण भारत में आधुनिक पूँजीवाद का विकास नहीं हो सका। वेबर ने भारतीय समाज, भारतीय सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक व्यवस्था और इनके प्रभावों से सम्बन्धित विचार—(1) दा रिलिजन ऑफ इण्डिया : दा सोशियोलॉजी ऑफ हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म, (2) ऐसेज इन सोशियोलॉजी, (3) इकोनोमी एण्ड सोसाइटी एवं (4) जनरल इकोनोमिक हिस्ट्री में भी व्यक्त हैं।

वेबर ने दा 'रिलिजिन ऑफ इण्डिया' कृति मे हिन्दू धर्म की विवेचना चीन के धर्म के समान ही निम्न क्रम में की है—भारतीय समाज की सामाजिक संरचना, हिन्दू धर्म के परम्परावादी सिद्धान्त और बौद्ध धर्म के सिद्धान्त, लोकप्रिय कट्टर धर्म के प्रभाव से होने वाले परिवर्तन और अन्त में धार्मिक विश्वासों के भारतीय समाज की धर्म निरपेक्ष नीति पर पड़े प्रभावों का विवेचन किया है। इन विभिन्न पक्षों पर विचार व्यक्त करने से पूर्व वेबर ने भारतीय समाज और धर्म से सम्बन्धित कुछ प्रश्न उठाए थे—पहिले उनका वर्णन करना उपयुक्त होगा।

भारतीय समाज और धर्म से सम्बन्धित प्रश्न (Question related to Indian Society and Religion)—वेबर भारतीय समाज और धर्म से सम्बन्धित निम्न प्रश्नों का परीक्षण एवं निरीक्षण करना चाहते थे—

(1) क्या हिन्दू धर्म और उसकी पारलौकिक तपश्चर्या की नीति आधुनिक पूँजीवाद के विकास में बाधक हैं?

(2) क्या जाति व्यवस्था, परम्परागत संयुक्त परिवार और धार्मिक सम्प्रदाय भारत में वैज्ञानिक अभिवृत्तियों के विकास में बाधक रहे हैं?

(3) क्या हिन्दू धर्म की परम्परागत धार्मिक नीतियों के कारण भारत में आधुनिक आर्थिक औद्योगीकरण की गतिविधियाँ गतिशील नहीं हो पाई हैं?

(4) वे कौन-से विशिष्ट विश्वास हैं जो आर्थिक विकास में बाधक रहे हैं?

(5) वे कौन-से विशिष्ट विश्वास हैं जो भारतीय समाज में तीव्र परिवर्तन के साथ सामंजस्य रखते हैं। ऐसे विश्वासों पर जोर कैसे दिया जाए?

वेबर ने इन उपर्युक्त वर्णित प्रश्नों में मुख्यत: सास्कृतिक, आर्थिक एव आधुनिकीकरण के विकास से सम्बन्धित प्रश्नो का चयन किया है। अब वेबर द्वारा किया हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन प्रस्तुत है।

हिन्दू सामाजिक व्यवस्था
(Hindu Social System)

वेबर ने भारत में हिन्दू सामाजिक व्यवस्था मे जाति की सामाजिक सरचना को उसी प्रकार से एक केन्द्रीय तत्त्व माना था जिस प्रकार से चीनी राजवशीय समाज में पैतृकवाद या कौटुम्बिक समूह और कर्मचारी-तन्त्र को केन्द्रीय तथ्य माना था। आपके अनुसार भारत मे धार्मिक विश्वास तथा सामाजिक स्तरीकरण परस्पर एक-दूसरे से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित हैं। वेबर जाति को प्रस्थिति समूह मानते हैं तथा आपने जाति व्यवस्था की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है।

जाति व्यवस्था की विशेषताएँ (Characteristics of the Caste System)

जाति व्यवस्था की विशेषताओं, लक्षणो पर भारत एवं विश्व के अनेक विद्वानों ने विस्तार से प्रकाश डाला है तथा इसके लक्षणो मे आज अनेक परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे हैं। परन्तु यहाँ पर केवल उन्हीं विशेषताओ का उल्लेख किया जा रहा है जो वेबर ने अपने अध्ययनो मे दी हैं—

(1) अन्तर्विवाही समूह (Endogamous Group)—वेबर ने लिखा है कि एक ही जाति के सदस्य अपनी हो जाति में विवाह करते हैं जिसे अन्तर्विवाही समूह कहते हैं हिन्दू धर्म में जातियाँ अन्तर्विवाही होती हैं।

(2) वंशानुगत व्यवसाय (Hereditary Occupations)—जाति सामान्यतया वंशानुगत व्यावसायिक समूह होते हैं। जाति के सदस्य अपनी हो जाति के वशानुगत व्यवसाय को करते हैं।

(3) जन्म से सदस्यता (Membership by Birth)—जो व्यक्ति जिस जाति मे जन्म लेता है जीवन पर्यन्त वह उसकी जाति का सदस्य रहता है। इस प्रकार से जाति की सदस्यता जन्म के द्वारा निश्चित होती है।

(4) संस्तरण (Hierarchy)—जाति व्यवस्था मे उच्चता और निम्नता के आधार (धार्मिक क्रियाएँ, व्यवसाय, पवित्रता आदि) पर क्रम-विन्यास होता है। इस व्यवस्था मे ब्राह्मण शीर्ष स्थान पर होते हैं। मध्य में क्षत्रिय और वैश्य होते हैं तथा सबसे नीचे दलित जातियाँ होती हैं। कुछ जातियाँ आपस मे समानता का दावा भी करती हैं। वेबर ब्राह्मण जाति को पुरोहित जाति जैसी मानते हैं। जाति व्यवस्था में सभी जातियो के कार्य निश्चित होते हैं।

(5) धार्मिक निर्योग्यताएँ (Religious Disabilities)—निम्न एवं दलित जाति के लोग मन्दिर मे प्रवेश नहीं कर सकते हैं। धार्मिक ग्रन्थो को नहीं पढ सकते हैं। ये अस्पृश्य माने जाते हैं। इनको छूने से द्विज ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपवित्र हो जाते हैं। इस प्रकार जातियो मे कुछ धार्मिक निर्योग्यताएँ होती हैं।

हिन्दू रूढ़िवादिता
(Hindu Orthodoxy)

वेबर ने हिन्दू धर्म के धार्मिक विश्वासों, धर्म परायणता या शास्त्र-सम्मत विशेषताओं का अध्ययन किया। आपने हिन्दू धर्म के दो प्रमुख सिद्धान्तों—(1) पुनर्जन्म और (2) कर्म—का वर्णन किया है। इन सिद्धान्तों के द्वारा आपने निम्न दो प्रश्नों का उत्तर दिया है—(1) क्या हिन्दू धर्म का मनुष्य भी दिन-प्रतिदिन की सांसारिक गतिविधियों पर कोई प्रभाव है? और(2) यदि है तो इन विश्वासों की प्रणालियों ने आर्थिक व्यवहारों को क्या कोई नई दिशा प्रदान की?

पुनर्जन्म एवं कर्म का सिद्धान्त
(Theory of Rebirth and Karma)

वेबर ने लिखा है कि व्यक्ति को प्रत्येक जन्म में पूर्व जन्म के पापों के अनुसार फल मिलता है। पहिले हिन्दू धर्म में आत्मा को अमर नहीं माना जाता था। परलोक में मनुष्यों और देवताओं का अस्तित्व अनन्त नहीं माना जाता था। बाद में ब्राह्मणों की कल्पना ने दूसरी मृत्यु के विचार के विकसित किया जिससे मरने वाली आत्मा दूसरा जन्म पाती है। मनुष्यों के अच्छे या बुरे कर्म के फल के विचार को पुनर्जन्म के विचार के साथ जोड़ दिया गया। मनुष्यों के कर्मों का प्रभाव अगले जन्म में उसके भाग्य पर अनिवार्य रूप से पड़ता है तथा उसकी जाति सम्बन्धी सदस्यता इसी से निर्धारित होती है। वेबर की मान्यता है कि इन विचारों के द्वारा ब्राह्मणों ने व्यक्तियों के कृत्यात्मक और नैतिक पुण्यों और पापों का लेखा-जोखा (बहीखाता) बना दिया। उन्होंने कहा कि हिन्दू धर्म में यह रूढ़िवादिता विकसित हो गई कि अगले जन्म में एक व्यक्ति का भाग्य उसी अनुपात में होगा जिस अनुपात में पिछले जन्म के पुण्यों और पापों का चिट्ठा है। जाति व्यवस्था इन विचारों से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है। किसी व्यक्ति का निश्चित जाति में जन्म लेना उसके पिछले जन्म के कर्मों के परिणामस्वरुप होता है और इस जन्म में जाति-कृत्यों का श्रद्धापूर्वक पालन अगले जन्म में उच्च योनि या जाति की प्राप्ति करने के लिए आवश्यक पुण्य है।

वेबर की मान्यता है कि प्रत्येक हिन्दू ऐसी जीवन पद्धति में फँस गया जिसके लिए इन सिद्धान्तों का बहुत व्यावहारिक अर्थ था। व्यक्ति कर्मों के आधार पर अगले जन्म में एक देवता, एक ब्राह्मण या एक क्षत्रिय बन सकता है लेकिन इस जन्म में वह कुछ नहीं कर सकता है। व्यक्ति के लिए धर्म की उपेक्षा इस जन्म तथा अगले जन्म में भी हानिकारक है। मनुष्य का कर्म आत्मा के भाग्य का निर्णायक है।

हिन्दू धर्म का आर्थिक जीवन पर प्रभाव
(Impact of Hindu Religion on Economic Life)

वेबर के अनुसार भारत के हिन्दू धर्म की नीति प्रोटेस्टेण्ट धर्म जैसी नहीं थी। धनोपार्जन के लिए जैसी बौद्धिकता की आवश्यकता होती है उसका हिन्दू धर्म में अभाव पाया गया। वेबर के अनुसार हिन्दू धर्मानुसार यह संसार एवं जीवन एक अस्थाई पड़ाव था जिसका व्यक्ति के आर्थिक जीवन एवं व्यवहार पर कोई दबाव नहीं पड़ा। इसी कारण भारत में प्रोटेस्टेण्ट धर्म की तरह पूँजीवादी आर्थिकी का विकास नहीं हुआ। वेबर ने अन्त में निष्कर्ष दिया कि भारत की सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक नीति में वे लक्षण विद्यमान नहीं थे जो धर्म-निरपेक्ष व्यवहारों तथा पूँजीवादी विचारधारा को शक्तिशाली बनाते।

वेबर के निष्कर्ष (Conclusions of Weber)—वेबर ने हिन्दू धर्म के तुलनात्मक अध्ययन सम्बन्धी निम्न परिणाम दिए हैं—

(1) जाति व्यवस्था से सम्बन्धित कर्मकाण्ड वृहद् उद्यमों के विकास मे बाधक रहे।

(2) भारत की सामाजिक व्यवस्था और विशेष रूप से इसकी परम्पराएँ बहुत अधिक रूढ़िवादी थीं जो भारत मे आर्थिक विकास मे बाधाएँ बनी रहीं।

(3) पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त के कारण आर्थिक विकास नहीं हो पाया। ये सिद्धान्त आर्थिक विकास मे बाधक रहे जिससे पूँजीवाद का विकास नहीं हो सका। व्यक्ति वर्तमान जीवन एव जन्म को अस्थाई निवास मानकर धर्म के नाम पर व्यवहार करता था तथा मोक्ष के लिए कर्म करता था।

(4) पुनर्जन्म, मोक्ष, कर्म आदि मे धार्मिक विश्वास के कारण लोग लौकिक जीवन की तुलना मे पारलौकिक जीवन के लक्ष्य को ध्यान मे रखकर जीवन व्यतीत करते थे। पुनर्जन्म और कर्म की नीति या आचार संहिता ने वर्तमान जीवन के विकास मे बाधा खडी करदी।

(5) शिक्षित, पढे-लिखे, राजा-महाराजा, पुरोहित, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का विश्वास था कि जादू और धार्मिक अनुष्ठान देश की सुरक्षा करेंगे। इस प्रकार के सोच ने आर्थिक विकास को अवरुद्ध एव हतोत्साहित किया।

वेबर के अनुसार इन्हीं धार्मिक नीतियो ने भारत मे सभी प्रकार के उद्यमो के होते हुए भी आधुनिक पूँजीवाद को कभी भी विकसित नहीं होने दिया।

प्राचीन यहूदी धर्म

यह पुस्तक मैक्स वेबर की मृत्यु के बाद प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में आपने उन परिस्थितियों का वर्णन किया है जो पश्चिमी समाजो में धार्मिक तार्किकता के विकास मे सहायक रही हैं। यहूदी धर्म ने प्रोटेस्टेण्ट धर्म मे संसार के स्वरूप में परिवर्तन लाने वाली नैतिकता का विकास किया। यहूदी पैगम्बर संसार को शाश्वत नहीं मानते थे। वे इसे उत्पन्न किया हुआ मानते थे। वो संसार को एक ऐतिहासिक घटना मानते थे। यहूदी धर्मावलम्बियों का विश्वास है कि ईश्वर के द्वारा भविष्य में निश्चित सामाजिक और राजनैतिक क्रान्ति होगी जिसके अनुसार व्यक्तियो की मनोवृत्तियाँ होनी चाहिए।

इन्हीं विश्वासों ने यहूदियो में व्यवहार की उच्च तर्कनापरक धार्मिक संहिता विकसित की। यहवा (यहूदियो के उपास्य) ने नम्रता एवं आज्ञा पालन को व्यक्ति का विशिष्ट गुण बताया है। इन्होने यह भी व्याख्या की है कि पुण्य करने की जरूरत एवं अच्छे तथा बुरे भाग्य की आशाएँ निकट भविष्य से ही सम्बन्धित होती हैं। इस प्रकार से यहूदी धर्म एक ऐसे धर्म को महत्त्व देता है जो व्यक्ति के दिन-प्रतिदिन के जीवन को ईश्वर द्वारा निर्देशित नैतिक नियमो से सम्बन्धित कर देता है। यहूदी धर्म रहस्यमयी कल्पनाओ और परम्परागत लक्षणों से स्वतंत्र रहा है। जहाँ ईसाई धर्म सभी सांसारिक वस्तुओं का त्याग करने की बात करता है वहाँ यहूदी धर्म ने प्रोटेस्टेण्ट धर्म में एक ऐसी नैतिकता को विकसित किया है जो आर्थिक व्यवस्था तथा ससार के स्वरूप में परिवर्तन करना चाहती थी। सारांशत: यहूदी धर्म के विश्वास, नीति, आचार संहिता, मूल्य, पैगम्बर के उपदेश आदि ने तर्कनापरकता के विकास में योगदान देकर पूँजीवाद के विकास को प्रोत्साहित किया है।

धर्मों के तुलनात्मक अध्ययनों का निष्कर्ष
(Conclusion of Comparative Studies of Religions)

वेबर के धर्मों के तुलनात्मक अध्ययनों का उद्देश्य धार्मिक नीतियों का आधुनिक पूँजीवाद के विकास के योगदान को ज्ञात करना था। आपने धार्मिक आचार संहिताओं, पैगम्बरों के उपदेश, विभिन्न धार्मिक सिद्धान्तों, उद्देश्यों आदि के प्रभावों को पूँजीवाद के विकास में देखने का प्रयास किया। आपने सामाजिक स्तरीकरण पर धर्म के प्रभावों का भी विश्लेषण करके स्पष्ट किया कि संस्तरण का निर्णायक धार्मिक नीतियाँ हैं। पारसन्स ने लिखा है कि धर्म के समाजशास्त्र की व्याख्या में वेबर का महत्त्वपूर्ण योगदान एक व्यवस्थित पद्धतिशास्त्रीय अन्तर्दृष्टि है जिसके द्वारा आपने विभिन्न कारकों को एक-दूसरे से अलग करके उनके कारण और प्रभावों को एक-दूसरे की तुलना में स्पष्ट किया। वेबर ने मार्क्स से भिन्न आर्थिकी का निर्णायक धर्म को स्थापित किया। वेबर का विश्व के धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन धर्म के समाजशास्त्र में विशिष्ट महत्त्व रखता है।

आलोचना
(Criticism)

टानी ने वेबर के सिद्धान्त की निम्न आलोचनाएँ की हैं--

(1) वेबर ने आर्थिक सभ्यता के विकास में मात्र धार्मिक आन्दोलनों के योगदान तक स्वयं को सीमित रखा है। परन्तु यह एक कठिन प्रश्न है कि पूँजीवादी आर्थिक आविष्कार पर कितना काल्विन का प्रभाव रहा और कितना अन्य शक्तियों का। तर्क के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि काल्विनवाद द्वारा पूँजीवादी आत्मा को उत्पन्न किए जाने के काल्विनवाद और पूँजीवाद दोनों ही आर्थिक संगठन और सामाजिक संरचनाओं में परिवर्तन के भिन्न-भिन्न प्रभाव हैं।

(2) ब्रैन्टानो ने लिखा है पुनर्जागरण काल का राजनैतिक विचार परम्परात्मक अवरोधों को हटाने में उतना ही प्रभावी साधन था जितनी काल्विन की शिक्षा रही।

(3) क्या यह तर्क उतना ही सत्य और एक-पक्षीय नहीं होगा कि धार्मिक आन्दोलन स्वयं आर्थिक आन्दोलन का परिणाम है?

(4) वेबर के लेख से कभी-कभी यह झलकता है कि उन्होंने वैचारिक एवं नैतिक प्रभावों को उन घटनाओं की उत्पत्ति में सहायक माना है जो शक्तियों के परिणाम रहे हैं।

(5) वेबर विश्व के धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन में अनेक स्थलों पर पूर्वाग्रह से ग्रसित दृष्टिगोचर होते हैं। आप भारतीय समाज का विवेचन यूरोपीय समाज को यथार्थ की दृष्टि से करते हैं और इसी प्रकार भारतीय और चीनी समाज में यूरोप की सभ्यता के विवेकीकरण और अधिकारी तन्त्र की खोज करते हैं। आपकी रुचि केवल यूरोप की सभ्यता और धर्म में थी और भारत तथा चीन के धर्मों में आपने यूरोप में स्थापित सिद्धान्तों की जाँच करना चाहा था। इससे पूर्वाग्रह आ गए जिससे आपका अध्ययन पूर्ण वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता है।

(6) वेबर द्वारा दिए गए निष्कर्ष कि भारतीय हिन्दू धर्म की नीति आधुनिक पूँजीवाद के अनुकूल नहीं थी–को भारतीय समाजशास्त्रियो द्वारा त्रुटिपूर्ण, अवैज्ञानिक तथा गलत बताया गया है। ऐसा 1960 मे भारतीय समाजशास्त्रियो के सम्मेलन मे सर्वसम्मति से कहा गया था तथा निष्कर्ष दिया गया था कि हिन्दू धर्म के परम्परागत सास्कृतिक मूल्य भारत के आर्थिक विकास मे कभी भी बाधक नहीं रहे।

(7) वेबर ने हिन्दू धर्म को उसकी सम्पूर्णता मे कभी भी नहीं देखा। माइरन को मान्यता है कि हिन्दू धर्म ने लौकिक और पारलौकिक दोनो क्रियाओं एव व्यवहारो को समान रूप से महत्त्व दिया था। इस हिन्दू धर्म मे कई सम्प्रदाय हैं जिनका वेबर ने पूर्ण अध्ययन नहीं किया। आपने तो केवल कुछ सम्प्रदायों के आधार पर सामान्यीकरण स्थापित किए जो उनकी कमी थी। आपने वैष्णव धर्म जो कि पूँजीवाद के विकास मे सर्वदा अग्रणी रहा है—का कहीं भी वर्णन नहीं किया है। मनु ने वैश्य जाति को आर्थिक समृद्धि के लिए सब कुछ करने के अधिकार की बात लिखी है। इन्होने यह भी लिखा है कि पूँजीवाद के विकास के लिए व्यापारियो को राजा को सलाह भी देनी चाहिए।

(8) सुरेन्द्र मुंशी वेबर की आलोचना करते हुए लिखते हैं कि गुजरात और पश्चिमी बगाल मे वैष्णव अनुयायियो ने व्यवसाय का विकास किया। सूती कपडा मिले लगाई। उद्योगो का विकास किया। यह सब पूँजीवादी विकास भारतीय समाज मे धर्म की आन्तरिक प्रक्रियाओं तथा नीतियो के द्वारा हुआ था जिसका वेबर ने अध्ययन नहीं किया।

(9) **हेलेन लेम्ब तथा सुरेन्द्र मुंशी** ने आर्यों के युग के बडे-बडे शहरो तथा व्यापारियों का वर्णन किया है। जैन और बौद्ध काल मे बडे-बडे धनी व्यापारी थे उनके पास अपार धन था। वेबर ने मात्र गीता के कर्म की व्याख्या की परन्तु अन्य कारणों, धर्मों तथा नीतियो का अध्ययन एवं वर्णन नहीं किया जो उनके सिद्धान्त की बड़ी कमी रही है।

(10) **हेलेन लेम्ब** लिखते हैं कि भारत ने शून्य का आविष्कार किया। व्यापार, कर, ब्याज, ऋण आदि की गणना के सम्बन्ध मे भारत मे पर्याप्त साहित्य प्राचीन कृतियों मे मिलता है, गणना के अनेक सूत्र मिलते हैं। इसके उपरान्त भी यह निष्कर्ष देना कि भारत में पूँजीवाद के विकास की परिस्थितियाँ नहीं थीं, गलत है।

(11) वेबर के कथन कि हिन्दू धर्म मे गुप्तोपासना और जादू का बहुत अधिक महत्त्व है को **रोजेल (Rosel)** ने स्वीकार नहीं किया है। वेबर ने अपने कथन के समर्थन में न तो प्रमाण ही दिए हैं और न ही यह स्पष्ट किया कि हिन्दू अनुयायी मोक्ष प्राप्ति या कर्मकाण्ड में जादू को काम मे लेते थे। बद्रीनाथ ने लिखा है कि वेबर ने कभी भी हिन्दू धर्म का गहन अध्ययन नहीं किया।

(12) **श्यामाचरण चरण दुबे** ने लिखा है कि हिन्दू धर्म को एकीकृत रूप मे रखना कठिन है तथा सांस्कृतिक अर्थों में हिन्दी धर्म कभी भी आर्थिक विकास के प्रतिकूल नहीं रहा। अन्य सामाजिक वैज्ञानिको ने भी दुबे के निष्कर्ष का समर्थन किया है। इस प्रकार वेबर का निष्कर्ष तर्कहीन, प्रमाणरहित एवं अवैज्ञानिक है।

(13) **मिल्टन सिंगर** ने अपने अध्ययन के आधार पर लिखा है कि मद्रास शहर मे कभी भी जाति, संयुक्त परिवार, धार्मिक सम्प्रदाय, परमपरागत व्यवमाय आदि उद्यमशीलता मे बाधक नहीं रहे हैं। इस आधार पर वेबर का निष्कर्ष गलत है।

(14) **योगेन्द्र सिंह** के अनुसार वेबर का निष्कर्ष केवल एक आदर्श प्रारुप हो सकता है। आनुभविक स्तर पर उसे अवलोकित करना कठिन है। योगेन्द्र सिंह के अनुसार धार्मिक आचार संहिता आधुनिक आर्थिक विकास के प्रतिकूल नहीं रही। इस आचार संहिता ने आधुनिक तकनीकी का विरोध कभी नहीं किया। भारत के लोगों ने विशेष रूप से हिन्दू अनुयायियों ने योगेन्द्र सिंह के अनुसार, तर्कनापरकतापूर्ण पद्धतिया का स्वय स्वागत किया है। निष्कर्षतः भारतीय समाजशास्त्रियों की मान्यता है कि वेबर का भारतीय समाज और धर्म का अध्ययन गहन नहीं था।

❐

अध्याय–10

मार्क्स : दार्शनिक और आर्थिक पाण्डुलिपि और वर्ग–संघर्ष

(Marx : Philosophical and Economic Manuscript and Class-Struggle)

कार्ल मार्क्स सामाजिक-विचारक और दार्शनिक होने के साथ-साथ वैज्ञानिक समाजवाद के जनक तथा क्रान्तिकारी विचारधारा वाले थे। आपने समाजवादी साहित्य की रचना के साथ-साथ विश्व को ऐसी क्रान्तिकारी विचारधारा प्रदान की जिसने विश्व के इतिहास की दशा को ही परिवर्तित कर दिया। आप एक महान् समाजशास्त्री, इतिहासज्ञ, अर्थशास्त्री, राजनीतिशास्त्री अर्थात् आप एक महान् सामाजिक वैज्ञानिक हैं। आपके द्वारा विभिन्न उपलब्धियो का आधार ऐतिहासिक उपागम, ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति और ऐतिहासिक सिद्धान्तों का निर्माण है। मार्क्स के पूर्व अनेक विद्वानो—प्लेटो, सेन्ट साइमन, लुई ब्लॉक, फोरियर रॉबर्ट, आवेन, विलियम थाम्पसन, नायल बावेफ आदि ने समाजवादी विचार व्यक्त करते हुए समाज के लिए नवीन व्यवस्था योजना प्रस्तुत की थी, किन्तु इनके विचार प्रमुखत: राजनीतिक एवं धार्मिकता पर आधारित थे। ये वैज्ञानिक आर्थिक विषमता के स्थान पर समाज मे धन के न्यायोचित वितरण तथा विभिन्न वर्गों में सहयोगी सम्बन्धो पर अधिक बल देते थे तथा पूँजीवादी व्यवस्था में उपस्थित धन की विषमता के साथ-साथ स्वंतत्र प्रतियोगिता और आर्थिक क्षेत्र मे राज्य के हस्तक्षेप की आलोचना भी करते थे फिर भी ये विद्वान यह न बता सके कि इस विषमता का कारण क्या है? और उत्पादन की विधियो के साथ इसका क्या सम्बन्ध है? इन्होंने समाज की प्रगति और विकास को भी समझने का प्रयास नहीं किया। इसलिए इन समाजवादियों को "स्वप्नलोकीयसमाजवादी" कहा जाता है। इन विद्वानो द्वारा अनुत्तरित पहुलओं, पक्षो और समाधानो का उत्तर कार्ल मार्क्स ने विभिन्न समाजो का गहन अध्ययन करके दिया। इन्होंने सुदृढ़ आधार प्रस्तुत किए हैं, जिसे सम्पूर्ण विश्व ने स्वीकारा है।

कार्ल मार्क्स के मूल समाजशास्त्रीय विचार
(Orginal Sociological thoughts of Karl Marx)

कार्ल मार्क्स के समाजशास्त्रीय योगदान की विवेचना करने मे पूर्व यह श्रेयस्कर होगा कि हम मार्क्स की महत्त्वपूर्ण कृतियो के कुछ प्रमुख अंशों का अध्ययन करें जिसमे उनके उद्देश्यो,

अभिग्रहों, अध्ययन प्रणाली, प्रारूप, अवधारणाओं, सिद्धान्तों और सामान्यीकरणों आदि के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण जानकारी विद्यमान है। सोरोकिन के अनुसार मार्क्स के समाजशास्त्रीय सामान्यीकरणों और सिद्धान्तों आदि का सार मार्क्स द्वारा लिखित ''क्रिटिक ऑफ पॉलिटिकल इकोनोमी की भूमिका'', 1859, एवं ''कम्यूनिस्ट पार्टी के घोषणा पत्र'', 1848, के कुछ अंशों मे देख सकते हैं। सोरोकिन के कथनानुसार इन निम्न उद्धरित अंशों के अध्ययनों से मार्क्स के समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को प्रमुख एवं आवश्यक विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं। ये हिन्दी में अक्षरश: अनुवादित एवं रूपान्तरित मूल अंश निम्नलिखित हैं—

I. 'क्रिटिक ऑफ पॉलिटिकल इकोनोमी' की भूमिका, *1859*
(Preface of the 'Critique of Political Economy', 1859)

''जिन सामान्य निष्कर्षों पर मैं पहुँचा हूँ और जो मेरे अध्ययनों की एक सतत् शृंखला के निरन्तर आधार रहे हैं वे सार रूप में निम्न हैं—सामाजिक उत्पादन जिन्हें मानव करता है उनमें वह निश्चित प्रकार के सम्बन्धों मे प्रवेश करता है वे अपरिहार्य होते हैं तथा उसकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं, ये उत्पादन के सम्बन्ध निश्चित उत्पादन की वस्तुओं की शक्ति के विकास की अवस्था से सम्बन्धित होते हैं। ये उत्पादन के सम्बन्धों के योग समाज की आर्थिक संरचना को निर्मित करते हैं—यह वास्तविक आधारशिला है, जिस पर कानूनी और राजनैतिक अधिसंरचना निर्मित होती है और इसके अनुरूप निश्चित सामाजिक चेतना का विकास होता है। भौतिक जीवन में उत्पादन की विधि सामाजिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक जीवन की प्रक्रियाओं का निर्माण करती है। यह मानव की चेतना नहीं है जो उनके अस्तित्व का निर्णय करती है, बल्कि इसके विपरीत सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना का निर्णय करता है।

उनके विकास की एक निश्चित अवस्था में, समाज में उत्पादन की भौतिक शक्तियाँ विद्यमान उत्पादन के सम्बन्धों के साथ संघर्ष करती हैं......सम्पत्ति के साथ संघर्ष करती हैं जिनमें वो पहिले कार्य कर रही थी। उत्पादन की शक्तियों के स्वरूपों के विकास से ये सम्बन्ध उनकी बेड़ियों में बदल जाते हैं। तब सामाजिक क्रान्ति का काल आता है। आर्थिक आधार के परिवर्तन के साथ-साथ सम्पूर्ण बड़ी अधिसंरचना कम-या-अधिक रूप में तेजी से रूपान्तरित हो जाती है। इस प्रकार के रूपान्तरण में इस बात का सर्वथा अन्तर रखना होगा कि उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियों के भौतिक रूपान्तरण का निर्णय प्राकृतिक विज्ञान की यथार्थता करती है तथा कानूनी, राजनैतिक, धार्मिक, सौन्दर्यशास्त्रीय या दार्शनिक—संक्षिप्त में आदर्शात्मक स्वरूप जिससे संघर्षों के प्रति मानव सचेत होता है तथा इनसे वह युद्ध करता है। जिस प्रकार से हमारा मत एक व्यक्ति के सम्बन्ध में इस पर आधारित नहीं होता है कि वह स्वयं के बारे में क्या सोचता है उसी प्रकार से हम किसी काल के रूपान्तरण के सम्बन्ध में उसकी चेतना के आधार पर निर्णय नहीं कर सकते हैं; इसके विपरीत, इस चेतना की व्याख्या भौतिक जीवन के विरोधों, उत्पादन की सामाजिक शक्तियों तथा उत्पादन के सम्बन्धों के आधार पर करनी चाहिए। कोई भी सामाजिक व्यवस्था तब तक लुप्त नहीं होती है जब तक कि सभी उत्पादन की शक्तियाँ जिनके विकास की सम्भावना होती है विकसित नहीं हो जाती हैं, और नवीन उच्चतर उत्पादन के सम्बन्ध कभी भी तब तक

उत्पन्न नहीं होते हैं, जब तक कि उनके अस्तित्व के लिए आवश्यक भौतिक परिस्थितियाँ पुराने समाज के गर्भ मे परिपक्व नहीं हो जाती हैं। इसीलिए मानव जाति सर्वदा केवल उन्हीं समस्याओ को लेती है जिन्हे हल कर सकती है, विषय को अधिक निकटता से देखने से हम हमेशा पाते हैं कि समस्या तभी उत्पन्न होती है जब उसे हल करने की भौतिक परिस्थितियाँ पहिले से ही विद्यमान होती हैं अथवा विद्यमान होने की प्रक्रिया मे होती है। हम प्रमुख रूपरेखा (बिन्दुओ) के रूप मे समाज के आर्थिक विकास के रूपान्तरणो के अनेक कालो मे, जैसे—एशियाई, प्राचीन सामन्ती और आधुनिक बुर्जुवा उत्पादन की पद्धतियो मे ऐसा पाते हैं। बुर्जुवा उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया के अन्तिम विरोध (संघर्ष) हैं—यह सघर्ष व्यक्तिगत सघर्षवाद के अर्थ मे नहीं है बल्कि यह उन परिस्थितियो मे से उत्पन्न होता है जो समाज मे व्यक्तियो के जीवन को चारो ओर से घेरे रहता है। इसी के साथ-साथ इस सघर्ष का समाधान उन उत्पादन की शक्तियो के द्वारा होता है जो बुर्जुवा समाज की भौतिक परिस्थितियो के गर्भ से विकसित होती हैं। यह सामाजिक रूपान्तरण मानव समाज के पूर्व ऐतिहासिक अवस्था के अन्तिम अध्याय को बनाता है।

II. कम्युनिष्ट पार्टी का घोषणा-पत्र 1848
(Manifesto of Communist Party 1848)

मार्क्स ने कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणा पत्र, 1848 में वर्ग-सघर्ष के सिद्धान्त की जो विवेचना की है, वह इस प्रकार है—

"आज तक अस्तित्व में जो समस्त समाज है उनका इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।"

"स्वतन्त्र मनुष्य और दास, पेट्रीशियन और प्लेबियन, सामन्ती प्रभु और भूदास, शिल्प-सघ का उस्ताद-कारीगर और मजदूर-कारीगर—संक्षेप में उत्पीड़क और उत्पीडित (शोषक और शोषित) बराबर एक-दूसरे का विरोध करते आए हैं। वे कभी छिपे, कभी प्रकट रूप से लगातार एक-दूसरे से लड़ते रहे हैं, जिस लड़ाई का अन्त हर बार या तो पूरे समाज के क्रान्तिकारी पुनर्गठन मे या संघर्षरत वर्गों की बर्बादी में हुआ है।"

मार्क्स के उद्देश्य, अभिग्रह, पद्धतिशास्त्र और प्रारूप
(Aims, Assumptions, Methodology and Typology of Marx)

कार्ल मार्क्स के समाजशास्त्रीय योगदान का अध्ययन करने से पूर्व मार्क्स के उद्देश्य, अभिग्रह, पद्धतिशास्त्र और प्रारूप को समझना श्रेयस्कर होगा जो निम्न प्रकार से हैं—

1. उद्देश्य
(Aims)

मार्क्स का प्रमुख लक्ष्य जीवन की परिस्थितियों और विचारो के पारस्परिक सम्बन्धो का विश्लेषण करना था। आप समाज की आर्थिक उप-सरचना का समाज के मानव अधिसंरचना के साथ परस्पर सम्बन्ध का विश्लेषण एक निरन्तर परिवर्तित समाज के ऐतिहासिक विकास के

आधार पर करना चाहते थे। इस प्रकार का पारस्परिक प्रतिक्रियात्मक सम्बन्ध मार्क्स के विचारों का भौतिक आधार था। उन्होंने इसी दृष्टिकोण से 'स्वाभाविक मानव' का 'अलगाव मानव' के रूप में परिवर्तन का अध्ययन किया था। आपका मत है कि यह परिवर्तन औद्योगिकीकरण और पूँजीवाद के शोषण के द्वारा होता है। समाज के पुनर्परिवर्तन के सिद्धान्त के पीछे उनका एक वैचारिक लक्ष्य था। आपने अनुमान लगाया था कि 'अलगाव मानव' पुनः परिवर्तित होगा और एक ऐसे स्वाभाविक मानव के रूप में बदलेगा जो अपने प्राकृतिक और सामाजिक पर्यावरण से सामजस्य करेगा। आपने भौतिक द्वन्द्वात्मकवाद के सन्दर्भ में राजनैतिक अर्थशास्त्र के विस्तृत ऐतिहासिक अध्ययन की योजना बनाई। मार्क्स इस प्रकार से एक व्यावहारिक सिद्धान्तवेत्ता थे। आपने जर्मन हीगल परम्परा का उपयोग किया। हीगलवाद के द्वारा अपने जीवनकाल में विद्यमान राजनैतिक और आर्थिक अत्याचार और उत्पीड़न के विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। मार्क्स ने समाज के एक द्वन्द्वात्मक परिवर्तन के सिद्धान्त का विकास किया। इस सिद्धान्त में प्रमुख जोर आर्थिक उपसरचना पर था।

2. अभिग्रह
(Assumption)

प्रत्येक सिद्धान्त अथवा वैज्ञानिक के विचार के कुछ महत्वपूर्ण आधार होते हैं। इनको समझे बिना सिद्धान्तों अथवा विचारों को समझना कठिन है। मार्क्स के भी द्वन्द्वात्मक, भौतिकवाद, वर्ग-संघर्ष व समाज की ऐतिहासिक व्याख्या आदि के कुछ मौलिक आधार हैं। मार्क्स कुछ बातों को मानकर चलते हैं जिस पर आपके सिद्धान्त तथा व्याख्याएँ आधारित हैं। निम्नांकित कुछ महत्वपूर्ण आधार या अभिग्रह हैं जिन पर मार्क्स के विचार तथा व्याख्याएँ आधारित हैं।

1. चेतना का निर्णायक अस्तित्व (Existence Determines Consciousness)—मार्क्स का सबसे महत्वपूर्ण और मौलिक अभिग्रह है, **"अस्तित्व चेतना का निर्णायक है।"** इससे आपका तात्पर्य है कि जीवन की भौतिक परिस्थितियाँ सामाजिक या मानकात्मक चेतना को नियन्त्रित, निर्देशित और संचालित करती हैं। भौतिक परिस्थितियाँ सामाजिक अन्तर्विवेक को परिभाषित करती हैं।

2. भौतिक अभौतिक का निर्णायक (Material Determines the Non-material)—मार्क्स के सिद्धान्त का दूसरा महत्वपूर्ण अभिग्रह है, **"भौतिक अभौतिक का निर्णायक है।"** आपका मत है, **"उत्पादन के प्रकार सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक जीवन की प्रक्रिया के सामान्य लक्षणों का निर्धारण करते हैं।"** भौतिक विचारों का निर्धारण करते हैं। भौतिक परिवर्तन के द्वारा सामाजिक परिवर्तन होता है। सामाजिक चेतना तथा आदर्शों में परिवर्तन का कारण भौतिक कारक हैं।

3. भौतिक परिस्थितियों में समाज का उद्गम (Society is rooted in material conditions)—मार्क्स ने इसी प्रकार आगे स्पष्ट किया, **"समाज का उद्गम भी जीवन की भौतिक परिस्थितियाँ हैं।"** मानव अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो प्रयास

करता है उसके परिणामस्वरूप आर्थिक उप-सरचना का विकास होता है। यही आर्थिक उप-सरचना समाज को राजनैतिक तथा कानूनी उप-सरचनाओ को निर्धारित तथा परिभाषित करती है। मार्क्स के अनुसार समाज, इस प्रकार से, उद्विकास के सन्तुलन को प्रदर्शित करता है जिसमे सामाजिक चेतना तथा सम्बन्धो को उत्पादन के प्राथमिक तरीके (आर्थिक व्यवस्था) निश्चित करते हैं। यह कार्ल मार्क्स के सिद्धान्त का तीसरा महत्त्वपूर्ण अभ्युपगम है।

4. द्वन्द्वात्मक उद्विकास (Dialectic Evolution)—मार्क्स का चौथा और अन्तिम महत्त्वपूर्ण अभ्युपगम है आर्थिक उप-संरचना और मानकात्मक अधि-सरचना मे परस्पर द्वन्द्वात्मक अन्तर्क्रिया होती है जिसके फलस्वरूप समाज अनेक उद्विकासीय चरणो से गुजरता हुआ आगे बढता है। आपका मानना था कि जनसख्या और आवश्यकताओ मे वृद्धि के परिणामस्वरूप श्रम-विभाजन मे भी वृद्धि होती है तथा भूमिकाओ मे भी वृद्धि होती है। इस विकास के कारण निजी सम्पत्ति मे वृद्धि होती है। औद्योगिकीकरण के प्रभाव के फलस्वरूप निजी सम्पत्ति से पूँजीपति व्यवस्था का विकास होता है। मार्क्स का यह भी मानना था कि आर्थिक प्रभुत्व तथा पूँजीवाद से सर्वहारा-वर्ग (श्रमजीवी वर्ग) का प्रकृति तथा उत्पादन के साधनो से अलगाव होगा। उत्पादन के साधनो, उत्पादन के तरीको तथा सम्बन्धो पर शोषक-वर्ग या पूँजीपति-वर्ग का पूर्ण नियन्त्रण होगा तथा सर्वहारा-वर्ग का शोषण होगा।

साराश मे यह कह सकते है कि मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्वात्मकता को अपनाया जिसमे भौतिकवाद को कारण मानकर समाज के इतिहास का अध्ययन किया। मार्क्स का सिद्धान्त भौतिक निर्णायकवाद का सिद्धान्त है।

समाज मे श्रम-विभाजन और निजी सम्पत्ति के अधिकारो मे वृद्धि के कारण पूँजीवाद का विस्तार होता है। आगे चलकर, मार्क्स के अनुसार पूँजीवाद मे द्वन्द्व होगा जो समाजवाद के लिए एक आन्दोलन के रूप मे शुरू होगा जो अन्त में एक ऐसे समाज का निर्माण करेगा जिसमे मानव प्रकृति और सामाजिक वातावरण के साथ पुन: जुड़ जायेगा तथा एक 'स्वाभाविक मानव' का उदय होगा।

3. पद्धतिशास्त्र
(Methodology)

मार्क्स अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के लिए विख्यात हैं। आपने समाज के इतिहास का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर अध्ययन किया है। द्वन्द्वात्मक जर्मनी के दर्शन की देन है। विशेष रूप से फ्रेडरिक हीगल की रचनाओ मे द्वन्द्वात्मक को देखा जा सकता है। आपने लिखा है कि घटना मे परिवर्तन के कारण स्वयं घटना में ही विद्यमान होते हैं। आप परिवर्तन को वाद (मूल अवस्था) और प्रतिवाद (विरोधी अवस्था) से समवाद (प्रथम दोनो अवस्थाओ का समन्वय) के रूप मे मानते हैं, जो कि एक नूतनवाद (नई अवस्था) के रूप मे पनपता है, मानते हैं। यह द्वन्द्वात्मक उद्विकास घटना के गत्यात्मक उद्विकास और परिवर्तन को व्याख्या करता है। इसको हम निम्न प्रकार से भी समझ सकते हैं। मार्क्स का कहना है कि प्रत्येक वस्तु गतिशील होती है, कोई भी वस्तु स्थिर नहीं होती है। वस्तुओ मे परिवर्तन अवश्यभावी है। आपने कहा कि

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार प्रत्येक पदार्थ सक्रिय होते हैं। आपने विकास की प्रक्रिया का आधार भौतिक वस्तुओं में विद्यमान आन्तरिक विरोध को बताया है। वस्तुओं में विरोध के कारण पारस्परिक संघर्ष होता है और उसके अनुसार विकास होता है। संघर्ष के द्वारा विश्व का विकास होता है, यह संघर्ष आन्तरिक और बाह्य दोनों ही प्रकार से होता है। इस प्रकार से मार्क्स का यह मान्यता रही है कि भौतिक समाज की भौतिक संगतियों में परिवर्तन होता है जो उद्‌विकास व विकास के रूप में सामने आता है। इसी के आधार पर मार्क्स ने इतिहास की व्याख्या की। आपका कहना है कि प्रारम्भ मे समाज आदिम साम्यवाद की अवस्था में होता है। संघर्ष के फलस्वरूप यह दासता की अवस्था मे विकसित होता है। विकास का क्रम सामन्तवाद से पूँजीवाद और अन्त में साम्यवाद की अवस्था में पहुँच जाता है। मार्क्स के अनुसार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक समाजशास्त्रीय उपकरण है जिसके द्वारा समाज के विकास का ऐतिहासिक विश्लेषण करने में उपयोग किया जा सकता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार भौतिक शक्तियाँ परस्पर विरोधी और प्रतिविरोधी शक्तियों के रूप मे संघर्ष करती हैं जिससे समाज की आर्थिक और सामाजिक संरचना में परिवर्तन आता है।

इस पद्धति के अनुसार मार्क्स ने ऐतिहासिक समाजशास्त्र को प्रतिपादित करने का प्रयास किया। मार्क्स ने समाज के उत्पादन के तरीकों और सामाजिक संरचनाओं के परस्पर सम्बन्धों के परिवर्तन पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। आपने सामाजिक संस्थाओं के इतिहास का विकास किया। मार्क्स ने सामाजिक विश्लेषण में सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने का लक्ष्य रखा

4. प्रारूप
(Typology)

4.1. जनजातिवाद (Tribalism)—टी. बी. बाँटोमोर की सम्पादित पुस्तक '**कार्ल मार्क्स : सलेक्टेड राइटिंग्स इन सोशियोलॉजी एण्ड सोशियल फिलासॉफी**' में मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्रारूप का विस्तृत वर्णन दिया गया है। मार्क्स ने सामाजिक विकास के चरण एक प्रारूप के रूप मे दिये हैं, जो निम्न प्रकार से हैं—आपने इस उद्‌विकासी प्रारूप में सर्वप्रथम अवस्था जनजाति की बताई है। इस अवस्था में शिकार, मछली पकड़ना और कृषि प्रधान होता है। मुख्य रूप से समाज पितृसत्तात्मक होता है। श्रम-विभाजन एक विस्तृत परिवार व्यवस्था के रूप में मिलता है। मार्क्स का कहना है कि इस प्रकार इन जनजाति समाजों में निजी सम्पत्ति और श्रम का विभाजन न्यून होता है।

4.2. सामन्तवाद (Feudalism)—जब कुछ जनजातियाँ परस्पर मिल जाती हैं और उनका आकार बड़ा हो जाता है तो इसके साथ समुदायवाद विकसित हो जाता है। इस अवस्था में दासता, निजी सम्पत्ति और श्रम-विभाजन व्यवस्था प्रारम्भ हो जाती है। कृषि में कुछ कमी आती है। सामन्तवाद आ जाता है। भूमि पर आधारित अर्थव्यवस्था विकसित हो जाती है। धनी कृषि का नियन्त्रण करते हैं। मार्क्स के अनुसार यह संरचना भी अपूर्ण होती है और नगरीकरण का विकास होता है। आवश्यकताएँ बढ़ जाती हैं जिसके फलस्वरूप उत्पादन आर्थिकी की आवश्यकता पड़ती है जो विकसित हो कर विश्व मे उपनिवेशवाद को बढ़ावा देती है।

4.3. पूँजीवाद (Capitalism)—इस उपर्युक्त विकास के फलस्वरूप पूँजीवाद का विकास होता है जिसमे निम्नलिखित तत्वो का उदय होता है। मार्क्स का कहना है कि पूँजीवाद ऐसी व्यवस्था है जिसके स्रोतो का एकाधिपत्य हो जाता है। यह एकाधिपत्य उत्पादन के साधनो पर पूँजी के रूप मे स्वामित्व के कारण होता है। श्रमिक का श्रम महत्वपूर्ण वस्तु बन जाता है। समाज—दो वर्गों मे मालिक और श्रमिक मे बँट जाता है। जिस प्रकार से जनजातिवाद से सामन्तवाद और सामन्तवाद से पूँजीवाद मे परिवर्तन हुआ उसी प्रकार से पूँजीवाद की अवस्था भी स्थिर नहीं रहती है। मार्क्स का मत है कि अधिक उत्पादन और अलगाव के बढने की समस्याओ के फलस्वरूप पूँजीवाद मे परिवर्तन आता है। अलगाव के बढने से श्रमिक सर्वहारा वर्ग संगठित हो जाते हैं और पूँजीपतियो के विरुद्ध क्रान्ति करते हैं।

4.4. कल्पनालोकीय समाजवाद (Utopian Socialism)—पूँजीवाद अपनी समाप्ति की प्रक्रिया स्वय प्रारम्भ करता है और समाज अन्ततोगत्वा विकास की चरम सीमा कल्पनालोकीय समाजवाद की अवस्था मे पहुँच जाता है, ऐसा मार्क्स का मत है। आपका कहना है कि कल्पनालोकीय समाजवाद की अवस्था मे श्रमिक-वर्ग या सर्वहारा-वर्ग की क्रान्तिकारी तानाशाही स्थापित हो जाती है जो निजी सम्पत्ति के अधिकारो को समाप्त कर देते हैं। समाज की इस अवस्था मे वर्ग समाप्त हो जाते हैं, व्यक्ति पूर्ण रूप से समाजवादी हो जाता है। समाज एव प्रकृति पुनः संगठित हो जाते हैं। इस प्रकार से समाजवाद एक प्रकार से समाज को जनजातिवाद की प्रारम्भिक अवस्था मे लौटा लाता है, जहाँ व्यक्ति अपने भौतिक एव सामाजिक पर्यावरणो से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हो जाता है।

वर्ग-संघर्ष
(Class-Conflict)

कार्ल मार्क्स के समाजशास्त्र मे अनेक योगदानो मे से एक महत्त्वपूर्ण योगदान वर्ग एव वर्ग-संघर्ष है। आपने वर्ग एव वर्ग-सघर्ष के विभिन्न पहलुओ पर अपने क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत करके विश्व में एक नई विचारधारा पैदा की। समाजशास्त्र मे वर्ग एव वर्ग-सघर्ष का अध्ययन सामाजिक सरचना एव परिवर्तन को समझने के लिए आवश्यक है। कार्ल मार्क्स के वर्ग एवं वर्ग-सघर्ष से सम्बन्धित विचारो के अध्ययन के पूर्व वर्ग की परिभाषा, वर्ग की विशेषताएँ, वर्ग-विभाजन के आधार तथा वर्ग-निर्धारण के आधारो का अध्ययन किया जायेगा। तत्पश्चात् मार्क्स के वर्ग के सम्बन्ध मे विचारो की विवेचना की जाएगी।

वर्ग का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Class)—वर्ग की परिभाषा अनेक विद्वानो ने दी है। इन विद्वानो की परिभाषाओ का अध्ययन करके वर्ग का अर्थ समझने का प्रयास किया जायेगा, जो निम्न प्रकार है—

ऑगबर्न और निमकॉफ ने सामाजिक वर्गों को इस प्रकार परिभाषित किया है—"एक सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियो का सग्रह है जिनकी दिए हुए समाज में आवश्यक रूप से समान सामाजिक प्रस्थिति है।"

जिन्सबर्ग के मत में, "वर्ग ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो व्यवसाय, धन, शिक्षा, जीवन-यापन की विधियों, विचारों, मनोभावों, प्रवृत्तियों और व्यवहारों में एक-दूसरे के समान होते हैं अथवा कुछ आधारों पर समानता की भावना से मिलते हैं और इस प्रकार अपने को एक समूह का सदस्य समझते हैं।"

गिसबर्ट के मतानुसार, "सामाजिक वर्ग व्यक्तियों का समूह अथवा श्रेणी (Category) है जिसका समाज में एक निश्चित 'पद' होता है और यह 'पद' ही अन्य समूहों से उनके सम्बन्ध को स्थाई रूप से निर्धारित करता है।

मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, "एक सामाजिक वर्ग समुदाय का वह भाग है जो सामाजिक प्रस्थिति के आधार पर शेष भाग से अलग कर दिया गया है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि एक सामाजिक वर्ग के व्यक्तियों की एक-सी संस्कृति, एक-सी सामाजिक परिस्थिति तथा एक-सी परम्पराएँ अथवा रीति-रिवाज होते हैं। मार्क्स ने वर्ग व्यवस्था को दो भागों में बाँटा है—एक बुर्जुआ और दूसरा मजदूर। इसका कारण आर्थिक विषमता है। जिन लोगों के पास साधन-सम्पन्नता है वे शोषक या पूँजीवादी वर्ग के सदस्य हैं और व लोग जो मजदूर हैं, श्रमिक हैं, वे शोषित या मजदूर वर्ग के सदस्य हैं। इस प्रकार से प्रत्येक समाज में दो वर्ग शोषक और शोषित होते हैं।

वर्ग-विभाजन के आधार (Bases of Class-division)—**कार्ल मार्क्स** ने वर्ग-विभाजन के दो आधार बताये हैं—एक शोषक या पूँजीवादी वर्ग और दूसरा शोषित या मजदूर-वर्ग।

वर्ग का आधार धन, आय का साधन, व्यवसाय की प्रकृति, निवास-स्थान आदि हो सकते हैं क्योंकि समाज में प्राय: उच्च वर्ग, शासक वर्ग, व्यावसायिक वर्ग, मध्यम वर्ग एवं निम्न वर्ग के व्यक्ति हो सकते हैं।

वर्ग-निर्धारण के आधार (Bases of Class-determination)—**रॉबर्ट बीरस्टीड** ने वर्ग-विभाजन के सात आधार बताये हैं, जो निम्नलिखित हैं—ये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधार हो सकते हैं क्योंकि इन आधारों में धन, धर्म, व्यवसाय, परिवार आदि सभी को सम्मिलित किया गया है। ये इस क्रम में वर्णित हैं—

(1) सम्पत्ति, धन और आय (Property, Wealth and Income)—सबसे महत्त्वपूर्ण आधार धन, सम्पत्ति व आय को माना गया है। धन-सम्पत्ति आय पर ही निर्भर करती है क्योंकि जैसा कि मार्क्स की मान्यता है कि भौतिक वस्तुएँ—पूँजी, भूमि आदि निम्न व उच्च वर्ग के विभाजन का आधार हैं। जिसके पास आय के स्रोत जितने अधिक व उच्च-स्तर के होते हैं वह व्यक्ति उतने ही उच्च वर्ग का माना जाता है। किन्तु केवल धन-सम्पत्ति ही एक आधार नहीं है अपितु अन्य आधार भी महत्त्वपूर्ण हैं।

(2) परिवार और नातेदारी (Family and kinship)—परिवार व नातेदारी वर्ग-निर्धारण का महत्त्वपूर्ण आधार है। विवाह सम्बन्धों मे परिवार व नातेदारी प्रमुख मानी जाती है, जैसे—उच्च स्तर वाले व्यक्तियो की रिश्तेदारी उच्च लोगो से ही होती है। अत: परिवार वालो को भी उसी दृष्टि से देखा जाता है।

(3) निवास की स्थिति (Location of residence)—कोई व्यक्ति किस स्थान पर रह रहा है, उसके पडोसी किस स्तर के हैं—ये बाते भी व्यक्ति के वर्ग का निर्धारण करती हैं। जैसे विकसित कॉलोनी में रहने वाले लोग कच्ची बस्ती मे रहने वाले लोगो से उच्च-स्तर के माने जाते हैं।

(4) निवास स्थान की अवधि (Duration of residence)—कोई व्यक्ति कितने समय से किस स्थान पर रह रहा है? उसका अतीत क्या है? पूर्वज किस स्थान के निवासी थे? आदि आदि तथ्य भी वर्ग का निर्धारण करते है। जैसे कोई व्यक्ति अपने पूर्वजो के निवास-स्थान पर रहता है तो समाज मे उसकी प्रतिष्ठा अधिक हैं, उनकी तुलना मे जो नौकरी के लिए नवीन स्थान पर जाकर रहते हैं जिनका कोई स्वय का निवास-स्थान नहीं होता।

(5) व्यवसाय की प्रकृति (Nature of occupation)—व्यवसाय की प्रकृति भी वर्ग-निर्धारण का आधार है, जैसे—प्रशासक, इन्जीनियर, डॉक्टर, राजनीतिज्ञ, प्रोफेसर आदि को समाज प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखता है। उनकी तुलना मे ठेकेदार, दुकानदार आदि के पास धन होने पर भी सामाजिक-वर्ग मे इनकी उतनी प्रतिष्ठा नहीं। इस प्रकार व्यवसाय की प्रकृति वर्ग का निर्धारक हो सकती है।

(6) शिक्षा (Education)—शिक्षा, तकनीकी-ज्ञान वर्ग का निर्धारण करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कहा भी है, **"स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।"** शिक्षित व्यक्ति को सामाजिक प्रतिष्ठा अशिक्षित की तुलना मे अधिक होती है।

(7) धर्म (Religion)—धर्म भी वर्ग निर्धारण मे अहम् भूमिका निभाता है। ऋषि-मुनि आज भी सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं। विशेष रूप से भारतवर्ष मे धार्मिक स्थिति को विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

वर्ग-निर्धारण के आधारो के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्ग का आधार धन-सम्पत्ति, आय, व्यवसाय, शिक्षा, जीवन-स्तर, संस्कृति आदि हैं और एक समान सामाजिक स्थिति वाले व्यक्ति एक वर्ग मे आते हैं।

कार्ल मार्क्स : वर्ग के सम्बन्ध में विचार
(Karl Marx - Views About Class)

कार्ल मार्क्स ने वर्ग से सम्बन्धित अनेक पक्षो पर अपने विचार व्यक्त किये। इनके विचारो का सामाजिक विज्ञानो मे विशेष महत्त्व है। मार्क्स ने सामाजिक वर्ग के आधार पर मानव

समाज के इतिहास व सामाजिक परिवर्तन आदि की व्याख्या की है। इसीलिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम मार्क्स के वर्ग से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों, वर्ग का अर्थ, इसकी विशेषतायें, प्रकार व वर्ग के प्रति उनकी दृष्टि और वर्ग संघर्ष आदि का अध्ययन करें, जो निम्न प्रकार हैं—

वर्ग का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Class)—मार्क्स ने वर्ग एवं वर्ग संघर्ष की अवधारणा बुर्जुआ इतिहासकारों, विशेष रूप से फ्रांसीसी इतिहासकारों से ली है। कार्ल मार्क्स ने वर्ग से सम्बन्धित अपने विचार विशेष रूप से विश्वविख्यात कृति "**दास कैपिटल**" के तीसरे खण्ड के अन्तिम अध्याय "सामाजिक वर्ग" (Social Classes) में व्यक्त किये हैं। इस अध्याय में आपने वर्ग की व्याख्या की है लेकिन रेमण्ड ऐरन (Raymond Aron) का कहना है कि मार्क्स ने वर्ग की परिभाषा तो कहीं नहीं दी है, किन्तु इन्होंने अपनी रचनाओं में अनेक स्थानों पर इसका वर्णन किया है। आपने "सामाजिक वर्ग" अध्याय में आय के विभिन्न स्रोतों के आधार पर तीन वर्गों का वर्णन किया है जो निम्न प्रकार हैं—

1. वेतन भोगी श्रमिक (Wage earner Labourers)—वेतन भोगी श्रमिकों के आय के साधन विभिन्न प्रकार की मजदूरी होती है। इस वर्ग के सदस्य साधारण श्रम-शक्ति के स्वामी होते हैं।

2. पूँजीपति वर्ग (Capitalistic Class)—पूँजीपति वर्ग समाज के वे वर्ग होते हैं जिनके पास बहुत अधिक पूँजी होती है। ये पूँजी के स्वामी होते हैं। इनकी आय का साधन अतिरिक्त मूल्य के द्वारा लाभ कमाना है।

3. भू-स्वामी वर्ग (Land-Owner Class)—भू-स्वामी वर्ग के सदस्य भू-स्वामी होते हैं। इनकी आय का साधन भूमि-कर होता है। यह वर्ग कृषि-प्रधान समाज में पाया जाता है।

मार्क्स ने वर्गों की व्याख्या आर्थिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार की है। आपने अपने वैज्ञानिक उद्देश्य के अनुसार उपर्युक्त तीनों वर्गों का वर्गीकरण आर्थिक संरचना के आधार पर किया है। मार्क्स ने लिखा है कि मानव समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। मानव इतिहास में मानव समूह हमेशा आपस में एक-दूसरे से संघर्ष करते रहते हैं। मार्क्स ने इन्हीं संघर्षरत मानव समूहों को वर्ग कहा है। मार्क्स ने वर्ग की विशेषताओं का वर्णन किया है। आपका कहना है कि वर्ग मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं—(1) शोषक वर्ग, एवं (2) शोषित वर्ग। ये दोनों वर्ग परस्पर विरोधी होते हैं। रेमण्ड ऐरन ने अपनी पुस्तक 'मेन करण्ट्स इन सोशियोलोजिकल थॉट' में लिखा है कि मार्क्स ने वर्गों की विशेषता 'दो ध्रुवों में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति' (Tendency towards a polarization into two blocks and only two) बताई है। कार्ल मार्क्स ने मानव इतिहास के संदर्भ में विभिन्न कालों को ध्यान में रखते हुए कहा है कि सभी समाजों में हमेशा दो वर्ग रहे हैं जिनमें परस्पर संघर्ष होता रहता है। आपका मत है कि शोषक वर्ग वह है जिसका उत्पादन के साधनों, उत्पादन के तरीकों तथा उत्पादन के सम्बन्धों पर नियन्त्रण होता है। शोषित वर्ग वह है जो इन उपर्युक्त विशेषताओं से वंचित होता है। वर्गों के रूप भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न रहे हैं। आज वर्तमान युग में भी मार्क्स के अनुसार दो वर्ग हैं—एक बुर्जुआ

(Bourgeois) अर्थात् शोषक वर्ग और दूसरा सर्वहारा अर्थात् शोषित वर्ग। इन्होने इनके उत्पन्न होने का कारण आर्थिक माना है।

मार्क्स ने वर्ग की अवधारणा को आर्थिक ऐतिहासिक एव मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा है, जो इस प्रकार है—

1. आर्थिक परिप्रेक्ष्य (Economic Perspective)—मार्क्स ने वर्ग की अवधारणा को आर्थिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार व्याख्या करते हुए लिखा है कि वर्ग का निर्माण आर्थिक स्रोतो के आधार पर होता है। एक वर्ग वह है जिसका आय के साधनो पर नियन्त्रण होता है, दूसरा वह जो उसके अधीन होता है। इस आर्थिक विशेषता, आय के स्रोत के कारण ही प्रत्येक समाज मे दो वर्ग पाये जाते हैं जिनमे निरन्तर सघर्ष होता रहता है।

2. ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य (Historical Perspective)—मार्क्स ने ऐतिहासिक दृष्टिकोण से वर्गों की व्याख्या करते हुए कम्यूनिस्ट पार्टी के घोषणा-पत्र मे लिखा है—"**अभी तक आविर्भूत समस्त समाज का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास रहा है।**" आपने वर्गों का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इनके विभिन्न प्रकार व प्रकृति आदि का वर्णन भी किया है। इन्होने वर्ग पर निम्न शब्दो मे प्रकाश डाला है—"**स्वतन्त्र मनुष्य और दास, पेट्रीशियन और प्लेबियन, सामन्ती प्रभु और भूदास, शिल्प संघ का उस्ताद कारीगर और मजदूर कारीगर—सक्षेप मे उत्पीड़क (Exploiter) और उत्पीडित (Expoitee) बराबर एक-दूसरे का विरोध करते आये है।**"

3. मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य (Psychological Perspective)—कार्ल मार्क्स ने वर्गों का अर्थ मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान मे रखकर भी स्पष्ट किया है। आपकी मान्यता है कि वर्गों मे एकता और चेतना का गुण विद्यमान होता है। मार्क्स ने यह भी स्पष्ट किया है कि सर्वहारा वर्ग एक क्रान्तिकारी-वर्ग है। यह सर्वहारा-वर्ग क्रान्ति के द्वारा पूँजीवाद को समाप्त कर देगा तथा ऐसे साम्यवादी समाज की स्थापना करेगा जिसमे समाज के सदस्यो में समानता होगी, किसी का शोषण नहीं होगा, उत्पीड़ित नहीं होगा। धीरे-धीरे राज्य भी लुप्त हो जायेगा।

लेनिन ने 'सलेक्टेड वर्क्स' के तृतीय खण्ड मे मार्क्स और एजल्स के विचारो के अनुसार वर्ग की निम्नलिखित परिभाषा दी है—

"वर्ग जनता के ऐसे बड़े समूह हैं, जो सामाजिक उत्पादन के इतिहास द्वारा निर्दिष्ट किसी अवस्था मे अपने विशिष्ट स्थान द्वारा, उत्पादन के साधनो के प्रति अपने सम्बन्ध द्वारा, (जो प्राय: कानून द्वारा) स्थिर और निरूपित होते हैं। श्रम के सामाजिक सगठन मे अपनी भूमिका द्वारा और परिणामस्वरूप इस तथ्य द्वारा कि वे सामाजिक सम्पदा का कितना बडा भाग किस तरीके से अर्जित करते हैं, एक-दूसरे से भिन्न होते हैं।"

इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्स वर्ग की मुख्य विशेषता उत्पादन के साधन मानते हैं। मैकी (Mckee) ने '*इन्ट्रोडक्शन टु सोशियोलोजी' मे लिखा है कि मार्क्स वर्गों का आधार* आर्थिक मानते हैं। आपने कहा है, "सामाजिक वर्ग—ऐतिहासिक परिवर्तन की इकाई तथा आर्थिक व्यवस्था द्वारा समाज मे निर्मित श्रेणियाँ दोनो ही हैं।

रेमण्ड ऐरन का निष्कर्ष (Conclusion of Raymond Aron)—रेमण्ड ऐरन ने अपनी पुस्तक **"मेन करण्ट्स इन सोशियोलोजिकल थॉट्स"** (Main Currents in Sociological Thoughts) में मार्क्स के वर्ग से सम्बन्धित विचारों के आधार पर निम्नलिखित दो निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं।

(1) निश्चित स्थान (Fixed Place)—मार्क्स के अनुसार एक सामाजिक वर्ग वह है जो उत्पादन की प्रक्रिया में एक निश्चित स्थान रखता है। उत्पादन की प्रक्रिया के दो अर्थ सामने आते हैं—

(1 1) उत्पादन की तकनीकी प्रक्रिया में स्थान और (1 2) वैधानिक प्रक्रिया में स्थान। वैधानिक प्रक्रिया—तकनीकी प्रक्रिया पर थोपी गई होती है। पूँजीपति उत्पादन के साधनों का स्वामी होता है। वह श्रमिकों का संगठनकर्ता एवं तकनीकी प्रक्रिया का स्वामी होता है।

पूँजीपति वैधानिक स्थिति के कारण उत्पादकों से अतिरिक्त मूल्य को प्राप्त करता है।

(2) अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value)—पूँजीपति श्रमिकों का शोषण करते हैं। पूँजीपति श्रम-शक्ति के स्वामी होने के कारण अतिरिक्त मूल्य को हड़पते हैं। मार्क्स की मान्यता है कि पूँजीवाद के विकास के साथ साथ वर्ग-सम्बन्ध सरल होते जाते हैं और आय के स्रोत श्रम और लाभ—दो ही रह जाते हैं। श्रम का मालिक श्रमिक वर्ग होता है एवं लाभ (अतिरिक्त मूल्य) का मालिक पूँजीपति होता है। भू स्वामी वर्ग धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है और उसका स्थान पूँजीपति वर्ग ले लेता है।

वर्ग के लक्षण (Characteristics of Class)—कार्ल मार्क्स ने अपनी कृति **'दा एटीन्थ ब्रुमेयर'** (**The Eighteenth Brumaire**) में वर्ग की कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है। आपका कहना है कि वर्ग के लिए बहुत बड़ा मानव समूह या समाज होना चाहिये। इस मानव समूह में समान आर्थिक गतिविधियों का होना आवश्यक है। मार्क्स की मान्यता है कि समाज में वर्ग तभी होगा जब समाज के सदस्यों की जीवन शैली समान होगी। उनकी संस्कृति और हित समान होने चाहिए। इतना ही नहीं एक वर्ग के लिए एकता की चेतना का होना अत्यावश्यक है। एक वर्ग की दूसरे वर्ग से पृथक् होने की भावना का होना भी उतना ही आवश्यक है जितना कि वर्गों में एक-दूसरे के प्रति विद्वेष की भावना। इन उपर्युक्त विशेषताओं के होने पर ही समाज में वर्गों का निर्माण होता है। आपका यह भी कहना है कि शोषक वर्ग एवं शोषित वर्ग में अपने-अपने स्वार्थों को लेकर संघर्ष एवं टकराव पाया जाता है। शोषक-वर्ग और शोषित-वर्ग में सामुदायिक चेतना और सामान्य क्रिया की इच्छा भी पाई जाती है। मार्क्स ने वर्ग की आर्थिक विशेषता बताते हुए लिखा है, "वर्ग समाज के सदस्यों का ऐसा समूह होता है जो अपनी जीविका एक विशेष प्रकार से अर्जित करता है।" इसी आर्थिक आधार की भिन्नता के आधार पर आपने वर्गों के प्रकार का उल्लेख भी किया है।

कार्ल मार्क्स : वर्गों के प्रकार
(Karl Marx Types of Classes)

कार्ल मार्क्स ने वर्गों के प्रकारों का उल्लेख अपनी विभिन्न कृतियों में किया है। आपने वर्गों के प्रकार उस समय बताये हैं जब आपने इनका ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इन्होंने अपनी पुस्तक **'जर्मनी में क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति'** (Revolution and Counter Revolution in Germany) में निम्नलिखित आठ वर्गों का उल्लेख किया है जो जर्मनी की 1848 की क्रान्ति के अध्ययन से सम्बन्धित हैं—

(1) सामन्ती अभिजात (The Feudal Nobility)
(2) बुर्जुआ (The Bourgeoisie)
(3) पेटीट बुर्जुआ (The Petite Bourgeoisie)
(4) उच्च एवं मध्यम कृषक (The Upper and Middle Peasantry)
(5) स्वतंत्र निम्न कृषक (The Free Lower Peasantry)
(6) दास कृषक (The Slave Peasantry)
(7) कृषि-श्रमिक (The Agricultural Labourers)
(8) औद्योगिक श्रमिक (The Industrial Workers)

इसी प्रकार मार्क्स ने अपनी कृति **'फ्रांस में वर्ग संघर्ष'** (Class-Struggle in France) में निम्नलिखित वर्ग बताये हैं—

(1) वित्तीय बुर्जुआ (Financial Bourgeoisie)
(2) औद्योगिक बुर्जुआ (Industrial Bourgeoisie)
(3) पेटीट बुर्जुआ (Petite Bourgeoisie)
(4) कृषक वर्ग (Peasant Class)
(5) सर्वहारा वर्ग (Proletarian Class)
(6) उपसर्वहारा वर्ग (*Lumpenproletarian*)

कार्ल मार्क्स ने उपर्युक्त दोनों ही वर्गीकरण इस तथ्य को ध्यान में रखकर किये हैं कि कौन-कौनसे सामाजिक समूह (वर्ग) थे जिन्होंने ऐतिहासिक परिस्थितियों में राजनैतिक घटनाओं को प्रभावित किया था। मार्क्स ने **'दास कैपिटल'** में बड़े समूहों के केन्द्रीयकरण के रूप में दो वर्गों का वर्णन किया है—एक शोषक वर्ग और दूसरा शोषित वर्ग।

पूँजीवादी व्यवस्था में ये दो वर्ग हैं—पूँजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग। इन वर्गों के वर्गीकरण का आधार श्रम एवं लाभ है। जबकि जर्मन में क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति और फ्रांस में वर्ग-संघर्ष में वर्गों के वर्गीकरण के आधार ऐतिहासिक परिस्थितियों में राजनैतिक घटनाओं को प्रभावित करने वाले महत्त्वपूर्ण समूह रहे हैं।

मार्क्स ने **'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र'** में शोषक और शोषित आधारों को लेकर तथा मानव समाज के इतिहास के सन्दर्भ में वर्गों के दो प्रमुख प्रकारों—शोषक वर्ग और शोषित

वर्ग—के विभिन्न रूपों का वर्णन किया है। ये दोनों वर्ग आपके अनुसार परस्पर संघर्ष करते रहते हैं। आपने निम्न शब्दों में इनका उल्लेख किया है।

"अब तक के सभी समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। स्वतंत्र मनुष्य और दास, कुलीन तथा साधारण जनता, सामन्ती प्रभु तथा भूदास, शिल्प-संघ का उस्ताद-कारीगर और मजदूर-कारीगर, संक्षेप में उत्पीड़क (शोषक) और उत्पीड़ित (शोषित) बराबर एक-दूसरे का विरोध करते आये हैं।"

मार्क्स की मान्यता है कि मानव एक वर्ग-प्राणी (Class Animal) है। आपकी मान्यता है कि प्रत्येक युग में जीविकोपार्जन के जैसे साधन होते हैं उन्हीं के अनुसार वर्गों का निर्माण होता है। आपका मत है कि वर्ग के प्रकार, स्वरूप व विशेषताएँ आदि उत्पादन के साधनों और उत्पादन की विधियों पर आधारित होते हैं। भिन्न-भिन्न युगों में उत्पादन के साधनों में परिवर्तन हुआ है, उसी के अनुसार नये-नये वर्ग विकसित हुए हैं। उन्हीं तथ्यों के आधार पर आपने उपर्युक्त वर्गों के प्रकार बताये हैं। आपने मानव इतिहास में युगों को ध्यान में रखकर निम्न चार युगों में वर्गों के प्रकारों का उल्लेख किया है।

(1) आदिम साम्यवादी वर्ग-विहीन समाज (Primitive Communal Classless Society)

(2) दासत्व समाज में वर्ग (Class in Slave Society)

(3) सामन्ती समाज में वर्ग (Class in Feudal Society)

(4) पूँजीवादी समाज में वर्ग (Class in Capitalistic Society)

वर्ग की उत्पत्ति
(Origin of Class)

कार्ल मार्क्स ने लिखा है कि अगर हम समाज का इतिहास देखें तो पायेंगे कि प्रारम्भ में मानव-समाज में कोई वर्ग-व्यवस्था नहीं थी। आपके अनुसार अति-प्राचीनकाल में व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति सरलता से कर लेता था। मानव की आवश्यकता से सम्बन्धित सभी वस्तुएँ प्रकृति में उपलब्ध थीं। इस काल में जीवित रहने के साधनों की बहुलता थी तथा समाज छोटे-छोटे कबीलों या बन्धुत्व समूहों के रूप में रहते थे। कोई भी किसी का शोषण नहीं करता था। मार्क्स के अनुसार प्रारम्भ में मानव-समाज वर्ग-विहीन अवस्था में था। न कोई शोषक था, न ही कोई शोषित। आवश्यकताओं की पूर्ति सरलता से होती थी। अतिरिक्त उत्पादन तथा वितरण की असमानता को कोई जानता भी न था। प्रारम्भ में निजी सम्पत्ति जैसी कोई चीज भी नहीं थी। मार्क्स का कथन है कि समाज में सर्वप्रथम वर्गों की उत्पत्ति आदिम साम्यवादी युग के अन्तिम चरण में तब हुई जब जनसंख्या बढ़ गई, अतिरिक्त उत्पादन का विकास हुआ, वितरण में असमानता आ गई, निजी सम्पत्ति की अवधारणा ने जन्म ले लिया, व्यक्तियों को कैदियों की तरह रखा जाने लगा और उनसे गुलामों की तरह काम लिया जाने लगा। इस प्रकार प्राचीन साम्यवादी युग धीरे-धीरे दासत्व-युग में परिवर्तित हो गया। समाज में जैसे-जैसे नये उत्पादन के साधन खोजे

जाने लगे, वैसे वैसे वर्गों के रूप एक युग से दूसरे युग मे—दास स्वामी, सामन्त किसान, पूँजीपति श्रमिक के रूप मे बदलते गये। मार्क्स की मान्यता है कि समाज प्राचीन साम्यवादी वर्ग विहीन व्यवस्था से विभिन्न वर्गों के रूपो मे से गुजरता हुआ अन्त मे राज्य विहीन, वर्ग विहीन कल्पनालोकीय समाजवादी समाज व्यवस्था के रूप मे विकसित होगा।

आपने वर्ग-व्यवस्था के इतिहास को भी प्रस्तुत किया है—

विभिन्न समाजों में वर्ग (Classes in Various Societies)—कार्ल मार्क्स ने लिखा है कि सभी समाजो मे हमेशा वर्ग रहे है। आपने तो यहाँ तक लिखा है कि मानव समाजों का इतिहास वर्ग-सघर्षों का इतिहास है। अर्थात् एक काल मे जो वर्ग होते हैं उनमे सघर्ष के फलस्वरूप नये वर्ग का जन्म होता है और यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक वर्ग विहीन समाज की स्थापना नहीं हो जाती। मार्क्स ने विभिन्न समाजो मे ऐतिहासिक दृष्टिकोण से वर्ग व्यवस्था के स्वरूपो की विवेचना निम्न प्रकार से प्रस्तुत की है।

1. आदिम साम्यवादी वर्ग-विहीन समाज (Primitive Communal Class-less Society)—मार्क्स ने मानव इतिहास का गहन अध्ययन करके निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि प्रारम्भ मे मानव नातेदारी या बन्धुत्व पर आधारित समूहो के रूप मे रहता था। इसे मार्क्स ने मानव इतिहास का प्रथम युग कहा है। मानव-समूह का आधार गोत्र-सम्बन्ध होते थे। ये छोटे-छोटे समुदायो या कबीलो के रूप मे रहते थे। इन गोत्र-समूहो या कबीलो की एक भाषा और निश्चित लघु भू क्षेत्र होता था। जीविकोपार्जन के साधनो पर या उत्पादन के साधनो पर सम्पूर्ण गोत्र या कबीले के सभी सदस्यो का अधिकार होता था। सम्पत्ति सामूहिक होती थी। उत्पादन, उपभोग और वितरण सामुदायिक होता था। इनकी आर्थिकी संभरणात्मक होती थी। उत्पादन के साधनो और उत्पादित वस्तुओ पर समुदाय के सभी लोगो का सामूहिक अधिकार होता था। इनकी आर्थिकी बचत की आदत नहीं होती थी, इसलिए उत्पादन के साधनो और उत्पादित वस्तुओ पर व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं होता था। इस युग मे श्रम-विभाजन लिंग-भेद के आधार पर होता था। स्त्री-पुरुष, आयु-भेद और शारीरिक-क्षमता के आधार पर विभिन्न कार्यों को करते थे। मार्क्स ने कहा कि इन सब विशेषताओ के फलस्वरूप मानव इतिहास के प्रथम युग मे आदिम साम्यवादी वर्ग विहीन समाज थे। इस काल मे वर्ग-भेद नहीं पाया जाता था।

(2) दासत्व युग में वर्ग (Class in Slave Society)—मार्क्स की मान्यता है कि सर्वप्रथम दासत्व समाज या दासत्व युग मे वर्गों का उदय हुआ था। आपने वर्गों की उत्पत्ति की प्रक्रिया का निम्न प्रकार से उल्लेख किया—आपका कहना है कि मानव इतिहास मे धीरे-धीरे भौतिक परिस्थितियो, उत्पादन के साधनो व व्यवसाय आदि मे परिवर्तन हुआ। मानव पशु-पालन, कृषि तथा दस्तकारी के कार्य करने लगा। इस काल मे धीरे-धीरे श्रम-विभाजन का भी विकास हुआ। व्यक्तिगत सम्पत्ति भी धीरे धीरे पनपने लगी। सामाजिक उत्पादन के साधनो पर व सामूहिक स्वामित्व के स्थान पर व्यक्तिगत स्वामित्व का उदय हुआ। समाज मे कुछ लोगो के हाथ में उत्पादन के साधन, जैसे—भूमि, औजार, बीज व पशु आदि आ गये। वे समाज मे स्वामी कहलाने लगे।

दूसरी ओर समाज में अधिकतर वे लोग थे जो उपर्युक्त वर्णित उत्पादन के साधनों से वंचित थे। इनके पास केवल श्रम था। इनको साधनसम्पन्न लोगों (स्वामी) ने दास बना लिया और इनसे बलपूर्वक काम लेने लगे। मार्क्स का कथन है कि आदिम साम्यवादी वर्ग-विहीन समाज धीरे धीरे स्वामी दास वर्ग व्यवस्था वाले दासत्व समाज में विकसित हो गया।

दासत्व युग में साधन-सम्पन्न वर्ग दासों को खरीदता था। स्वामी वर्ग एक प्रकार से परजीवी वर्ग था जो दासों का शोषण करता था। यही शोषक वर्ग उत्पादन प्रणाली को नियन्त्रित, निर्देशित और संचालित करता था। स्वामी वर्ग की आय का मुख्य स्रोत दासों द्वारा उत्पादित अतिरिक्त वस्तुएँ थीं। इस युग में स्वामी वर्ग दासों को पशुओं की तरह खरीदते थे, बेचते थे और मारते थे। दास परतंत्र और अपने मालिक पर आश्रित थे। मार्क्स ने ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर कहा है कि दासत्व युग में धीरे-धीरे स्पष्ट रूप से दो वर्ग बन गये। मालिक या स्वामी दासों का शोषण करते थे। इनके पास समाज की आर्थिक और राजनैतिक शक्ति होती थी। ये संख्या में कम होते थे। दूसरी ओर दास संख्या में अधिक होते थे। आदिम समाजों की तुलना में इस युग में अधिक आर्थिक उन्नति देखने को मिलती है। जैसे—नये-नये नगरों का निर्माण, कृषि और अन्य उत्पादन में धातुओं के उपकरणों का विकास, वाणिज्य एवं व्यापार का विकास, युद्ध के लिए बड़ी-बड़ी सेनाओं का संगठन आदि। इस युग में हस्तशिल्प तथा विलासिता की वस्तुओं का निर्माण भी होने लगा जिसका उपभोग मालिक वर्ग करता था। इस प्रकार मानव-समाज के इतिहास में शोषित और शोषक वर्ग (दास और मालिक) का जो उदय हुआ, उसका मार्क्स ने वर्णन किया।

(3) सामन्ती समाज में वर्ग (Class in Feudal Society)—कार्ल मार्क्स ने वर्ग के विकास के इतिहास में दूसरी अवस्था सामन्ती समाज में दो वर्गों का उल्लेख किया। आपके अनुसार सामाजिक समाज में एक सामन्त वर्ग (Feudal Class) होता था और दूसरा अर्धदास किसान वर्ग (Serf-class) होता था। सामन्त वर्ग साधनसम्पन्न होता था। इस वर्ग के उत्पादन के साधन (भूमि) पर स्वामित्व होता था। एक प्रकार से यह शोषक वर्ग होता था और सत्ताधारी भी होता था। दूसरी ओर अर्धदास किसान इस समाज के शोषित वर्ग होते थे। यह किसान सामन्तों के अधीन होते थे। सामन्त अर्धदास किसानों से अपनी भूमि पर खेती करवाते थे। सामन्त वर्ग अर्धदास किसानों के श्रम का शोषण करते थे। भू स्वामी सामन्त किसानों के द्वारा उत्पादित अतिरिक्त वस्तुओं को हड़प जाते थे। अर्धदास किसान दासत्व युग में दासों की तुलना में कुछ अच्छी स्थिति में थे। यह किसान भी सामन्तों की भूमि पर खेती करते थे और इनके घरों का कार्य करते थे। अवसर आने पर किसान सामन्तों के लिए युद्ध में लड़ते भी थे। सामन्ती युग में निजी सम्पत्ति का स्वरूप और अधिक उन्नत, प्रबल और स्पष्ट हो गया था। मार्क्स के अनुसार सामन्त और किसान शोषक और शोषित दो वर्गों में संघर्ष दासत्व युग की तुलना में अधिक स्पष्ट रूप देखने को मिलता था। मार्क्स ने सामन्ती समाज में इन दो वर्गों में संघर्ष के परिणामस्वरूप पूँजीपति वर्ग की उत्पत्ति का उल्लेख भी किया।

(4) पूँजीपति समाज में वर्ग (Class in Capitalistic Society)—मार्क्स की मान्यता है कि आधुनिक पूँजीवादी समाज की उत्पत्ति सामन्ती समाज में सामन्तों और किसानों में वर्ग-

संघर्ष के परिणामस्वरूप हुई है। शुरू मे पूँजीपति वर्ग एक प्रगतिशील वर्ग था। उसका उद्देश्य समाज का विकास करना था, लेकिन धीरे-धीरे यह वर्ग शक्तिशाली होता गया। उत्पादन के साधनो और शक्तियो पर उसका आधिपत्य स्थापित हो गया। पूँजीपति वर्ग की उत्पत्ति मशीनो के अधिकार तथा बडे-बडे उद्योग-धन्धो की स्थापना के फलस्वरूप हुई है। मार्क्स की मान्यता है कि जब समाज मे औद्योगिकीकरण हुआ इससे समाज मे पूँजीपति वर्ग एक शोषक वर्ग बन गया। पूँजीपतियो ने श्रमिक से अपने कारखानो मे काम करवाया और अतिरिक्त मूल्य को हडप लिया। मार्क्स ने पूँजीपति समाज के दो वर्गो-शोषक (पूँजीपति) और शोषित (श्रमिक) को विशिष्ट नाम दिए हैं। आपने श्रमिक वर्ग को सर्वहारा-वर्ग की सज्ञा दी है।

पूँजीपति वर्ग उत्पादन के साधनो व शक्तियो तथा उत्पादन के सम्बन्धो को नियन्त्रित, निर्देशित व सचालित करता है। मार्क्स के अनुसार सर्वहारा-वर्ग के पास उत्पादन के साधन नहीं होते हैं। यह वर्ग अपने श्रम को बेचकर जीविकोपार्जन करता है। इन दोनो वर्गों के निर्माण का आधार अन्य वर्गों की तरह लाभ व आय है। पूँजीपति वर्ग श्रमिको का शोषण करता है।

मार्क्स ने अपना मत व्यक्त किया है कि मानव समाज के विकास के प्रत्येक स्तर मे हमेशा दो वर्ग—शोषक वर्ग व शोषित वर्ग रहे हैं। दासत्व युग मे शोषक मालिक थे तथा शोषित दास थे। सामन्ती युग मे शोषक सामन्त थे और शोषित किसान थे। वर्तमान पूँजीवादी युग मे शोषक पूँजीपति (बुर्जुआ) और शोषित सर्वहारा-वर्ग है। इन वर्गो मे सदैव सघर्ष रहा।

कार्ल मार्क्स : वर्ग संघर्ष
(Karl Marx · Class Struggle)

समाजशास्त्र मे कार्ल मार्क्स ने अनेक अवधारणाओ तथा सिद्धान्तो को प्रतिपादित किया है। इसमें सबसे अधिक उल्लेखनीय अवधारणा वर्ग-सघर्ष की है। आपके इस योगदान के फलस्वरूप समाजशास्त्र मे समाज को समझने के लिए एक विशेष संघर्ष सम्प्रदाय (Conflict School) का विकास हुआ जो वर्तमान मे उग्र उन्मूलनवादी समाजशास्त्र (Radical Sociology) के रूप में विकसित हो गया है। इसीलिए कार्ल मार्क्स की वर्ग-सघर्ष की अवधारणा को समझना आवश्यक है।

मार्क्स पर इग्लैण्ड की सामाजिक एव आर्थिक परिस्थितियो का गहरा प्रभाव पडा। जिस समय मार्क्स इग्लैण्ड मे थे उस समय यहाँ के कारखानों मे बहुत अधिक उत्पादन हो रहा था। पूँजीपति इन कारखानो के द्वारा खूब धन कमा रहे थे। पूँजीपतियो का वहाँ की सरकार और राजनैतिक क्षेत्र में विशेष प्रभाव था। ये पूँजीपति सभी प्रकार से श्रमिको का खूब शोषण कर रहे थे। पूँजीपति विशेष प्रभावशाली होने के कारण अपने उद्देश्यो को सभी प्रकार से पूर्ण करने के लिए कानूनी और गैर-कानूनी सभी रास्ते अपना रहे थे। अपने हितो की रक्षा के लिए सरकार से कानून बनवा रहे थे। सरकार उनके इशारों पर चल रही थी। मार्क्स ने इन परिस्थितियो का अवलोकन किया और अध्ययन करके पाया कि पूँजीपति सर्वहारा-वर्ग (श्रमिक वर्ग) का खूब शोषण कर रहे थे। मार्क्स ने यह भी देखा कि पूँजीपति अधिक धनी होते जा रहे थे और निर्धन

लोग अधिक गरीब होते जा रहे थे। कार्ल मार्क्स इन सामाजिक परिस्थितियों से बहुत प्रभावित हुए और इसीलिए वे पूँजीवादी व्यवस्था के कट्टर विरोधी और शत्रु बन गए। आपने सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन किया और श्रमिकों अथवा शोषित वर्ग के समर्थक बन गए। आपने शोषक और शोषित वर्ग के विभिन्न रूपों का साहित्य में अध्ययन किया और पाया कि इनमें वर्ग संघर्ष होता है। इतना ही नहीं आप सर्वहारा-वर्ग और साम्यवाद के एक महान् समर्थक के रूप में सामने आए।

कार्ल मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष की अवधारणा **ऑगस्टिन थोरे** से ली है। विद्वानों का मत है कि मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष की विवेचना प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत की, जिसका विश्व जगत में विशेष प्रभाव पड़ा। कार्ल मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सम्बन्ध में जो विचार हैं वे भिन्न-भिन्न रूपों में देखे जा चुके हैं। यहाँ कार्ल मार्क्स के उन्हीं विचारों और दृष्टिकोणों का वर्ग-संघर्ष के सम्बन्ध में क्रमबद्ध और व्यवस्थित रूप से अध्ययन किया जायेगा। मार्क्स की मान्यता रही है कि '**वर्ग-संघर्ष' इतिहास को समझने की कुँजी है।** आपने 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र' के अध्याय प्रथम 'पूँजीपति और सर्वहारा' में पहली पंक्ति लिखते हुए इस बात को स्पष्ट किया है, जो निम्न प्रकार है—**"अभी तक आविर्भूत समस्त समाज का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास रहा है।"** इस पंक्ति के बाद आपने वर्गों के विभिन्न प्रकार एवं संघर्ष की प्रक्रिया पर निम्न शब्दों में प्रकाश डाला है।

"स्वतन्त्र मनुष्य और दास, पेट्रीशियन और प्लेबियन, सामन्ती प्रभु और भूदास, शिल्प-संघ का उस्ताद-कारीगर और मजदूर-कारीगर—संक्षेप में उत्पीड़क और उत्पीड़ित (शोषक और शोषित) बराबर एक-दूसरे का विरोध करते आए हैं। वे कभी छिपे, कभी प्रकट रूप से लगातार एक-दूसरे से लड़ते रहे हैं, जिस लड़ाई का अन्त हर बार या तो पूरे समाज के क्रान्तिकारी पुनर्गठन में या संघर्षरत वर्गों की बर्बादी में हुआ है।"

कार्ल मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सम्बन्ध जो विचार 1848 में रहे वे जीवनपर्यन्त बने रहे। आपने वर्ग-संघर्ष को स्पष्ट करते हुए आलोच्य घोषणा-पत्र में निम्न शब्दों में उसे स्पष्ट किया है जिसको यहाँ प्रस्तुत करना आवश्यक है।

"आधुनिक पूँजीवादी समाज ने, जो सामन्ती समाज के ध्वंस से पैदा हुआ है, वर्ग-विरोधों को समाप्त नहीं किया। उसने केवल पुराने के स्थान पर नए वर्ग, उत्पादन की पुरानी अवस्थाओं के स्थान पर नई अवस्थाएँ और संघर्ष के पुराने रूपों की जगह नये रूप खड़े कर दिए हैं।"

महत्त्वपूर्ण अवधारणाएँ
(Major Concepts)

मार्क्स के वर्ग-संघर्ष को समझने के लिए आवश्यक है कि हम कुछ महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं के अर्थों का अध्ययन करें। निम्नलिखित तीन अवधारणाओं—शोषक वर्ग, शोषित वर्ग और संघर्ष को समझने का प्रयास करें।

1. शोषक वर्ग (Exploiter-Class)—मार्क्स के अनुसार शोषक वह व्यक्ति है, जिसका उत्पादन के साधनो पर स्वामित्व होता है। भिन्न-भिन्न कालो मे उत्पादन के साधन भिन्न भिन्न होते हैं, उन्हीं के अनुसार उन साधनो से सम्बन्धित शोषक के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। दासत्व युग मे शोषक-स्वामी या मालिक था। वह पशुओ, बीजो औजारो और भूमि आदि—उत्पादन के साधनो का स्वामी था। सामन्ती युग मे शोषक-सामन्त था। उसका भूमि (खेती की जमीन) पर स्वामित्व था एव वह सत्ताधारी था। पूँजीवादी समाज मे यह शोषक—पूँजीपति हैं, जिसका कारखानो, उद्योग धन्धो आदि पर स्वामित्व होता है। शोषक का स्वामित्व कच्चे माल, पूँजी, भूमि, कल-कारखानो आर कार्य आदि पर होता है। सभी शोषक मिलकर शोषक-वर्ग बनाते हैं, जो साधन सम्पन्न, शक्तिशाली, सत्ताधारी एव ऐश्वर्य सम्पन्न होते हैं। मार्क्स के अनुसार शोषक वर्ग का एक प्रकार से उत्पादन के साधनो, उत्पादन की शक्तियो तथा उत्पादन के सम्बन्धो पर आधिपत्य होता है। शोषकों का उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना होता है, अतिरिक्त मूल्य की मात्रा को अधिक-से अधिक बढाना एव शोषित का अधिकतम शोषण करना होता है। इस प्रकार से शोषक परजीवी होता है जो शोषित का शोषण करने के लिए व अधिक लाभ कमाने आदि के लिए उत्पादन करता है।

2. शोषित वर्ग (Exploitee Class)—मार्क्स का कथन है कि शोषित वह व्यक्ति है, जिसका उत्पादन के साधनो पर स्वामित्व नही होता है। वह हमेशा अभावग्रस्त होता है। शोषित अपना श्रम शोषक को बेचता है। जिस प्रकार के उत्पादन के साधन होते हैं, उसी के अनुरूप श्रम का रूप एव प्रकार होता है। शोषित मानव समाज के इतिहास मे हर काल मे रहे हैं। जिस काल मे जैसा उत्पादन का साधन था, उसके अनुसार श्रम बेचने वाले शोषित का भी रूप रहा है। दासत्व युग में शोषित का रूप दास था, सामन्त युग मे शोषित का रूप भूमिहीन कृषक था और वर्तमान मे पूँजीपति युग मे शोषित श्रमिक है। इस श्रमिक को कार्ल मार्क्स ने सर्वहारा-वर्ग की सज्ञा दी है। अनेक शोषित मिलकर जिस बडे समूह का निर्माण करते हैं, वह शोषित-वर्ग कहलाता है। *पूँजीपति व्यवस्था मे अनेक श्रमिक या सर्वहारा मिलकर शोषित-वर्ग या सर्वहारा-वर्ग का निर्माण* करते हैं। भिन्न-भिन्न कालो मे शोषित-वर्ग—शोषक-वर्ग को अपना श्रम जीविकोपार्जन के लिए बेचता रहा। शोषित की मजदूरी का निर्धारण हमेशा शोषक वर्ग ने किया है। शोषक-वर्ग का हमेशा यह प्रयास रहा है कि उसने शोषितों की कम-से-कम मजदूरी निश्चित की है और अधिक-से-अधिक अतिरिक्त मूल्य को हडपने का प्रयास किया है। मजदूरी का निर्धारण शोषक की माँग और शोषितो की पूर्ति पर निर्भर करता है। शोषित का जीवन हमेशा दयनीय रहा है इसलिए मार्क्स ने उसे उत्पीडित भी कहा है। यहाँ शोषित के विभिन्न रूप—उत्पीडित, दास, कृषक, श्रमिक, मजदूर व गुलाम आदि अपने-अपने कालो मे बडे समूहो के रूप में रहे हैं जिनको मार्क्स ने दास-वर्ग, गुलाम-वर्ग, किसान वर्ग, श्रमिक-वर्ग तथा सर्वहारा-वर्ग आदि की संज्ञा दी है।

3. संघर्ष (Struggle)—जैसा कि कार्ल मार्क्स ने अपनी विभिन्न कृतियो मे सघर्ष की अवधारणा का प्रयोग किया है, उसके अनुसार संघर्ष से आपका तात्पर्य दो वर्गों के परस्पर विरोध से है। यह विरोध कभी छिपे रूप मे होता है तो कभी स्पष्ट और कभी प्रकट रूप मे होता है। यह

लड़ाई लगातार हो सकती है और रुक-रुक कर भी हो सकती है, लेकिन इस लड़ाई अथवा संघर्ष का अन्त प्रत्येक बार या तो पूरे समाज के क्रान्तिकारी पुनर्गठन के रूप में सामने आता है अथवा जिन वर्गों में संघर्ष होता है, वे बर्बाद हो जाते हैं। मार्क्स की मान्यता है कि समाज में एक वर्ग आवश्यकता की पूर्ति के साधनों पर नियन्त्रण रखता है। लेकिन दूसरा वर्ग समाज में ऐसा होता है जिसकी आवश्यक आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं हो पातीं। यह असन्तुष्ट वर्ग अपने असन्तोष और विरोध को तरह-तरह से व्यक्त करता है। साधन-सम्पन्न शोषक वर्ग अपने हितों की सुरक्षा के लिए संघर्ष करता है और साधनहीन शोषित-वर्ग उन साधनों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करता है। जब शोषित-वर्ग की पीड़ा बढ़ जाती है, असहनीय हो जाती है तो यह असन्तोष क्रान्ति का रूप ले लेता है। शोषक-वर्ग की हार होती है और समाज में क्रान्तिकारी पुनर्गठन स्थापित हो जाता है।

कभी कभी संघर्षरत वर्गों की बर्बादी भी हो जाती है। मार्क्स ने संघर्ष को द्वन्द्ववाद के द्वारा भी समझाया है। आपका कहना है—शोषक-वर्ग का एकवाद है, शोषित वर्ग प्रतिवाद के रूप में उभरकर सामने आता है। शोषक वर्ग और शोषित-वर्ग या वाद और प्रतिवाद में संघर्ष होता है और इसका परिणाम समवाद के रूप में सामने आता है। कुछ समय बाद धीरे-धीरे यह समवाद पुनः एक वाद में विकसित हो जाता है। इस वाद के विरोध में एक नया प्रतिवाद उभरकर सामने आता है, इनमें संघर्ष होता है और एक नया समवाद परिणामस्वरूप समाज में स्थापित हो जाता है। मार्क्स के अनुसार यह संघर्ष की प्रक्रिया 'वाद, प्रतिवाद और समवाद' के रूप में तब तक चलती रहती है, जब तक समाज साम्यवादी समाज के रूप में स्थापित नहीं हो जाता।

पूँजीवाद एवं वर्ग-संघर्ष
(Capitalism and Class-Struggle)

कार्ल मार्क्स ने लिखा है कि सामन्तवाद में सामन्तों एवं भूदासों के संघर्ष के फलस्वरूप आधुनिक पूँजीवाद की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार से आधुनिक पूँजीवाद सामन्तवादी समाज के विनाश का परिणाम है। मार्क्स की मान्यता है कि बुर्जुआ वर्ग ने सामन्तवाद का अन्त किया है। आपने यह भी लिखा है कि पूर्व के कालों में वर्ग-संघर्ष इतना तीव्र और स्पष्ट नहीं था जितना कि पूँजीवादी समाज में है। अन्य युगों की तुलना में पूँजीवादी व्यवस्था में श्रम का विभाजन काफी उन्नत अवस्था में होता है। बड़ी मात्रा में उत्पादन फैक्ट्री, कल-कारखानों और बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों पर होता है। उत्पादन के साधनों, यन्त्रों व उपकरणों आदि पर पूँजीपति का आधिपत्य होता है। मार्क्स ने पूँजीवादी समाज के शोषकों या पूँजीपतियों को बुर्जुआ की संज्ञा दी है। ये बुर्जुआ वर्ग श्रम जीवियों पर कार्य की शर्तें लगाता है। इनके उत्पादन का लक्ष्य अधिक लाभ कमाना है, श्रमिकों के कार्य के घण्टों को बढ़ाना है—कम-से-कम मजदूरी देना है और सभी प्रकार से अधिक से अधिक अतिरिक्त मूल्य को हड़पना है। मार्क्स के द्वन्द्ववाद एवं वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्तों के अनुसार पूँजीपति समाज-व्यवस्था में पूँजीपति या बुर्जुआ-वर्ग के विरुद्ध दूसरा वर्ग स्वतः उत्पन्न होता है। ये दूसरा शोषित-वर्ग श्रमिक-वर्ग है जिसे मार्क्स ने विशिष्ट नाम—सर्वहारा-वर्ग दिया है। आपका मत है कि यह सर्वहारा-वर्ग पूँजीपति-वर्ग पर आश्रित रहता है। इन श्रमिकों या सर्वहारा

वर्ग की सामाजिक, आर्थिक एव राजनैतिक स्थिति बहुत दयनीय होती है। ये अपना श्रम पूँजीपतियो को बेचते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था मे बुर्जुआ-वर्ग और सर्वहारा वर्ग एक-दूसरे से सम्बन्धित और अन्योन्याश्रित होते हैं। इन दोनो वर्गों को एक-दूसरे की आवश्यकता होती है।

पूँजीपति अपने कारखाने व फैक्ट्रियाँ आदि श्रमिको के द्वारा चलाते हैं। अगर श्रमिक कारखानो में काम नहीं करे तो कारखाने बन्द हो जाएँ। पूँजीपति यदि श्रमिको को कारखानो म काम न दे तो श्रमिक भूखे मर जायेगे। मार्क्स का कहना है कि य दोनो वर्ग एक दूसरे के पूरक एव आवश्यक होते हुए भी अपने अपने उद्देश्यो व हितो के लिए परस्पर सघर्ष करते हैं। श्रमिक वर्ग अपना वेतन बढाने के लिए, अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने क लिए, काम के घण्टे कम करने के लिए पूँजीपति-वर्ग से सघर्ष करता है। दूसरी ओर पूँजीपति अपना लाभ बढाने के लिए, अपने हितो की रक्षा करने के लिए श्रमिको को कुचलता है व उनकी माँगो का विरोध करता है। मार्क्स लिखते हैं कि यह विरोध कभी छिपे रूप में व कभी प्रकट रूप मे अथवा कभी रुक रुककर या लगातार एक-दूसरे के विरुद्ध सघर्ष के रूप मे होता रहता है। श्रमिक वर्ग पूँजीपतियो के विरुद्ध क्रान्ति की गर्जना करेगे। मार्क्स यह भविष्यवाणी भी करते हैं कि इन दोनो वर्गों का परिणाम पूँजीवाद का विनाश होगा। पूँजीपति वर्ग का विनाश अवश्यम्भावी है। आपने द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के आधार पर यह भविष्यवाणी भी की है कि पूँजीपति वर्ग के विनाश के बीज स्वय पूँजीपति व्यवस्था मे ही विद्यमान होते हैं और ये ही विकसित होकर पूँजीपति वर्ग का विनाश उसी प्रकार से करगे जिस प्रकार से बुर्जुआओ (पूँजीपतियो) ने सामन्तवाद का विनाश किया था।

मार्क्स ने यह भी भविष्यवाणी की है कि जिन शस्त्रो से बुर्जुआओ ने सामन्तवाद का अन्त किया है उन्हीं शस्त्रो से सर्वहारा-वर्ग बुर्जुआ-वर्ग का नाश करेगा। मार्क्स की मान्यता है कि पूँजीवाद की प्रकृति ही ऐसी है कि वह अपनी कब्र स्वय खोदता है (Capitalism digs its own grave)। मार्क्स ने यह भी कहा है कि वर्ग-सघर्ष की गति इस बात पर निर्भर करती है कि शोषक वर्ग—शोषित-वर्ग का किस तीव्रता से शोषण करता है। आपने सूत्र दिया है कि **"शोषण की गति जितनी तीव्र होगी वर्ग-संघर्ष की गति भी उतनी ही तीव्र होगी।"** मार्क्स ने भविष्यवाणी की है कि बुर्जुआ-वर्ग की समाप्ति के बाद साम्यवादी समाज की स्थापना होगी। यह समाज वर्ग-विहीन होगा व इस समाज मे वर्ग-सघर्ष भी नहीं होगा। आपने यह भी लिखा कि वर्ग संघर्ष की जो प्रक्रिया दासत्व युग से चली आ रही है, उसके पुराने रूपो के स्थान पर नए रूप, उत्पीड़न की पुरानी अवस्थाओ के स्थान पर नई अवस्थाएँ और सघर्ष के पुराने रूपो की जगह जो नए रूप खड़े होते रहे हैं, वह क्रम साम्यवादी समाज की स्थापना के साथ समाप्त हो जायेगे।

समाजवाद की स्थापना के तरीके
(Ways of Establishing Socialism)

कार्ल मार्क्स ने "कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र" के पृष्ठ 62 पर लिखा है कि सर्वहारा-वर्ग अपना राजनैतिक प्रभुत्व पूँजीपति-वर्ग से धीरे-धीरे सारी पूँजी छीनने के लिए उत्पादन के सारे औजारो को राज्य अर्थात् शासक-वर्ग के रूप मे सर्वहारा-वर्ग के हाथो मे केन्द्रित

करने के लिए तथा समग्र उत्पादन शक्तियों में यथाशीघ्र वृद्धि के लिए इस्तेमाल करेगा। पूँजीवाद को समाप्त करके आपने समाजवाद को स्थापित करने के लिए निम्नलिखित तरीके सुझाए हैं—

(1) भू-स्वामित्व का उन्मूलन और समस्त लगान का सार्वजनिक प्रयोजन के लिए उपयोग।

(2) भारी वर्द्धमान या आरोही आय-कर।

(3) उत्तराधिकार का उन्मूलन।

(4) सभी उत्प्रवासियों और विद्रोहियों की सम्पत्ति की जब्ती।

(5) सरकारी पूँजी और पूर्ण एकाधिकार से सम्पन्न राष्ट्रीय बैंक द्वारा राज्य के हाथ में उधार का केन्द्रीयकरण।

(6) संचार और यातायात के साधनों का राज्य के हाथों में केन्द्रीयकरण।

(7) राजकीय कारखानों और उत्पादन के औजारों का विस्तार करना, एक आय योजना बनाकर परती जमीन को जोतना और खेत की मिट्टी का सामान्यतः सुधार करना।

(8) हर एक के लिए काम करना समान रूप से अनिवार्य किया जाना। विशेषकर कृषि के लिए औद्योगिक सेनाएँ कायम करना।

(9) उद्योग और कृषि को मिलाना : धीरे-धीरे देहातों और शहरों का अन्तर मिटा देना।

(10) सार्वजनिक पाठशालाओं में तमाम बच्चों के लिए मुफ्त शिक्षा व्यवस्था। वर्तमान रूप में बच्चों से कारखानों में काम लेना खत्म कर देना, शिक्षा और औद्योगिक उत्पादन को मिलाना आदि।

कार्ल मार्क्स ने कहा है कि इन उपर्युक्त वर्णित तरीकों के द्वारा उन्नतिशील पूँजीपति देशों में समाजवाद को जल्दी लाया जा सकता है। आपने पूँजीवाद समाप्त करने की विधि का उल्लेख भी किया।

समाजवाद की स्थापना की विधि
(Method of Establishing Socialism)

कार्ल मार्क्स ने समाजवाद के उपर्युक्त वर्णित तरीकों को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए एवं योजनाबद्ध क्रान्ति की तैयारी के लिए निम्नलिखित विधि का सुझाव दिया—

(1) संगठन की स्थापना (Establishment of Organisation)—मार्क्स ने कहा है कि समाजवाद को लाने के लिए शोषित और निर्धन व्यक्तियों का संगठन बनाना चाहिए। इसका नेतृत्व श्रमिकों के हाथ में होना चाहिए। आपके अनुसार श्रमिक वर्ग ही क्रान्तिकारी आन्दोलन का नेतृत्व कर सकता है। सम्पत्ति व साधनहीन व्यक्ति को बुर्जुआ की पूँजीपति-व्यवस्था को बनाए रखने में भी कोई रुचि नहीं होगी।

(2) साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रचार (Propagating Principles of Socialism)—मार्क्स ने कार्य-पद्धति की सफलता के लिए दूसरा सुझाव छात्रों में साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रचार करने का दिया। आपका कहना है कि छात्र उत्साही होते हैं इसलिए वे क्रान्ति में गहरी रुचि रखते हैं। छात्रों को प्रचार द्वारा साम्यवाद के आन्दोलन का अनुयायी भी बनाना चाहिए।

(3) निरन्तर आन्दोलन (Continuous Movement)—मार्क्स ने कहा कि साम्यवाद की स्थापना के लिए जो आन्दोलन चलाया जाए उसे किसी प्रकार से बन्द नहीं करना चाहिए। आन्दोलन को निरन्तर जारी रखना चाहिए, जनता का विश्वास प्राप्त करना चाहिए और पूँजीपति समर्थक व सरकार के विरुद्ध जनता को क्रान्ति करने के लिए तैयार करना चाहिए।

(4) साम्यवादी कार्यक्रम (Socialistic Programme)—मार्क्स ने कहा कि विश्व में विभिन्न देशो की परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न है। कोई देश स्वतन्त्र है तो कोई देश परतन्त्र है। इसलिए जिस देश की जैसी परिस्थिति हैं, उसके अनुसार साम्यवादी कार्यक्रम बनाना चाहिए। जैसे—यदि कोई देश स्वतन्त्र है तो चुनाव के घोषणा-पत्र के द्वारा चुनाव मे बहुमत प्राप्त करके सत्ता प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। जो देश परतन्त्र है वहाँ पर अन्य दलो के साथ मिलकर स्वतन्त्रता के लिए सघर्ष करना चाहिए। मार्क्स ने लिखा है कि साम्यवादियो का कार्यक्रम और उसका उद्देश्य किसी भी प्रकार से पूँजीवाद का विनाश करना होना चाहिए तथा सर्वहारा-वर्ग की सत्ता को स्थापित कराना होना चाहिए।

(5) शक्ति और हिंसा का प्रयोग (Use of Force and Violence)—मार्क्स शक्ति और हिसा का प्रयोग करने के समर्थक थे। *आपकी मान्यता थी कि पूँजीपति शासक वर्ग कभी* भी शान्ति और स्वेच्छा से सत्ता नहीं छोड़ेगे। इसलिए उन्होने कहा कि मजदूर वर्ग को सत्ता मे आने के लिए तथा पूँजीपतियो को हटाने के लिए शक्ति, हत्या व हिसा आदि का प्रयोग करना चाहिए। आपने बल-प्रयोग के द्वारा गृह-युद्ध को मान्य माना जिसके द्वारा सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ-वर्ग को हटाए तथा उनके उत्पादन के साधनो को छीन ले।

मार्क्स की मान्यता है कि सामाजिक परिवर्तन का एक प्रमुख साधन क्रान्ति है। समाज मे परिवर्तन योजनाबद्ध तरीको से जल्दी लाया जा सकता है। आपने कहा है कि जिन समाजो में पूँजीवाद के विनाश के लिए योजनाबद्ध तरीके से प्रयास नहीं किए जायेगे उनमे भी अन्ततोगत्वा निम्नलिखित कारणो से स्वतः ही पूँजीवाद का विनाश अवश्यम्भावी हैं।

पूँजीवाद के विनाश के कारण
(Causes of Decline of Capitalism)

कार्ल मार्क्स ने **'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र', 'पूँजी', 'क्रिटिक ऑफ पोलिटिकल इकोनोमी'** आदि कृतियो मे पूँजीवादी-व्यवस्था के विनाश के कारणो का उल्लेख किया है। आपने विचार व्यक्त किये हैं कि पूँजीवाद स्वय सर्वहारा-वर्ग को लड़ने के लिए यत्र प्रदान करता है। श्रमजीवी-वर्ग क्रान्ति करके अपना शासन स्थापित करेगा और धीरे-धीरे पूँजीवाद के सभी लक्षण समाप्त हो जायेगे। आपने पूँजीवाद के विनाश के निम्नलिखित कारणो का उल्लेख किया।

(1) अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value)—कार्ल मार्क्स ने कहा कि पूँजीपति श्रमिकों के श्रम के द्वारा अधिक-से-अधिक अतिरिक्त मूल्य को प्राप्त करने का प्रयास करता है। अतिरिक्त मूल्य वह लाभ है जो श्रमिक द्वारा उत्पादित माल को वास्तविक मूल्य और उस माल

के बाजार के माल के अन्तर के रूप में होता है। पूँजीपति इस अन्तर (अतिरिक्त मूल्य) को हड़प लेता है। कार्ल मार्क्स की मान्यता है कि इस अतिरिक्त मूल्य में श्रमिक का हिस्सा है जो उसे नहीं मिलता है एवं पूँजीपति इस मूल्य के द्वारा श्रमिक का शोषण करता है। पूँजीपति जितना अधिक अतिरिक्त मूल्य को हड़पता है, श्रमिक का उतना ही अधिक शोषण होता है जो उसी अनुपात में श्रमिकों में असन्तोष पैदा करता है। आगे चलकर यही असन्तोष पूँजीपति वर्ग व्यवस्था का विनाश का कारण बन जाता है।

(2) व्यक्तिगत लाभ के लिए उत्पादन (Production for Individual Profit)—मार्क्स का मत है कि पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपति वस्तुओं का उत्पादन अधिक-से अधिक व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करने के लिए करता है। उसके सामने समाज के हित एवं उपभोग का आधार नहीं होता है। इससे समाज की माँग और उत्पादन में असन्तुलन पैदा हो जाता है। यह अस्थाई आर्थिक संकट पैदा कर देता है जिससे श्रमिकों को हानि होती है। श्रमिकों में निर्धनता बढ़ जाती है जो आगे चलकर पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष पैदा करती है।

(3) विशाल उत्पादन, एकाधिकार एवं पूँजी का संचय (*Large Production, Monopoly Cumulation of Capital*)—मार्क्स ने कहा कि पूँजीवाद के विनाश के अनेक कारण हैं, जिसमें पूँजीपतियों का एकाधिकार और पूँजी संचय के साथ-साथ विशाल उत्पादन प्रमुख कारण हैं। पूँजीवाद फैक्ट्री प्रणाली पर आधारित है। फैक्ट्री प्रणाली में उत्पादन की गति-तीव्र होने के कारण उत्पादन भी जितनी अधिक मात्रा में चाहे किए जा सकते हैं। बड़े पूँजीपति अधिक उत्पादन करके अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त करते हैं। बाजार में प्रतिस्पर्द्धा के कारण छोटे एवं मध्यम पूँजीपति टिक नहीं पाते। ये अपनी फैक्ट्री बड़े पूँजीपतियों को बेच देते हैं, इससे बड़े-बड़े पूँजीपतियों के हाथ में फैक्ट्रियाँ, औद्योगिक केन्द्रों आदि का केन्द्रीयकरण हो जाता है। मार्क्स ने स्पष्ट किया है कि इस प्रक्रिया के फलस्वरूप पूँजीपतियों की संख्या कम हो जाती है और जो पूँजीपति प्रतिस्पर्द्धा में जीत जाते हैं, वे अधिक पूँजीपति हो जाते हैं। दूसरी ओर श्रमिक अधिक निर्धन हो जाते हैं और उनकी संख्या भी बढ़ जाती है। छोटे और मध्यम वर्गीय पूँजीपति प्रतिस्पर्द्धा में हारकर निर्धन हो जाते हैं और श्रमिक वर्ग में मिल जाते हैं। मार्क्स का यह भी कहना है कि श्रमिकों की संख्या बढ़ने और अधिक निर्धन होने से उनमें एकता और संगठन बढ़ जाता है। सर्वहारा-वर्ग की एकता एवं संगठन को पूँजीपति वर्ग बढ़ाता है और यही आगे चलकर पूँजीपति-वर्ग का विनाश करता है।

(4) आर्थिक संकट (Economic Crisis)—मार्क्स ने लिखा है कि पूँजीपति अतिरिक्त मूल्य, व्यक्तिगत लाभ, उत्पादन व बाजार की प्रतिस्पर्द्धा आदि के द्वारा समय-समय पर अनेक आर्थिक संकट पैदा करते हैं। पूँजीपति धन का अधिक-से-अधिक संचय करते हैं जो श्रमिकों में गरीबी बढ़ाता है। श्रमिकों में बेरोजगारी में वृद्धि होती है, काम के घण्टे बढ़ जाते हैं, उनको श्रम के बदले में कम वेतन मिलता है, यह सब समाज के बड़े वर्ग श्रमिकों में अनेक आर्थिक संकट पैदा करता है। अधिक उत्पादन होने से बाजार में उत्पादित वस्तुओं की माँग कम हो जाती है। पूँजीपति ऐसी स्थिति में अपनी फैक्ट्रियाँ, कल-कारखाने, औद्योगिक केन्द्र आदि बन्द कर

देते हैं—इससे श्रमिक बेरोजगार हो जाते हैं, घोर आर्थिक सकट पैदा हो जाता है, उनमे पूँजीपतियो के विरुद्ध असन्तोष बढ जाता है। मार्क्स के अनुसार आर्थिक सकट, बेरोजगारी, निर्धनता व तालाबन्दी आदि के कारण सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध सघर्ष एवं क्रान्ति की ओर अग्रसर होता है।

(5) श्रमिक-यन्त्रों का दास (Labour Creatura of Tools)—मार्क्स का कथन है कि फैक्ट्री प्रणाली मे जो उत्पादन-व्यवस्था होती है उसमे श्रमिक केवल यन्त्रो का दास रह जाता है। उत्पादन की प्रक्रिया में श्रम-विभाजन अनेक व्यक्तियो मे बँटे होने के कारण श्रमिक का वैयक्तिक महत्त्व एवं स्वाभिमान समाप्त हो जाता है। श्रमिक की उत्पादन की प्रक्रिया मे सृजनात्मक शक्ति भी समाप्त हो जाती है। इस असन्तोष के कारण श्रमिको में पूँजीवाद के विनाश के लिए चेतना जागृत हो जाती है और वह सगठित होकर पूँजीपति व्यवस्था के विरुद्ध सघर्ष करता है।

(6) श्रमिकों में एकता (Unity in Labourer)—पूँजीपति व्यवस्था मे उत्पादन वृहद् स्तर पर होता है। बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रो की स्थापना और विकास होता है। औद्योगीकरण और केन्द्रीयकरण के कारण श्रमिक भी एक स्थान पर बडी सख्या मे साथ-साथ कल कारखानो मे काम करते हैं। ये लोग परस्पर मिलते-जुलते हैं, अपने सुख-दुःख की चर्चा करते हैं, उनकी समस्याएँ, आर्थिक स्थिति, कष्ट व उद्देश्य आदि समान होने के कारण उनमे एकता पैदा हो जाती है व सहयोग की भावना का उदय होता है। यह सहयोग और एकता व्यक्तिगत सघर्ष को सामूहिक एवं संगठित संघर्ष में विकसित कर देती है। श्रमिक सगठित होकर अपने कल-कारखानो मे पूँजीपतियो से अपनी माँगे मनवाने के लिए सगठित रूप से बातचीत करते हैं व हडताल करते हैं। यही आगे चलकर क्रान्ति का रूप धारण कर लेता है और पूँजीवाद को उखाड फेंकता है।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक आन्दोलन (International Labour Movement)—मार्क्स ने ठीक ही लिखा है कि जो वर्ग शोषण करता है वह अपने विनाश के कारण को स्वय उत्पन्न एवं पोषित करता है। पूँजीपति वर्ग व्यवस्था मे भी यह बात निम्न प्रकार से मार्क्स ने स्पष्ट की है। आपका मत है कि पूँजीवादी व्यवस्था मे उत्पादन बहुत अधिक मात्रा में होता है। इन उत्पादित वस्तुओ को बेचने के लिए राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो की व्यवस्था की जाती है। विश्व के विभिन्न क्षेत्रो से उत्पादन के लिए कच्चा माल प्राप्त करने तथा उत्पादित वस्तुओं को अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो मे पहुँचाने के लिए पूँजीवादी व्यवस्था ने सचार एवं यातायात के साधनो का तीव्र गति से विकास किया। इन संचार और यातायात के साधनो के विकास के फलस्वरूप विश्व के सभी श्रमिक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूँजीपति वर्ग को समाप्त करने के लिये संगठित कर दिया है। पूँजीपतियो द्वारा लाभ कमाने के लिये यातायात और सचार के साधनो का विकास करना उन्हीं के विनाश का कारण बन गया है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर संगठित हो सके हैं। इन सचार और यातायात के साधनो ने विभिन्न राष्ट्रो के श्रमिको को संगठित कर दिया है। पहले जहाँ श्रमिको का विरोध स्थानीय स्तर तक ही संगठित था, उसको इन नए साधनो ने श्रमिको को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रमिको का नारा—"दुनिया के मजदूरो एक हो!" बुलन्द हो गया है। कार्ल

मार्क्स ने लिखा है कि विश्व के सभी श्रमिक संगठित होंगे और क्रान्ति के द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त कर देंगे।

सारांश में ये कार्ल मार्क्स के क्रान्तिकारी विचार, वर्ग, वर्ग-संघर्ष, शोषक वर्ग, शोषित वर्ग, अतिरिक्त मूल्य, समाजवादी व्यवस्था के स्थापना के तरीके, पूँजीवाद के विनाश के कारण व पूँजीवाद और वर्ग-संघर्ष आदि से सम्बन्धित हैं। सामाजिक विज्ञान और विशेष रूप से समाजशास्त्र में मार्क्स के अनेक समर्थक होने के साथ-साथ अनेक कटु आलोचक भी हैं जिन्होंने इनकी निम्नलिखित आलोचना की है।

वर्ग-संघर्ष की आलोचना
(Criticism of Class-Struggle)

कार्ल मार्क्स के वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष से सम्बन्धित विचारों की समाजशास्त्र में अनेक विद्वानों ने कटु आलोचना की है। मार्क्स के विचारों से सम्बन्धित निम्नलिखित कुछ प्रमुख आपत्तियाँ उठाई गई हैं—

(1) समस्त समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है (History of All Societies is the History of Class-Struggle)—**डैलिवस्की** (J. Delevsky) ने अपनी कृति 'सोशियल एन्टागोनिज्म' (Social Antagonism) में लिखा है कि कार्ल मार्क्स का यह कथन कि **"अभी तक आविर्भूत समस्त समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा"** गलत एवं अवैज्ञानिक है। आपका कहना है कि समाज में संघर्षों के अनेक स्वरूप होते हैं, केवल *वर्ग-संघर्ष ही नहीं होता है प्रजातीय संघर्ष, धार्मिक संघर्ष व राज्य समूहों में संघर्ष आदि उदाहरण* हैं जो आर्थिक वर्ग के संघर्षों से भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त ये संघर्ष कभी-कभी आर्थिक संघर्ष से अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। समाजशास्त्र में यदि हम देखें तो जातीय संघर्ष, साम्प्रदायिक संघर्ष व भाषा के आधार पर संघर्ष आदि अनेक प्रकार के संघर्ष देखने को मिलते हैं। इन तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि समस्त मानव समाज का इतिहास मात्र वर्ग-संघर्ष का इतिहास नहीं है।

(2) संघर्ष की अवधारणा (Concept of Struggle)—कार्ल मार्क्स का वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त मूल रूप से शोषक एवं शोषित वर्गों के परस्पर संघर्ष के आधार पर सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक परिवर्तन एवं विकास की व्याख्या करता है। समाजशास्त्रियों का कहना है कि सामाजिक *व्यवस्था, सन्तुलन व संगठन समाज के विभिन्न समूहों (वर्गों) के परस्पर संघर्ष पर आधारित* नहीं होता है बल्कि समूहों में पारस्परिक सहयोग एवं एकता पर आधारित होता है। मार्क्स का यह कथन कि केवल वर्ग-संघर्ष ही एक गत्यात्मक कारक है और वह मानव समाज का विकास करता है, त्रुटिपूर्ण कथन है।

क्रोपटकिन (Kropotkin) की कृति **'म्युचुअल एड'** (Mutual Aid) एक विश्वविख्यात कृति है जिसमें आपने अनेक अन्वेषणों के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि मानवता की प्रगति सहयोग और एकता के कारण हुई है न कि वर्ग-संघर्ष, घृणा या द्वेष के कारण।

टार्डे (Tarde) ने कटाक्ष किया है कि "इतिहास के प्रारम्भ से वर्ग एव सेनाएँ परस्पर लडती रही हैं, लेकिन इन्होने रेखागणित, रसायन शास्त्र व यान्त्रिकी विज्ञान आदि का निर्माण नहीं किया है। इनके बिना मानव के लिए उद्योग एव युद्ध कला का विकास नही होता। यह सब इसलिए सम्भव हुआ कि कुछ विचारक एवं सत्य के खोजी शान्तिपूर्वक अपनी प्रयोगशाला मे काम करते रहे एव अध्ययन करते रहे।"

मार्क्स का यह कथन कि केवल संघर्ष (आर्थिक वर्गो मे) विशेष महत्त्वपूर्ण है, समाजशास्त्रियो के अनुसार आधारहीन कथन एव निष्कर्ष है।

मैकाइवर और पेज (Maciver and Page) ने अपनी कृति 'समाज' मे लिखा है कि मानव समाज मे कोई भी क्रिया सहयोग के बिना नहीं हो सकती। दो पहलवान जब तक सहयोग नहीं करेगे, उनमे मल्लयुद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार शोषक एव शोषित वर्ग जब तक सहयोग नहीं करेगे, उत्पादन भी सम्भव नहीं होगा। मैकाइवर व पेज ने कहा है कि '**समाज सहयोग है जो संघर्ष को पार करता है**' (Society is Co operate crossed by Conflict)।

(3) केवल दो वर्ग (Only Two Classes)—मार्क्स ने अपनी कृतियो, विचारो, लेखो एव पत्रो मे हमेशा दो वर्गों—शोषक एव शोषित का ही विवेचन किया है। लेकिन कुछ विद्वान मार्क्स के इन वर्गों को कल्पित मानते हैं। फ्रांसीसी श्रमिक संघवादी सोरल (Sorel) ने कहा है कि मार्क्स द्वारा वर्णित वर्गों की अवधारणा एक अमूर्त कल्पना है। मार्क्स की यह धारणा कि समाज मे केवल दो ही वर्ग हैं, प्रमाणो के आधार पर असत्य सिद्ध होती है। डेविलोस्की ने कई प्रकार के सामाजिक वर्गों का उल्लेख किया है। जन साधारण भी जानते हैं कि समाज में अनेक वर्ग हैं। इन वर्गों की भिन्नता के कारण ही अमेरिका के विश्वविद्यालयों के परिसर मे शोषण से सम्बन्धित अनेक प्रकार के वर्गों का अध्ययन उग्र उन्मूलनवादी समाजशास्त्र (Radical Sociology) के अन्तर्गत किया जाता है। यह सम्प्रदाय संघर्ष उपागम के अन्तर्गत आर्थिक वर्ग को महत्त्व न देकर सामाजिक स्तर, रग-भेद तथा अनेक प्रकार के वर्गों एवं शोषण के विरोध में अभियान चला रहा है।

(4) सामाजिक और आर्थिक वर्ग (Social and Economic Classes)— कार्ल मार्क्स ने अपने वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त में सामाजिक और आर्थिक वर्ग को एक माना है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से आपका ऐसा मानना अवैज्ञानिक है। समाजशास्त्र मे वर्ग निर्धारण के आधार पार्सन्स एवं अन्य विद्वानो ने नातेदारी समूह की सदस्यता, व्यक्तिगत विशेषताएँ, अर्जित उपलब्धियाँ, द्रव्यजात, सत्ता, शक्ति, धर्म, शिक्षा व योग्यता आदि को माना है। इस प्रकार से समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से कार्ल मार्क्स की वर्ग की धारणा के आधार—सामाजिक और आर्थिक को एक मानना—पार्सन्स, किंग्स्ले डेविस व मैकाइवर और पेज आदि के अनुसार अपूर्ण है। ऐसा लगता है कि मार्क्स ने अपने राजनैतिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए उनको एक माना है और केवल दो ही वर्गों की वकालत की है।

(5) सर्वहारा वर्ग द्वारा क्रान्ति (Revolution by Proletariate Class)— मार्क्स की यह कल्पना है कि सर्वहारा-वर्ग क्रान्ति करके समाज में साम्यवाद स्थापित करेगा। आपने यह भी कहा है कि सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ-वर्ग को उखाड़ फेकेगा, शोषित वर्ग क्रान्ति द्वारा समाज को

बदलता है। अगर हम मार्क्स के साहित्य का अध्ययन करें तो, उसमें यह स्पष्ट हो जाता है कि क्रान्ति के सूत्रधार बुद्धिजीवी लोग होते हैं। 19वीं शताब्दी में स्वयं मार्क्स ने अपनी कृतियों के द्वारा श्रमिकों में जागृति पैदा की। आपने 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र' में बुर्जुआ वर्ग को उखाड़ फेंकने के योजनाबद्ध तरीकों को क्रमबद्ध और व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है। इस बात के अनेक साक्ष्य हैं कि विश्व में जितनी भी क्रान्ति हुई है, उसके सूत्रधार बुद्धिजीवी रहे हैं। अतः मार्क्स की यह मान्यता कि 'क्रान्ति श्रमिक वर्ग करेगा' अवैज्ञानिक है।

(6) अवधारणा सम्बन्धी आपत्ति (Objections Against Concepts)—कार्ल मार्क्स के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों की एक प्रमुख आपत्ति यह रही है कि मार्क्स ने अनेक ऐसी अवधारणाओं एवं शब्दों का प्रयोग किया है, जो वैज्ञानिक अध्ययनों, निष्कर्षों तथा सिद्धान्तों में आपत्तिजनक हैं। मार्क्स ने लिखा कि साम्यवाद की स्थापना अवश्यम्भावी है, श्रमिक संघर्ष तथा क्रान्ति करके बुर्जुआ वर्ग को उखाड़ फेकेंगे व समाज के विकास के क्रम में अन्त में वर्ग-विहीन एवं राज्य विहीन समाज की स्थापना होगी, आदि मार्क्स की अवधारणाएँ एवं कथन अवैज्ञानिक हैं। विज्ञान केवल 'क्या है', 'क्यों है', 'कैसे है' व 'क्या होगा' आदि का अध्ययन करता है। मार्क्स के अध्ययन में इन लक्षणों का अभाव है इसलिए वैज्ञानिकों के अनुसार मार्क्स की शब्दावली एवं निष्कर्ष अवैज्ञानिक हैं।

(7) वर्ग-संघर्ष के परिणाम असत्य (False Results of Class-Struggle)—कार्ल मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी कि वर्ग-संघर्ष के द्वारा पूँजीवाद समाप्त हो जायेगा और साम्यवाद की स्थापना होगी। आपने पूँजीवाद के सुधार की कल्पना नहीं की। वर्तमान परिस्थितियाँ मार्क्स की इस भविष्यवाणी को प्रमाणित नहीं करती हैं। विश्व के अनेक देशों में श्रमिकों की स्थिति में अनेक सुधार किये गये हैं। पश्चिम राष्ट्रों—इंग्लैण्ड व अमेरिका आदि में कानून द्वारा श्रमिकों को अनेक सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। श्रमिकों की आर्थिक स्थिति में काफी सुधार किये गये हैं। इससे सर्वहारा वर्ग में असन्तोष दूर हो गया है और सर्वहारा-वर्ग तथा बुर्जुआ-वर्ग में संघर्ष कम हो गया है व श्रमिक पूँजीपतियों से सहयोग कर रहे हैं। ये तथ्य मार्क्स के वर्ग-संघर्ष से सम्बन्धित परिणामों को अप्रमाणित एवं असत्य सिद्ध कर रहे हैं।

(8) वर्ग-संघर्ष की प्रक्रिया असत्य (False Process of Class-Struggle)—कार्ल मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी कि वर्ग-संघर्ष की प्रक्रिया दासत्व युग, सामन्ती युग व पूँजीपति युग से होती हुई साम्यवादी अवस्था में पहुँचेगी। आपका कहना था कि औद्योगीकरण और पूँजीवाद के बाद क्रान्ति द्वारा साम्यवाद स्थापित होगा लेकिन रूस और चीन में सामन्तवाद के बाद ही साम्यवाद की स्थापना हो गई। ये देश पूँजीपति अवस्था से नहीं गुजरे हैं। मार्क्स के अनुसार पूँजीपति देशों में श्रमिक क्रान्ति होनी चाहिए थी लेकिन ऐसा नहीं हुआ। इस प्रकार से अनेक प्रमाण एवं तथ्य मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग-संघर्ष के क्रमिक चरणों को असत्य सिद्ध करते हैं। इसके उपरान्त भी निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का समाजशास्त्र में एक विशिष्ट स्थान है। इसके सिद्धान्त ने अन्य समाजशास्त्रियों को प्रभावित किया है, जिससे समाजशास्त्र के साहित्य में विकास हुआ है।

सामान्य निष्कर्ष
(General Conclusion)

कुछ समाजशास्त्रियो ने मार्क्स के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि—(1) मार्क्स ने जो कुछ शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण से कहा है वह नया नहीं है। मार्क्स से पहले भी अनेक लेखको और विचारको ने इस प्रकार के सिद्धान्त एव अवधारणाएँ प्रस्तुत की हैं। (2) मार्क्स ने जो कुछ मौलिक विचार व्यक्त किये हैं, वे वैज्ञानिकता से बहुत परे हैं। (3) मार्क्स के विचारो का केवल एक गुण यह है कि इन्होने जो कुछ लिखा है उसे ये बहुत प्रभावशाली तरीके से प्रस्तुत किया है। इतने प्रभावशाली तरीके से पहले किसी ने विचार प्रस्तुत नहीं किये।

❐

अध्याय-11

प्रकार्यवाद : मर्टन

(Functionalism : Merton)

प्रकार्यवाद समाजशास्त्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एव प्रचलित सिद्धान्त रहा है। किंग्स्ले डेविस के अनुसार आज समाजशास्त्र में तीन-चौथाई भाग में यह वाद छाया हुआ है। समाजशास्त्र में इसे अनेक नामों से जाना जाता है, जैसे—संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम (Structural-Functional Approach), प्रकार्यात्मक-उपागम (Functional Approach), प्रकार्यात्मक विश्लेषण (Functional Analysis), प्रकार्यात्मक सिद्धान्त (Functional Theory), प्रकार्यात्मक अभिविन्यास (Functional Orientation) और आजकल सबसे अधिक प्रचलित एवं संक्षिप्त नाम है—प्रकार्यवाद (Functionalism)।

यह एक अध्ययन की पद्धति, अध्ययन का उपागम एवं सिद्धान्त—तीनों ही हैं। समाजशास्त्र में विद्वानों ने इसकी विवेचना तीनों रूपों को ध्यान में रखकर की है। किंग्स्ले डेविस का तो यहाँ तक कहना है कि समाजशास्त्र और प्रकार्यात्मक विश्लेषण—दोनों के परिप्रेक्ष्य, उपागम, अध्ययन की पद्धतियाँ, मान्यताएँ, समस्याएँ और सीमाएँ आदि समान ही हैं, इनमें कोई अन्तर नहीं है। प्रकार्यात्मक विश्लेषण अथवा प्रकार्यवाद समाजशास्त्र का पर्याय ही है, इसलिए समाजशास्त्र में इसको अलग नाम देना अनावश्यक है। प्रकार्यवाद के अनेक समर्थक हुए हैं जिनें ऑगस्ट, कॉम्ट, हर्बर्ट स्पेन्सर, दुर्खीम, मैलिनोव्स्की, रेडक्लिफ-ब्राउन, मर्टन आदि अनेक विद्वानों के नाम गिनाए जा सकते हैं—

इन विद्वानों ने जो अपने विचार प्रकार्यवाद के सम्बन्ध में प्रकट किए हैं, उनको समझने के लिए सर्वप्रथम प्रकार्य की अवधारणाओं का अध्ययन करना अत्यावश्यक है। इन अवधारणाओं को समझने के बाद प्रकार्यात्मक उपागम का इतिहास, मान्यताएँ, विशेषताएँ, महत्त्वपूर्ण सीमाएँ एवं आलोचनात्मक मूल्यांकन आदि की विवेचना मर्टन के विशेष संदर्भ में प्रस्तुत की जाएगी।

प्रकार्य का अर्थ और परिभाषा (Meaning and Definition of Function)—प्रकार्य समाजशास्त्र में एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है। सामान्यतया प्रकार्य का अर्थ समाजशास्त्र में अनेक रूपों में किया जाता है। मर्टन ने अपनी कृति 'सोशियल थ्योरी एण्ड सोशियल स्ट्रक्चर' में प्रकार्य शब्द के सम्बन्ध में बताया है कि इस अवधारणा का समाजशास्त्र में निम्नलिखित रूपों में अर्थ लगाया जाता है—

(1) सामान्य रूप मे, जैसे दीवाली, दशहरा के उत्सव, जलसे आदि के रूप मे। (2) सामाजिक-आर्थिक विश्लेषण म प्रकार्य का अर्थ व्यावसायिक घटनाओ के सन्दर्भ म लगाया जाता है। (3) पदेन कार्य सम्पादन के रूप में लिया जाता है। (4) गणितशास्त्र के अर्थ म प्रकार्य का जो अर्थ है वह भी समाजशास्त्र में लगाया जाता है, जैसे—घटना 'क' (विवाह-विच्छेद की दर) कार्य है, घटना 'ख' (आर्थिक स्थिति), अर्थात् विवाह विच्छेद की दर का घटना या बढना आर्थिक स्थिति का परिणाम है। (5) मानवशास्त्र म प्रकार्य को उसी रूप मे प्रयुक्त किया जाता है जिस रूप में जीव विज्ञान मे किया जाता है, जैसे—कोई अभ्यास अथवा विश्वास का समाज के बने रहने मे क्या योगदान है?

यहाँ हम 'प्रकार्य' शब्द के उस अर्थ को जानने का प्रयास करेंगे जो समाजशास्त्री सरचना की अवधारणा के सन्दर्भ मे लगाते हैं। इस सम्बन्ध मे हम तीन विद्वानो की परिभाषाएँ देखेंगे। ये परिभाषाएँ जॉनसन, क्लूखौन और मर्टन की हैं।

जॉनसन के अनुसार, ''अगर कोई आशिक ढाँचा—कोई उप समूह, भूमिका, सामाजिक सामान्यक अथवा सास्कृतिक मूल्य सामाजिक प्रणाली या उप-प्रणाली की एक या अधिक सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति मे योग दे तो यह कहा जाता है कि वह प्रकार्यमय है।'' इस परिभाषा मे जॉनसन ने स्पष्ट किया है कि सामाजिक सरचना की इकाइयाँ व्यवस्था और सगठन बनाए रखने में योगदान करती हैं।

क्लूखौन के अनुसार, ''सस्कृति का कोई भी अंग तभी प्रकार्यात्मक होता है जब यह इस प्रकार की अनुक्रिया करे कि उसे सामाजिक रूप से ग्रहण किया जा सके और व्यक्ति समाज से अपना अनुकूलन करने के लिए उसे सुविधापूर्ण समझे।'' इस परिभाषा मे अनुकूलन पर विशेष जोर दिया गया है। अगर व्यक्ति सास्कृतिक इकाई की सहायता से अनुकूलन कर सकता है तो वह इकाई प्रकार्यात्मक है।

मर्टन ने प्रकार्य की बहुत छोटी परन्तु सारगर्भित परिभाषा दी है जो निम्नलिखित है, ''प्रकार्य वह अवलोकित परिणाम है जो सामाजिक व्यवस्था में अनुकूलन अथवा सामञ्जस्य करता है।'' मर्टन ने स्पष्ट लिखा है कि वास्तव में कोई तत्व सामाजिक व्यवस्था का अनुकूलन करने में अथवा व्यवस्थापन में मदद करता है तो वह इकाई प्रकार्यात्मक है।

जॉनसन, क्लूखौन और मर्टन की परिभाषाओं का सार यही है कि प्रकार्य सस्कृति, समाज तथा इनकी इकाइयो का वह कार्य है जो सामाजिक व्यवस्था के सतुलन, निरन्तरता, सामाञ्जस्य, व्यवस्थापन मे सहायक हो तथा सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति करता हो।

प्रकार्य की विशेषताएँ

(Characteristics of Function)

अनेक विद्वानो ने प्रकार्य की विशेषताएँ बताई हैं। इनमें प्रमुख रेडक्लिफ ब्राउन, मैलिनोव्स्की, दुर्खीम, क्लूखौन, किंग्सले डेविस, मर्टन, पारसन्स आदि हैं। इन विद्वानो ने अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रकार्य की विशेषताएँ तथा लक्षण बताए हैं। मर्टन ने प्रकार्य की विशेषताओ

का आलोचनात्मक मूल्यांकन अपनी पुस्तक 'सोशियल थ्योरी एण्ड सोसियल स्ट्रक्टर' में किया है। इन्होंने प्रकार्य की निम्नलिखित विशेषताएँ रेडक्लिफ-ब्राउन, मैलिनोव्स्की, दुर्खीम, किंग्सले, डेविस आदि के अध्ययनों में से सर्वेक्षण करके बताई हैं, जो आंशिक रूप से सत्य हैं—

प्रकार्य की विशेषताएँ

- प्रकार्यात्मक एकता
- प्रकार्यात्मक सार्वभौमिकता
- प्रकार्यात्मक अपरिहार्यता
- प्रकार्य, अकार्य और दुष्कार्य
- प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कार्य
- अनुकूलता व सामजस्यता
- समाज द्वारा स्वीकृत
- आवश्यकताओं की पूर्ति
- प्रकार्यात्मक विकल्प
- अन्य विशेषताएँ

(1) प्रकार्यात्मक एकता (Functional Unity)—रेडक्लिफ-ब्राउन और मैलिनोव्स्की सामाजिक संरचना की विभिन्न इकाइयों के सम्बन्ध में कहते हैं कि ये समाज में एकता बनाए रखती हैं। जिस प्रकार से जीव के विभिन्न अंग परस्पर एकता के रूप में सम्बन्धित होते हैं, उसी प्रकार सामाजिक संरचना की प्रत्येक इकाई परस्पर एक-दूसरे से संगठनात्मक कार्य करते हुए सम्बन्धित रहती है।

मर्टन ने धर्म का उदाहरण देकर इस विशेषता का मूल्यांकन किया। आपका कहना है कि एक समाज में एक से अधिक धर्म को मानने वाले रहते हैं तो धर्म के कारण उनमें साम्प्रदायिक झगड़े होते हैं। इसलिए दुर्खीम, रेडक्लिफ-ब्राउन, मैलिनोव्स्की आदि का मानना आंशिक रूप में सत्य है। इकाइयाँ प्रकार्यात्मक होती हैं परन्तु वे दुष्कार्यात्मक या विघटनकारी कार्य भी करती हैं।

(2) प्रकार्यात्मक सार्वभौमिकता (Functional Universality)—मर्टन से पहिले के समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवशास्त्रियों का मानना था कि जहाँ-जहाँ मानव समाज है वहाँ-वहाँ सामाजिक इकाइयाँ कोई-न-कोई आवश्यकता की पूर्ति करती हैं। मैलिनोव्स्की जो कि कट्टर प्रकार्यवादी रहे हैं, उनका कहना है कि "प्रत्येक इकाई, प्रत्येक स्थान पर, कोई-न-कोई महत्त्वपूर्ण कार्य पूर्ण करती है।" इनका तो यह भी कहना है कि सामाजिक संरचना में केवल वे ही इकाइयाँ विद्यमान होती हैं जो सामाजिक व्यवस्था में किसी आवश्यकता की पूर्ति करती हैं।

मर्टन ने इस विशेषता का मूल्यांकन धर्म का उदाहरण देकर किया। मर्टन ने बताया कि धर्म अनेक दुष्कार्य करता है फिर भी वह सामाजिक संरचना में इकाई के रूप में विद्यमान है। हिन्दू समाज में जाति-प्रथा, बाल-विवाह, सती-प्रथा, अस्पृश्यता, वैधव्य, स्त्री-अशिक्षा आदि धर्म के कारण थे। पश्चिम के कई समाजों में धर्म परिवार-नियोजन के कई तरीकों तथा गर्भपात के विरुद्ध एक बाधा है।

(3) प्रकार्यात्मक अपरिहार्यता (Functional Indispensibility)—विभिन्न विद्वानों का यह मानना है कि सामाजिक संरचना में इकाइयाँ या उनके कार्य अपरिहार्य हैं तथा प्रकार्यों को संरचना से अलग नहीं किया जा सकता। परन्तु मर्टन ने विभिन्न विद्वानों के विचारों तथा लेखों

का अध्ययन किया तथा उसमे स्पष्ट रूप से यह नहीं पाया कि—(1) कार्य अपरिहार्य है, अथवा (2) इकाई अपरिहार्य है, अथवा (3) कार्य और इकाई दोनो अपरिहार्य हैं। किंग्सले डेविस और मूर ने धर्म को अपरिहार्य बताया, क्योंकि धर्म समाज मे सामाजिक नियन्त्रण का कार्य करता है। मर्टन का कहना है कि आधुनिक समाजों मे सामाजिक नियन्त्रण धर्म के बिना भी होता है।

मर्टन ने उपर्युक्त प्रकार्य की विशेषताओं का मूल्यांकन करने के बाद प्रकार्य के निम्नलिखित लक्षण और विशेषताएँ बताई हैं—

(4) **प्रकार्य, अकार्य और दुष्कार्य** (Function, Non Function and Dysfunction)—मर्टन का कहना है कि सामाजिक सरचना की इकाइयो के कार्यों को तीन प्रमुख भागो मे बाँट सकते हैं—(1) प्रकार्य, (2) अकार्य और (3) दुष्कार्य। सरचना की अधिकतर इकाइयाँ जब वे कार्य करती हैं जिससे सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने तथा समायोजन लाने मे सहायता मिलती है तो ये इकाइयाँ प्रकार्यात्मक कहलाती हैं। कुछ इकाइयाँ ऐसी होती हैं जो अध्ययन के अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था से किसी भी प्रकार से सम्बन्धित नहीं होती हैं। वे व्यवस्था को बनाए रखने मे या अव्यवस्था करने मे किसी प्रकार की भूमिका का निर्वाह नहीं करती हैं। यह उनका अकार्य कहलाता है। संरचना की कुछ इकाइयाँ सामाजिक व्यवस्था मे अव्यवस्था बढाने या अनुकूलन एवं समायोजन कम करने की भूमिका करती हैं। उनका विघटनकारी प्रभाव होता है, यह उनका दुष्कार्य कहलाता है।

(5) **प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कार्य** (Manifest and Latent Functions)—मर्टन ने सामाजिक सरचना की इकाइयो के प्रमुख कार्यों को दो उपकार्यों में बाँटा है—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष कार्य वे वस्तुनिष्ठ परिणाम हैं जो व्यवस्था मे समायोजन और अनुकूलन मे योगदान करते हैं तथा व्यवस्था में भाग लेने वालो द्वारा चाहे जाते हैं तथा मान्यता-प्राप्त हैं। ये प्रत्यक्ष कार्य संगठनात्मक या प्रकार्य तथा विघटनात्मक या दुष्कार्य के अन्तर्गत देखे जा सकते हैं।

अप्रत्यक्ष कार्य सामाजिक संरचना की इकाइयों के वे कार्य हैं जो न तो चाहे जाते हैं न ही मान्यता प्राप्त होते हैं। ये अप्रत्यक्ष कार्य संगठनात्मक या प्रकार्य तथा विघटनात्मक या दुष्कार्य के रूप में होते हैं। इन कार्यों को अग्रलिखित चार्ट द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।

(6) **अनुकूलनता तथा सामञ्जस्यता** (Adaptability and Adjustment)— प्रकार्य समाज मे अनुकूलनता तथा सामञ्जस्यता को बढ़ाते हैं। सामाजिक व्यवस्था की निरन्तरता तथा सन्तुलन के लिए आवश्यक है कि सामाजिक सरचना की इकाइयो मे अनुकूलनता तथा सामञ्जस्यता का गुण हो। इस गुण के अभाव मे इकाइयाँ अव्यवस्थित तथा असतुलित हो जाती हैं। इकाइयो, संस्थाओ, एजेन्सियो आदि मे यह गुण जब तक बना रहता है वे सरचना का अभिन्न अंग बनी रहती हैं।

(7) **समाज द्वारा स्वीकृत** (Accepted By the Society)—सामाजिक सरचना के तत्वों, इकाइयो, संस्थाओं, एजेन्सियों आदि के कार्य समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं। भिन्न-भिन्न समाजो में इकाइयाँ अलग अलग होती हैं तथा उनके कार्य समाज की आवश्यकता के अनुसार

तय किये जाते हैं। ये परिवर्तनशील भी होते हैं। जो कार्य समाज द्वारा स्वीकृत नहीं होते हैं उनको मर्टन ने अव्यक्त कार्य अथवा अप्रत्यक्ष कार्य कहा है।

(8) आवश्यकताओं की पूर्ति (Fulfil Needs)—मैलिनोव्स्की प्रकार्यों को इस विशेषता पर विशेष बल देते हैं। आपका कहना है कि प्रत्येक इकाई, हर स्थान पर, कोई-न-कोई महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। आपने यह भी लिखा है कि जो इकाई आवश्यकता की पूर्ति के लिए कार्य नहीं करती है, वह संरचना में बनी नहीं रह सकती। मैलिनोव्स्की, रेडक्लिफ-ब्राउन तथा क्लूखौन ने तो उद्विकासियों की इसी आधार पर कटु आलोचना की है कि समाज में कोई भी तत्त्व या अंग अवशेष नहीं होते हैं। उद्विकास सिद्धान्त में अवशेष एक प्रमाण के रूप में काम में लिए जाते हैं, प्रकार्यवादी ऐसा नहीं मानते हैं।

(9) प्रकार्यात्मक विकल्प (Functional Substitutes)—मर्टन का कहना है कि सामाजिक संरचना में अनेक इकाइयाँ होती हैं, उनके अनेक कार्य होते हैं, इससे सम्बन्धित हम दो प्रकार की विशेषताएँ और प्रकार्य पाते हैं। पहिला, तत्त्व एक और उसके कार्य अनेक तथा दूसरा, प्रकार्य एक और उसको पूर्ण करने वाले तत्त्व अनेक होते हैं। समाज की निश्चित आवश्यकता से सम्बन्धित प्रकार्य के अनेक विकल्प अथवा समकक्ष होते हैं। आदिम समाज में सामाजिक नियन्त्रण का प्रकार्य धर्म करता है। नगरीय या महानगरीय समाज में सामाजिक नियन्त्रण का प्रकार्य सरकार पुलिस, सेना, न्यायालय आदि के द्वारा सम्पन्न होता है, अर्थात् प्रकार्यों के अनेक विकल्प या समकक्ष होते हैं।

(10) अन्य विशेषताएँ (Other Characteristics)—प्रकार्य की कुछ और भी विशेषताएँ हैं, जैसे—सामाजिक संरचना में इकाइयाँ अनेक होती हैं, उनकी गणना करना कठिन है। इकाइयों के प्रकार्यों की गणना करना तो और भी असम्भव है। प्रकार्य एक समूह के लिए अधिक लाभदायक, कुछ के लिए कम लाभदायक तथा कुछ समूहों के लिए हानिकारक भी हो सकते हैं। प्रकार्य सामाजिक संरचना का निर्माण करने वाली इकाइयों से सम्बन्धित होते हैं। प्रकार्य समाज में श्रम के विभाजन को भी स्पष्ट तथा निश्चित करते हैं। प्रत्येक इकाई समाज के लिए निश्चित कार्य करती है। प्रकार्य प्रकट-अप्रकट, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, स्पष्ट-अस्पष्ट, ज्ञात और अज्ञात आदि रूपों में विद्यमान होते हैं। समाज की व्यवस्था, संगठन, निरन्तरता, सन्तुलन, विकास आदि संरचना की इकाइयों के प्रकार्यों पर निर्भर करते हैं। अगर इकाइयाँ प्रकार्य सम्पन्न नहीं करें तो समाज असंतुलित तथा अव्यवस्थित होकर नष्ट हो सकता है। इस प्रकार प्रकार्य सामाजिक व्यवस्था तथा संगठन के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं।

प्रकार्यवाद का इतिहास
(History of Functionalism)

पी. एस. कोहन ने प्रकार्यवाद के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि समाज के अध्ययन की प्रकार्यात्मक पद्धति का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना कि सामाजिक सिद्धान्त। कुछ इतिहासकार प्रकार्यवाद के आधुनिक सिद्धान्त का शुभारम्भ मोण्टेस्क्यू से मानते हैं, लेकिन आज इस सिद्धान्त का जो प्रभाव देखा जा रहा है उसका श्रेय सम्भवत: ऑगस्ट कॉम्ट को जाता है जिन्होंने समाजशास्त्रीय अन्वेषण के एक भाग—सामाजिक स्थैतिक—का अध्ययन निश्चित किया।

ऑगस्ट कॉम्ट (August Comte) का सामाजिक स्थैतिक से तात्पर्य सामाजिक घटनाओ के सह-अस्तित्व का अध्ययन करना है। आपके अनुसार इसके अन्तर्गत समाज की उन वृहद् संस्थाओ तथा संस्थात्मक जटिलताओं का अध्ययन किया जाता है जिनको सामाजिक विश्लेषण की वृहद् इकाई माना जाता है। कॉम्ट के शब्दो मे, "स्थैतिक समाज मे विभिन्न भागों की परस्पर क्रिया तथा प्रतिक्रिया की खोज से सम्बन्धित है।" आपने ही समाजशास्त्र म 'सरचनात्मक प्रकार्यात्मक' उपागम की ओर ध्यान आकर्षित किया तथा एक नई दिशा प्रदान की। आपका कहना है कि समाज की सभी संस्थाएँ—विश्वास और नैतिकता पूर्ण रूप मे परस्पर सम्बन्धित हैं। किसी भी एक भाग का पूर्ण समाज मे बने रहने की व्याख्या करना इस पद्धति का उद्देश्य है। इस पद्धति के द्वारा ऐसे सिद्धान्त अथवा नियम की खोज करना है जो यह स्पष्ट करे कि सरचना की एक इकाई तथा अन्य सभी इकाइयाँ किसी एक विशिष्ट इकाई को कैसे प्रभावित करती हैं और प्रभावित होती हैं तथा समाज का अस्तित्व किस प्रकार से बना रहता है। प्रकार्यात्मक पद्धति मे इकाई का पूर्ण से, पूर्ण का इकाई से तथा इकाइयो के परस्पर अन्त:सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है।

हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer)—ऑगस्ट कॉम्ट के बाद स्पेन्सर ने समाज के अध्ययन के प्रकार्यवाद मे कुछ और नया जोड़ा। आपने समाज तथा जीव की प्रक्रियाओ मे प्रकार्यात्मक समरूपता एव समानताओ पर प्रकाश डाला। स्पेन्सर ने पहिले जीव की मौलिक विशेषताओं—शरीर संरचना, निर्माण, अगो की परस्पर निर्भरता, कार्य आदि का वर्णन किया तथा उन्हीं आधारों पर समाज का विश्लेषण किया जो प्रकार्यवाद के विकास मे सहायक सिद्ध हुआ। शरीर सरचना का निर्माण कई अगो के परस्पर मिलने से होता है। प्रत्येक अग शरीर मे विशिष्ट कार्य करता है। इनके कार्य परस्पर अव्यवस्थित और असगठित होते हैं जो शरीर को व्यवस्थित, सन्तुलित एवं सगठित रखते हैं। स्पेन्सर की मान्यता है कि जिस प्रकार से जीव-जगत मे शरीर सरचना और उसके विभिन्न अग सरल से जटिल रूप में, समानता से भिन्नता तथा निम्न विभेदीकरण से जटिल-विभेदीकरण के क्रम मे विकसित हुए हैं उसी प्रकार से सामाजिक व्यवस्था में भी हुआ है। आप समाज को भी जीव की तरह से एक अखण्ड व्यवस्था मानते हैं। आपका कहना है कि समाज का निर्माण जीवो की भाँति विभिन्न इकाइयो से हुआ है। ये विभिन्न इकाइयाँ सामाजिक सरचना मे परस्पर एक-दूसरे से सगठनात्मक रूप से सम्बन्धित होती हैं। प्रत्येक इकाई समाज मे एक विशिष्ट कार्य करती है। विभिन्न इकाइयों द्वारा किए गए कार्यों से ही समाज सुचारु रूप से व्यवस्थित रहता है। आपकी मान्यता है कि जिस सरचना में एक प्रकार के अथवा समरूप तत्त्व होते हैं उसमे सभी तत्त्व प्राय: आत्मनिर्भर होते हैं। लेकिन जहाँ पर तत्त्व भिन्न-भिन्न सरचना वाले होते हैं या सरचना में आन्तरिक विभेदीकरण अधिक होता है वहाँ पर तत्त्वो मे अधिक मात्रा मे पारस्परिक निर्भरता होती है। स्पेन्सर ने तर्क दिया कि सरचना मे अधिक मात्रा में विभेदीकरण का उद्देश्य पूर्ण मे अधिक मात्रा मे एकीकरण पैदा करना होता है तथा उसमें आन्तरिक असन्तुलन कम होता है और वह अपने अस्तित्व को बनाए रखने मे अधिक सक्षम होता है क्योकि ऐसी सरचना मे अनुकूलन करने का गुण भी अधिक होता है। आपके इन प्रकार्यात्मक उपागम, सिद्धान्त और पद्धति से सम्बन्धित विचारो का प्रभाव दुर्खीम पर पडा।

इमाइल दुर्खीम (Emile Durkheim)—अत्याधुनिक प्रकार्यवाद स्पेन्सर की तुलना में दुर्खीम का अधिक ऋणी है। स्पेन्सर की भाँति दुर्खीम भी अपने प्रारम्भिक लेखों में जैविकीय विचारधारा से बहुत अधिक प्रभावित रहे। आपके प्रारम्भिक विचार स्पेन्सर से सीधे प्रभावित हुए थे। दुर्खीम ने अपनी वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति 'द रूल्स ऑफ सोशियोलॉजी मेथड्स' और लेखों में प्रस्तुत की है। आपने इस सिद्धान्त को समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवशास्त्रियों के लिए आकर्षक बनाने में सहयोग किया था। दुर्खीम ने अपनी श्रम-विभाजन की पुस्तक के द्वितीय अध्याय में श्रम के विभाजन के प्रकार्य और उसके कारणों में स्पष्ट अन्तर किया है। श्रम के विभाजन का प्रकार्य समाज का एकीकरण अथवा पुनः एकीकरण करना है। श्रम के विभाजन का कारण नैतिक सघनता का बढ़ना है। नैतिक सघनता जनसंख्या के दबाव के फलस्वरूप बढ़ती है। आपने इस सम्बन्ध में निम्न तर्क प्रस्तुत किए हैं—

(i) जहाँ पर जनसंख्या का दबाव बढ़ेगा और सामाजिक अन्तःक्रिया बढ़ेगी वहाँ पर सरल खण्डात्मक समाज द्वारा निर्मित नियन्त्रण टूट जाएँगे तथा प्रतिस्पर्धा में वृद्धि होगी जो सामाजिक व्यवस्था के लिए खतरा बन जाएगी।

(ii) इस बढ़ी हुई प्रतिस्पर्धा और विरोध को घटाने अथवा नियन्त्रित करने के लिए विशेषीकृत प्रकार्यों को अपनाया जाता है जो व्यक्तियों को एक-दूसरे पर अधिक आश्रित बना देता है। इस प्रकार से पारस्परिक उत्तरदायित्व की नैतिकता को अपनाने की स्थिति आ जाती है। आपने जो प्रकार्य बताया वह यह है कि जनसंख्या के दबाव के बढ़ने से श्रम का विभाजन बढ़ता है जो विशेषीकरण में वृद्धि करता है और अन्तः पारस्परिक अन्योन्याश्रितता बढ़ती है जिसके कारण समाज के सदस्यों को सहयोग करना पड़ता है और इससे विरोध और प्रतिस्पर्धा घटती है तथा समाज में व्यवस्था स्थापित हो जाती है। आपने धर्म के अध्ययन में भी यही स्थापित किया है कि धर्म का प्रकार्य समाज में एकता स्थापित करना है।

दुर्खीम के समय तक सामाजिक विज्ञानों—विशेष रूप से समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र—में प्रकार्यवाद स्थापित नहीं हुआ था परन्तु इसके विकास पर आपके विचारों का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा था।

प्रकार्यवाद की स्थापना
(Establishment of Functionalism)

आधुनिक प्रकार्यवाद के नाम से किसी भी अग्रज ने अपने को सम्बोधित नहीं किया। प्रकार्यात्मक पद्धति या प्रकार्यवाद की स्थापना एवं स्पष्ट सिद्धान्त का निर्माण ब्रोनिस्ला मैलिनोव्स्की और रेडक्लिफ-ब्राउन ने किया है। कोहन के अनुसार मैलिनोव्स्की का प्रभाव रेडक्लिफ-ब्राउन की तुलना में कुछ अर्थों में कम रहा। प्रकार्यात्मक अध्ययन पद्धति का विकास सामाजिक मानवशास्त्र में मैलिनोव्स्की और रेडक्लिफ-ब्राउन ने आदिम समाजों के अध्ययन के सन्दर्भ में किया। यह पद्धति सामाजिक मानवशास्त्र में ऐतिहासिक, तुलनात्मक और प्रसारवादी पद्धति की आलोचना के फलस्वरूप विकसित होकर पुनः समाजशास्त्र में आई। समाजशास्त्र में इस पद्धति को मर्टन ने पुनः परिष्कृत किया। इस पद्धति को समझने के लिए आवश्यक है कि इन विद्वानों के योगदान का अध्ययन किया जाए, जो निम्न प्रकार से है—

मैलिनोव्स्की का योगदान (Contribution of Malinowski)

मैलिनोव्स्की ने प्रकार्यात्मक पद्धति का विकास 1914 मे मलेनेशिया जनजातियों का अध्ययन करके किया। आपने इस पद्धति एव सिद्धान्त की रचना *'आग्रोनाउट्स ऑफ दा वेस्टर्न पेसिफिक'* (Agronauts of the Western Pacific), *'दा फेमिली ऑफ दा आस्ट्रियन एबॉरिजन्स'* (The Family of the Austrians Aborigines) एव *'ए साइन्टिफिक थ्योरी ऑफ कलचर'* (A Scientific Theory of Culture) आदि मे की है। आपने सास्कृतिक व्यवस्था के उद्विकासीय एवं तुलनात्मक अध्ययन पद्धतियो की आलोचना की तथा प्रकार्यात्मक पद्धति के द्वारा इसका अध्ययन एव व्याख्या की। आपकी मान्यता है कि मानव ने अपनी सात आधारभूत आवश्यकताओ—शरीर पोषण, प्रजनन, शारीरिक आराम, सुरक्षा, गति, वृद्धि तथा स्वास्थ्य की पूर्ति के लिए सस्कृति के विभिन्न तत्त्वो का निर्माण किया। आपने सस्कृति के तत्त्वो के प्रकार्यों पर विशेष जोर दिया है। इसीलिए आप प्रकार्यवादी पद्धति के पर्याय रूप मे जाने जाते हैं। आपका कहना है कि सस्कृति के सभी तत्त्व मानव की किसी-न-किसी आवश्यकता की पूर्ति करते हैं और इसीलिए वो सस्कृति मे विद्यमान हैं। आपके ही शब्दो मे, " प्रत्येक प्रकार की सभ्यता म प्रत्येक प्रथा, भौतिक वस्तु, विचार एव विश्वास कोई न कोई महत्त्वपूर्ण कार्य पूर्ण करते हैं।" आपके अनुसार संस्कृति की विभिन्न इकाइयो मे सगठन तथा प्रकार्यात्मक एकता होती है। इसका कारण इन इकाइयों के द्वारा मानव के शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक अस्तित्व को बनाये रखना है। ऐसा विभिन्न इकाइयाँ आवश्यकताओ की पूर्ति करके करती हैं। मैलिनोव्स्की की मान्यता है कि संस्कृति के तत्त्वो की प्रकार्यात्मक एकता और अपरिहार्यता का गुण सार्वभौमिक होता है। प्रत्येक इकाई या तत्त्व को संस्कृति की सरचना अथवा प्रतिमान से अलग नहीं किया जा सकता है क्योंकि वह कोई-न-कोई महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। अत: पूर्ण का अविभाज्य अग होता है। संस्कृति की ये इकाइयाँ या तत्त्व—धर्म, विवाह, परिवार, नातेदारी, आर्थिक एव राजनैतिक सस्थाएँ, प्रथाएँ, विश्वास, विचार, वस्तु आदि होती हैं। सस्कृति के तत्त्व या विभिन्न इकाइयो की प्रकार्यात्मक एकता, सार्वभौमिक प्रकार्यवाद और अपरिहार्यता सस्कृति का निर्माण करती है, जिसका अध्ययन प्रकार्यात्मक पद्धति के द्वारा ही किया जा सकता है।

रेडक्लिफ-ब्राउन का योगदान Contribution of Radcliffe-Brown)—रेडक्लिफ-ब्राउन ने प्रकार्यात्मक पद्धति के विकास में अपना योगदान 1906 मे अण्डमान द्वीपवासियो के अध्ययन, विभिन्न लेखो और अध्ययनों के द्वारा किया जो *'स्ट्रक्चर एण्ड फक्शन इन प्रिमिटिव सोसायटी'* आदि में प्रकाशित हुए हैं। आपने प्रकार्यात्मक पद्धति के अनेक सप्रत्ययो की व्याख्या की है, इसके अभ्युपगम निश्चित किए हैं। आपने समाज को जीव तुल्य माना है। सामाजिक जीवन, व्यवस्था और संरचना की जीव से तुलना की है। आपकी मान्यता है कि जिस प्रकार से जीव के विभिन्न अंगो में एकता होती है उसी प्रकार से सामाजिक सरचना की प्रत्येक इकाई तथा तत्त्व मे भी एकता होती है। आपने कहा है, "अगर प्रकार्यवाद का कोई भी अर्थ है, तो वह यह अवश्य है कि यह व्यक्तियो के सामाजिक जीवन को एक पूर्णता के रूप मे और प्रकार्यात्मक एकता के रूप में देखने का प्रयास करता है।" आपने प्रकार्य की निम्न परिभाषा दी है, "प्रकार्य विशिष्ट

क्रिया का वह योगदान है जो कि वह उस सम्पूर्ण क्रिया में करती है जिसका वह एक अंग है।" आपने आगे लिखा—"कार्य किसी भी सामाजिक-प्रथा का वह योग है, जो अपनी क्रिया द्वारा सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को देता है।" अर्थात् संरचनात्मक निरन्तरता को बनाये रखने में योग देना ही इसका कार्य है।

रेडक्लिफ-ब्राउन ने समाज को एक 'कार्यात्मक एकता' माना है जिसके प्रत्येक भाग का दूसरे भाग से सम्बन्ध है और उनमें परस्पर आश्रितता है, इसलिए प्रत्येक अंग का विश्लेषण सम्पूर्ण समाज की कार्यात्मक एकता के ही सन्दर्भ में किया जा सकता है, ऐसा रेडक्लिफ-ब्राउन का मानना है।

रेडक्लिफ-ब्राउन के अनुसार प्रकार्यात्मक पद्धति का अर्थ एक संस्कृति अथवा समाज की पूर्णता है जिसके विभिन्न भाग एक प्रकार्यात्मक एकता में एक-दूसरे से, और पूर्णता से परस्पर सम्बन्धित होते हैं।

रेडक्लिफ-ब्राउन ने इस पूर्णता को समाज और जीवन की तुलना करके और स्पष्ट किया है। जिस प्रकार किसी जीव के शरीर के भागों में परस्पर प्रकार्यात्मक एकता होती है उसी प्रकार समाज अथवा संस्कृति में भी एक संगठित व्यवस्था होती है और सभी समाजों या संस्कृतियों के कुछ सामान्य प्रकार्यों के नियम होते हैं जो उनको नियन्त्रित व व्यवस्थित रखते हैं। इन्हीं प्रकार्यों के नियमों को ज्ञात करना—प्रकार्यात्मक पद्धति का मुख्य उद्देश्य है, जिससे कि समाज या संस्कृति के किसी भी तत्त्व का विश्लेषण किया जा सके।

रेडक्लिफ-ब्राउन ने प्रकार्यात्मक पद्धति की तुलना प्राकृतिक विज्ञानों से की है और इस तथ्य पर जोर दिया है कि जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञानों में तार्किक और वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार प्रकार्यात्मक पद्धति भी तार्किक-पद्धति का प्रयोग करती है और उन्हीं के आधार पर सामान्य नियमों को ज्ञात करती है और उनका परीक्षण करती है।

रेडक्लिफ-ब्राउन ने जीवशास्त्र और मानवशास्त्र की तुलना करते हुए कहा है— मानव समाज, सामाजिक जीवन अथवा संस्कृति की प्रकृति का अनुसन्धान करते समय हमारे समक्ष तीन प्रकार की समस्याएँ—जीव शास्त्र के समान ही उपस्थित होती हैं—

(1) सामाजिक संरचनाशास्त्र (Social Morphology)—समाज व संस्कृति में किस प्रकार की सामाजिक संरचनाएँ पाई जाती हैं, उनमें क्या समानताएँ हैं व भिन्नताएँ हैं, उन्हें किस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है?

(2) सामाजिक दैहिकी (Social Physiology)—सामाजिक संरचनाएँ किस प्रकार कार्य करती हैं?, और

(3) सामाजिक विकास की समस्याएँ (Problems of Social Development)—सामाजिक संरचना नये स्वरूपों में किस प्रकार से अस्तित्व में आती हैं?

अर्थात् यह कहा जा सकता है कि समाज या संस्कृति के तत्त्वों का अध्ययन केवल उनके प्रकार्यों और प्रकार्यात्मक एकता के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है।

और आर्थिक कुशलता को संस्कृति के लिए कार्य करते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से ये प्रत्येक व्यक्ति को जैविक और मानसिक कल्याण को पूर्ण करते हैं। इस प्रकार से मैलिनोव्स्की व्यक्ति के लिए सांस्कृतिक इकाइयों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

मर्टन ने क्लूखौन के विचारों को उद्धरित करते हुए लिखा है कि क्लूखौन भी इस विचार के हैं कि सांस्कृतिक स्वरूप समाज के सदस्यों का व्यवस्थान और अनुकूलन का कार्य करते हैं।

मर्टन लिखते हैं कि प्रकार्यात्मक एकता की अवधारणा का आनुभविक परीक्षण किया जा सकता है। एकीकरण की मात्रा आनुभाविक चर है, जो एक ही समाज में समय-समय पर परिवर्तित होती रहती है। सभी समाजों में कुछ मात्रा में एकीकरण होना आवश्यक है, लेकिन सभी समाजों में उच्चतम मात्रा में एकीकरण नहीं होता है, चाहे उनमें सभी सांस्कृतिक मानक क्रियाएँ या विश्वास समाज के लिए प्रकार्यात्मक हों और पूर्ण रूप से उसके सदस्यों के लिए भी प्रकार्यात्मक हों। मर्टन ने स्पष्ट किया है कि रेडक्लिफ-ब्राउन ने मानव समाज और जीवों में प्रकार्यात्मक एकता को उपमा के रूप में माना और इसकी सत्यता की आगे खोज भी नहीं की जबकि जीवों में एकीकरण की मात्रा में बहुत अधिक भिन्नता देखी जा सकती है। मर्टन ने सितारा मछली का उदाहरण दिया कि उसे अगर उल्टा रख दें तो उसके विभिन्न अंग भिन्न दिशाओं में कार्य करते हैं और वह सीधी अवस्था में नहीं आ पाती है। समुद्री एनीमोन अपने शिथिल एवं न्यून एकीकरण के कारण चट्टान से ज़ोर से चिपके हुए अपने पैर का हिस्सा छोड़कर आगे बढ़ जाता है और इससे जीव के गहरा घाव बन जाता है। मर्टन का कहना है कि अगर जीवों के अंगों में एकीकरण नहीं है (जहाँ से रेडक्लिफ-ब्राउन ने एकीकरण को उपमा के रूप में लिया है) तो जटिल सामाजिक व्यवस्था में इकाइयों की प्रकार्यात्मक एकता की कल्पना करना अवैज्ञानिक है।

मर्टन ने लिखा है कि मानव समाज में पूर्ण प्रकार्यात्मक एकता की मान्यता तथ्यों से विपरीत है। एक ही समाज में सामाजिक लोकाचार या मनोवृत्ति कुछ समूहों के लिए प्रकार्यात्मक हो सकती है और अन्यों के लिए दुष्कार्यात्मक। बेटरान ने लिखा है कि कुछ परिवारों में स्वाभिमान की वृद्धि से छोटे स्थानीय समुदायों की सुदृढ़ता बिगड़ जाती है। तथ्यों के आधार पर प्रकार्यात्मक एकता का अभ्युपगम अक्सर विरोधी होता है तथा दिये हुए सामाजिक और सांस्कृतिक मद (लोकाचार, विश्वास, व्यवहार के प्रतिमान और संस्थाएँ) के प्रभाव विभिन्न सामाजिक समूहों और समूहों के अलग-अलग सदस्यों के लिए प्रकार्यात्मक और दुष्कार्यात्मक होते हैं।

धर्म की प्रकार्यात्मक व्याख्या (The Functional Interpretation of Religion)—मर्टन ने लिखा है कि किंग्स्ले डेविस, विल्बर्ट मूर, दुर्खीम आदि ने धर्म के कार्य संगठनात्मक बताये हैं। इन विद्वानों का ये निष्कर्ष है कि धर्म समाज में एकीकरण का कार्य करता है—निरक्षर समाजों के अवलोकन और अध्ययन पर आधारित है।

मर्टन ने लिखा है कि दुर्खीम का अध्ययन और निष्कर्ष भी अनपढ़ समाजों के अध्ययन पर आधारित है। इन लेखकों का ज़ोर धर्म के मात्र एक कार्य संगठनात्मक परिणाम पर रहा है और इन्होंने इसके सम्भावित विघटनकारी परिणामों जो कि कुछ सामाजिक संरचनाओं में मिलते हैं, की इन्होंने उपेक्षा की। मर्टन ने लिखा है कि एक ही समाज में विभिन्न धर्म वाले होते हैं तो उनमें अक्सर घोर संघर्ष होता है। अत: हम यह कैसे कह सकते हैं कि बहुधार्मिक समाजों में धर्म एकीकरण पैदा करता है। इतिहास में धार्मिक युद्धों का वर्णन देखा जा सकता है। निष्कर्ष यह

निकलती है कि समाज की इकाइयों और मदों के बहुआयामी परिणाम प्रकार्यात्मक और दुष्कार्यात्मक व्यक्तियों, उपसमूहों सामाजिक सरचना और सस्कृति से सम्बन्धित होते हैं।

(2) सार्वभौमिक प्रकार्यवाद का अभ्युपगम (Postulate of Universal Functionlism)—इस अभ्युपगम की यह मान्यता है कि सभी स्वीकृत सामाजिक या सास्कृतिक स्वरूप सकारात्मक एव सगठनात्मक कार्य करते हैं। मैलिनोव्स्की ने इस निम्न शब्दों में स्पष्ट किया है—

"सस्कृति का प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण इस सिद्धान्त पर जोर देता है कि प्रत्येक प्रकार की सभ्यता प्रत्येक प्रथा, भौतिक वस्तु, विचार एव विश्वास कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य पूर्ण करते हैं।"

क्लूखौन ने लिखा है, "मेरा मौलिक अभ्युपगम यह है कि कोई भी सस्कृति का स्वरूप तभी बना रहता है जब वो ऐसे प्रभाव निर्मित करता है जो किसी न किसी रूप में व्यवस्थापन या अनुकूलन वाले होते हैं।"

मर्टन ने लिखा है कि ये सार्वभौमिक प्रकार्यवाद कितना प्रमाणित है यह एक बार जाँच करने योग्य बात है। क्लूखौन ने तो अप्रकार्यात्मक मदों को भी प्रकार्यात्मक वर्णित कर दिया है, जो सही नहीं है। इसे क्लूखौन के निम्न उदाहरण में देख सकते हैं। क्लूखौन ने लिखा है कि "यूरोपवासियों के कोट की बाहों में लगे बटन कभी लोहे के दस्ताने पहनने के काम आते थे। जब तलवारों से युद्ध हुआ करते थे, लेकिन आज वो सामान्य रूप से इन बटनों को परम्परा और रूढ़ियों को अनुकरण करते हुए आज भी इन बटनों को लगवाते हैं और व्यवहार की निरन्तरता में सुख का अनुभव करते हैं।"

मर्टन ने क्लूखौन की इस व्याख्या की आलोचना करते हुए लिखा है कि यह सार्वभौमिक प्रकार्यवाद का अभ्युपगम अवशेषों के भयकर, व्यर्थ और विलम्बित वाद विवाद का ऐतिहासिक परिणाम है, जो बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के मानवशास्त्रियों की प्रतिक्रिया और क्रोध का परिणाम है। मानवशास्त्रियों ने उद्‌विकासीय सिद्धान्त के अभ्युपगम "अवशेष" के प्रति घोर प्रतिक्रिया एव क्रोध का परिणाम है जिसके आधार पर इन्होंने "सभी प्रथाओं (सभी स्थानों पर) कोई न-कोई महत्त्वपूर्ण कार्य पूर्ण करते हैं" धारणा व्यक्त की। मर्टन ने मत व्यक्त किया कि साक्षर समाजों के समाजशास्त्री अवशेषों के अध्ययन को बिना किसी हानि के छोड सकते हैं। लेकिन यह अध्ययन करना आवश्यक है और यह एक अध्ययन की समस्या भी है कि क्या सभी सास्कृतिक मद महत्त्वपूर्ण कार्य पूर्ण करते हैं? मर्टन ने स्पष्ट किया कि सामाजिक और सास्कृतिक मद प्रकार्यात्मक, अप्रकार्यात्मक और दुष्कार्यात्मक प्रभाव वाली प्रकृति के हो सकते हैं, जिसका अन्वेषण किया जाना चाहिए।

(3) अपरिहार्यता का अभ्युपगम (Postulate of Indispensability)— प्रकार्यात्मक सामाजिक वैज्ञानिकों में इन तीन में से अन्तिम अभ्युपगम जो कि बहुत प्रचलित है, कुछ बातों में बहुत ही अस्पष्ट है। जैसा कि यह अपरिहार्यता का अभ्युपगम मैलिनोव्स्की ने निम्न कथन में वर्णित किया है, उससे कुछ प्रश्न उठते हैं। आपका कहना है कि सभी प्रकार की सभ्यताओं में सभी प्रथाएँ, सभी वस्तुएँ, विचार और विश्वास कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य पूर्ण करते हैं कुछ कामों को पूर्ण करता है, प्रकार्यात्मक पूर्ण में वह अपरिहार्य अग का प्रतिनिधित्व करता है।

इस कथन से यह बिल्कुल स्पष्ट नहीं होता है कि मैलिनोव्स्की का तात्पर्य प्रकार्य की अपरिहार्यता से है अथवा मद (प्रथा, वस्तु, विचार, विश्वास) के कार्यों की पूर्णता से है अथवा दोनों ही अर्थों से आपका तात्पर्य है।

मर्टन ने टिप्पणी लिखी है कि साहित्य मे अस्पष्टता बहुत ही सामान्य है। किंग्स्ले डेविस और मूर के कथनों मे भी यह तथ्य स्पष्ट नहीं होता है कि इनका धर्म से तात्पर्य धर्म के समाज मे सम्पन्न किये गए प्रकार्यों की अपरिहार्यता मे है अथवा धर्म समाज के लिए अपरिहार्य है एवं धर्म के कार्य और धर्म दोनों ही अपरिहार्य हैं।

मर्टन ने संक्षिप्त मे अपरिहार्यता के अभ्युपगम की दो सामान्य प्रचलित व्याख्याएँ स्पष्ट की हैं—(1) कुछ कार्य ऐसे होते हैं, जो सबके लिए आवश्यक होते हैं, उनके पूर्ण नहीं होने पर समाज, समूह या व्यक्ति का अस्तित्व बना नहीं रहता है। इस अर्थ का तात्पर्य यह हुआ कि समाज, समूह या व्यक्ति के बने रहने के लिए कुछ प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएँ आवश्यक होती हैं। (2) कुछ सांस्कृतिक या सामाजिक स्वरूप निश्चित कार्यों को पूर्ण करते हैं और इसलिए संस्कृति या सामाजिक स्वरूप अपरिहार्य हैं। लेकिन मर्टन का कहना है कि इस अपरिहार्यता का अभ्युपगम भी अगर हम जाँच करे तो निम्नलिखित परिस्थितियाँ पाते हैं—(1) समाज के बने रहने के लिए अनेक कार्य होते हैं। (2) समाज में अनेक मद होते हैं। जो अनेक कार्य करते हैं। (3) समाज के निश्चित कार्य के लिए अनेक मदों के विकल्प होते हैं और एक मद अनेक कार्य सम्पन्न करने वाला होता है। निष्कर्षत: एक कार्य के लिए अनेक वैकल्पिक मद और एक मद के लिए अनेक वैकल्पिक कार्य होते हैं। मर्टन ने निष्कर्ष में कहा है कि प्रकार्यवादियों का अपरिहार्यता का अभ्युपगम या मान्यता अस्पष्ट, अपूर्ण और अवैज्ञानिक है। आपने इस अभ्युपगम की अपूर्णता का सुधार संस्थाओं, धर्मों या सामाजिक एवं सांस्कृतिक मदों के प्रकार्यों को निम्न में वर्गीकृत करके पूर्णता प्रदान की है—(1) प्रकार्य, (2) अकार्य, (3) दुष्कार्य। इन तीनों को आपने आगे उपवर्गीकरण प्रकट और अप्रकट कार्यों के रूप में किया है जिनका विवेचना पूर्व में प्रकार्य की अवधारणा की विशेषताओं के शीर्षक के अन्तर्गत इसी अध्याय में की गई है तथा मर्टन द्वारा "समाजशास्त्र में प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए एक रूपावली" के चरण तीन, चार, पाँच और सात में विस्तार से की गई है, जो निम्नलिखित है—

मर्टन : समाजशास्त्र में प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए एक रूपावली
(Merton : A Paradigm for Functional Analysis in Sociology)

मर्टन ने समाजशास्त्र में प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए एक रूपावली या पेराडिम (Paradigm) दिया है। प्रकार्यात्मक उपागम में जो केन्द्रीय अवधारणाएं और समस्याएं हैं उनको ध्यान में रखकर इस रूपावली का निर्माण किया गया है। यह रूपावली प्रकार्यात्मक विश्लेषण की प्रमुख आवश्यकताओं को पूर्ण करती है तथा प्रकार्यात्मक विश्लेषण की अवधारणाओं, कार्य-विधि और निष्कर्षों का प्रतिनिधित्व करती है। आपने इस रूपावली के निम्न 11 मद दिये हैं, जिनकी सहायता से समाजशास्त्र में किसी भी समस्या या अन्वेषण का कार्य क्रमबद्ध और व्यवस्थित रूप से सम्पन्न किया जा सकता है—
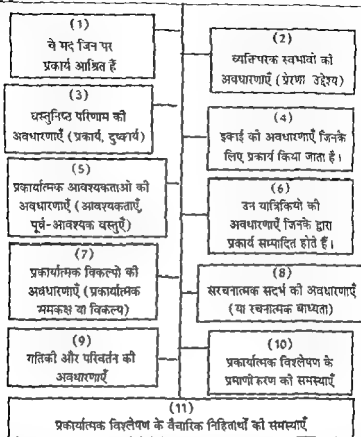
(1) वे मद जिन पर प्रकार्य आश्रित है (The Items to which Functions are Imputed)—सम्पूर्ण समाजशास्त्रीय सामग्री एवं आँकड़े प्रकार्यात्मक विश्लेषण के योग्य हैं। आधारभूत शर्त ये है कि विश्लेषण की वस्तु मान्य मदों का प्रतिनिधित्व करती हो जैसे सामाजिक भूमिका, संस्थागत प्रतिमान, सामाजिक प्रक्रियाएँ, सांस्कृतिक संवेगों के प्रतिमान सांस्कृतिक प्रतिमान, सामाजिक मानक, समूह संगठन, सामाजिक संरचना, सामाजिक नियंत्रण के उपकरण आदि।

मौलिक वाद-विषय (Basic Query)—अगर मद व्यवस्थित प्रकार्यात्मक विश्लेषण के योग्य है तो उसके कौनसे अंश अवलोकन के प्रारूप में लिए जाएँगे।

(2) व्यक्तिपरक, प्रवृत्तियों की अवधारणाएँ (प्रेरणा, उद्देश्य) [Concepts of Subjective Dispositions (Motives, Purposes)]—सामान्यतया प्रकार्यात्मक विश्लेषण

एक निश्चित सीमा पर सामाजिक व्यवस्था के व्यक्तियों की प्रेरणाओं की अवधारणाओं को मानकर चलता है या क्रियाशील रहता है। ये विषयपरक प्रवृत्तियाँ अक्सर और गलत तरीके से सम्बन्धित लेकिन भिन्न वस्तुपरक प्रवृत्ति, विश्वास और व्यवहारों की अवधारणाओं के परिणामों में विलीन हो जाती है। इस प्रकार के विलय की विवेचना मर्टन ने आगे के बिन्दुओं में की है।

मौलिक समस्या (Basic Problems)—किस प्रकार के विश्लेषण में यह सन्तोषजनक रहेगा कि अवलोकित प्रेरणाओं को सामग्री के रूप में लिया जाए और किस स्थिति में उन्हें समस्यात्मक माना जाए?

(3) वस्तुनिष्ठ परिणामों की अवधारणाएँ (प्रकार्य, दुष्कार्य) [Concepts of Objective Consequences (Functions Dysfunctions)]—हमने दो प्रकार के प्रचलित भ्रमों का देखा है जिसमें "प्रकार्य" की अनेक सामयिक अवधारणाएँ विद्यमान हैं—

1 समाजशास्त्रीय मद जिस सामाजिक या सांस्कृतिक व्यवस्था में विद्यमान होते हैं, उनमें मात्र सकारात्मक योगदान देते हैं, उनका ही समाजशास्त्रीय अवलोकन करने की प्रवृत्ति या झुकाव की सीमितता का होना, और

यह प्रवृत्ति जिस सामाजिक या सांस्कृतिक व्यवस्था में विद्यमान होती हैं, उसमें सकारात्मक योगदान देते हैं, उनका ही मात्र समाजशास्त्रीय अवलोकन करना, और

2 प्रेरणा को व्यक्तिपरक वर्गों और कार्यों के वस्तुपरक वर्गों के मध्य भ्रान्ति की प्रवृत्ति का होना।

इन उपरोक्त भ्रान्तियों को दूर करने के लिए मर्टन ने निम्न अवधारणाओं के द्वारा अन्तर स्पष्ट किया है।

(i) प्रथम समस्या (First Problem)—प्रथम समस्या में बहु-परिणाम और परिणामों के योग के सुनिश्चित फल आते हैं।

प्रकार्य (Function)—प्रकार्य वे अवलोकित परिणाम हैं जो दी हुई व्यवस्था में अनुकूलन और व्यवस्थापन करते हैं।

दुष्कार्य (Dysfunctions)—दुष्कार्य वे अवलोकित परिणाम हैं जो दी हुई व्यवस्था में अनुकूलन और व्यवस्थापन को कम करते हैं।

अकार्यात्मक (Non-Functional)—अकार्यात्मक की भी अनुभाविक सम्भावना हो सकती है जो कि अध्ययन की जा रही व्यवस्था से असम्बन्धित होते हैं।

किसी भी व्यवस्था के उदाहरण में मद के प्रकार्यात्मक और दुष्कार्यात्मक दोनों ही प्रकार के परिणाम देखे जा सकते हैं जो एक कठिन परिस्थिति पैदा कर देते हैं कि उनके अध्ययन और मूल्यांकन के लिए नियम बनाए जाएँ।

(ii) द्वितीय समस्या (Second Problem)—द्वितीय समस्या का उदय का कारण प्रेरणा और कार्यों के बीच भ्रान्ति का होना है जिसके लिए आवश्यक है कि हम ऐसी अवधारणाएँ बनाएँ जो व्यक्तिपरक के उद्देश्य का वस्तुपरक परिणाम के संयोग को तथा उन स्थितियों को जहाँ उनमें

अपसरण होता है का उचित मूल्यांकन करने में सहायक हो। मर्टन ने निम्न अवधारणाओं के द्वारा इस समस्या का हल प्रदान किया है।

प्रकट प्रकार्य (Manifest Functions)—प्रकट प्रकार्य वे वस्तुनिष्ठ परिणाम हैं जो व्यवस्था में अनुकूलन और व्यवस्थापन में योगदान करते हैं और वे व्यवस्था के सहभागियों द्वारा चाहे जाते हैं तथा मान्य होते हैं।

अप्रकट प्रकार्य (Latent Functions)—अप्रकट प्रकार्य सहसम्बन्धी रूप से वे प्रकार्य होते हैं जो न तो इच्छित होते हैं और न ही मान्य।

क्रिया के अनचाहे परिणाम (Unintended Consequences of Action)—क्रिया के अनचाहे परिणाम निम्न तीन प्रकार के होते हैं—

(1) वे प्रकार्य जो निर्दिष्ट व्यवस्था के लिए प्रकार्यात्मक हैं और वे अप्रकट की श्रेणी के होते हैं

(2) वे कार्य जो निर्दिष्ट व्यवस्था के लिए दुष्कार्यात्मक होते हैं और वे अप्रकट दुष्कार्य की श्रेणी के होते हैं, तथा

(3) वे कार्य जो निर्दिष्ट व्यवस्था से सम्बन्धित नहीं होते हैं। न तो वे प्रकार्यात्मक होते हैं और न ही दुष्कार्यात्मक, जैसे सर्दी के मौसम में खराब बिजली का पंखा।

मौलिक प्रश्न (Basic Query)—पूर्व में अप्रकट प्रकार्य के प्रकट प्रकार्य में परिवर्तित होने के क्या प्रभाव हैं?

(4) इकाई की अवधारणाएँ जिनके लिए प्रकार्य किया जाता है (Concepts of the Unit Sub-served by the Function)—मर्टन ने लिखा है कि मद जहाँ समाज में कुछ लोगों और उपसमूहों के लिए प्रकार्यात्मक हो सकता है वहीं दूसरों के लिए दुष्कार्यात्मक हो सकते हैं, इसलिए यह आवश्यक है कि हम मद को देखें कि वह किस सीमा तक इकाइयों के लिए किस प्रकार के परिणाम देता है। इकाइयों की सीमा में भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के व्यक्ति, उपसमूह, विस्तृत सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक व्यवस्थाएँ होती हैं। इनके अन्तर्गत शब्दावली के अनुसार मनोवैज्ञानिक कार्य, समूह सम्बन्धी कार्य, सामाजिक कार्य, सांस्कृतिक कार्य आदि की अवधारणाएँ आती हैं, जिनसे सम्बन्धित मदों के कार्यों का विश्लेषण करना चाहिए।

(5) प्रकार्यात्मक आवश्यकताओं की अवधारणाएँ (आवश्यकताएँ, पूर्व आवश्यक वस्तुएँ) (Concepts of Functional Requirements (*Needs, Pre requisites*))—सभी समाजों की मौलिक प्रकार्यात्मक आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए समाज में अनेक इकाइयाँ होती हैं जो आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखती हैं। मैलिनोव्स्की के अनुसार ये आवश्यकताएँ जैविक और सामाजिक होती हैं। इन आवश्यकताओं को सार्वभौमिक बनाम विशिष्ट में वर्गीकृत करके प्रकार्यात्मक विश्लेषण करते हैं तथा आवश्यकताओं की मान्यताओं की प्रमाणिकता का भी अध्ययन किया जाता है।

मौलिक समस्या (Basic Query)—परिस्थितियाँ जिनमे गहन परीक्षण अव्यवहारिक हैं, उनमे विभिन्न मदों या चरो की प्रकार्यात्मक आवश्यकता की प्रमाणिकता को स्थापित करने के लिए क्या अपेक्षित होगा?

(6) उन यांत्रिकियों की अवधारणाएँ जिनके द्वारा प्रकार्य सम्पादित होते है (Concepts of the Mechanisms Through which Functions are Fulfilled)— शरीर क्रिया-विज्ञान ओर मनोविज्ञान की तरह समाजशास्त्र मे भी प्रकार्यात्मक विश्लेषण करने के लिए एक ठोस और विस्तृत कार्य-विधि की आवश्यकता पड़ती है, जिसके द्वारा समाज मे निहित कार्य सम्पन्न किए जाते हैं। इसमे सामाजिक यांत्रिकियों, जैसे— सामाजिक श्रम का विभाजन, भूमिका-खण्डीकरण, मूल्यों की विस्तृत व्यवस्था, कर्मकाण्ड आदि होती हैं जो समाज की आवश्यकताओ को पूर्ण करती हैं।

मौलिक समस्या (Basic Query)—वर्तमान मे कौनसी सामाजिक यांत्रिकी की वस्तुसूची (Inventory) उपलब्ध है? कौनसी वैज्ञानिक अध्ययन-विधि की समस्याएँ हैं, जो सामाजिक कार्य-विधि में आती हैं?

(7) प्रकार्यात्मक विकल्पों की अवधारणाएँ (प्रकार्यात्मक समकक्ष या विकल्प) [Concepts of Functional Alternatives (Functional Equivalents or Subsitiutes)]—जैसा कि हमने देखा है कि एक बार जब हम किसी विशिष्ट सामाजिक संरचना की अनुग्राहक, अपरिहार्य प्रकार्यात्मक मान्यता को त्याग देते हैं, तब हमें तुरन्त प्रकार्यात्मक विकल्प समकक्ष की अवधारणा की आवश्यकता पड़ती है। संरचना में कोई एक मद कार्य पूरा करता है तो उस कार्य को पूरा करने के और भी अनेक मद के विकल्प भिन्नता के साथ उपलब्ध होते हैं, जो प्रकार्यात्मक आवश्यकता की पूर्ति कर सकते हैं। इन पर भी ध्यान देना चाहिए। हमें मदों के विभिन्न विकल्पों और समकक्षों को खोज निकालना चाहिए।

मौलिक समस्या (Basic Query)—क्योंकि कथित प्रकार्यात्मक विकल्प की वैज्ञानिक जाँच आदर्श रूप में कठोर परीक्षणों के द्वारा करना होता है और क्योंकि ऐसा करना बड़े स्तर की समाजशास्त्रीय परिस्थितियों में अक्सर व्यवहारिक नहीं होता है इसलिए वो कौनसी प्रायोगिक जाँच की विधियाँ हैं जो तार्किकता परीक्षण जैसी होंगी?

(8) संरचनात्मक संदर्भ की अवधारणाएँ (या संरचनात्मक बाध्यता) (Concepts of Structural Context (or Structural Constraint))—सामाजिक संरचना में जो मद दिये हुए कार्यों को पूर्ण करते हैं, उनका विस्तार और भिन्नता असीमित नहीं होती है। सामाजिक संरचना के तत्वों की अन्योन्याश्रितता प्रकार्यात्मक विकल्पों की सीमा निश्चित करती है।

मौलिक समस्या (Basic Query)—किस संकीर्णता से संरचनात्मक संदर्भ मद की विभिन्नता की सीमा को सीमित करता है, जो प्रभावपूर्ण रूप से प्रकार्यात्मक आवश्यकताओं को पूर्ण करता है? क्या हम निश्चित की जाने वाली परिस्थितियों मे से निरपेक्ष क्षेत्र को खोज सकते हैं, और क्या अनेक विकल्पों में से कोई भी एक विकल्प प्रकार्यों को पूर्ण कर सकता है?

(9) गतिकी और परिवर्तन की अवधारणाएँ (Concepts of Dynamics and Change)—मर्टन ने लिखा है, "हमने यह देखा है कि प्रकार्यात्मक विश्लेषकों का केन्द्रीय झुकाव सामाजिक संरचना की स्थैतिकी पर होता है और वो संरचनात्मक परिवर्तन के अध्ययन की उपेक्षा करते हैं।" यद्यपि स्थैतिकी पर जोर देना प्रकार्यात्मक विश्लेषण के सिद्धान्त मे अन्तर्निहित नहीं है। इसका प्रादुर्भाव प्रारम्भिक प्रकार्यात्मक मानवशास्त्रियों के अध्ययन से हुआ है। प्रारम्भ के मानवशास्त्री-प्रकार्यवादियों ने निरक्षर समाजो का अनुमान पर आधारित इतिहास लिखने वालो का घोर विरोध किया। अनुमान पर आधारित इतिहास मे अनेक कमियाँ थीं, जिसके प्रति विरोध प्रारम्भ में तो लाभकारी रहा लेकिन बाद मे यह विरोध चलता रहा जो कुछ प्रकार्यात्मक समाजशास्त्रियों के कार्यों मे हानिकारक रूप मे बना रहा। कोहन ने लिखा है—कि लोगों में यह भ्रान्ति है कि रेडक्लिफ-ब्राउन और मैलिनोव्स्की कट्टर प्रकार्यवादी गत्यात्मक या ऐतिहासिक अध्ययन के विरोधी हैं। ये दोनो मानवशास्त्री ऐतिहासिक गत्यात्मक परिवर्तन के अध्ययन के विरोधी नहीं हैं, इनका विरोध तो मात्र निरक्षर समाजो—(आदिम समाजो, आर्केटक समाजो, जनजातियो) के सम्बन्ध मे जो विकासवादियो ने अप्रमाणित तथ्यो के आधार पर अवैज्ञानिक इतिहास लिखा था, उसके विरोधी थे।

मर्टन ने स्पष्ट किया है कि प्रकार्यवाद सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन करने मे सक्षम है। आपने लिखा कि दुष्कार्य की अवधारणा मे तनाव, खिंचाव, दबाव, असन्तोष, क्षुब्धता, मजबूरी, बेबसी आदि संरचनात्मक स्तर पर अन्तर्निहित हैं जिनकी सहायता से परिवर्तन और गतिकी का अध्ययन किया जा सकता है। एक प्रकार से दुष्कार्य परिवर्तन के अध्ययन के लिए विश्लेषणात्मक उपागम प्रदान करता है। अवलोकित किये गए दुष्कार्य विशिष्ट सरचना की असन्तुलन की स्थिति को स्पष्ट करते हैं। अवलोकित किए गए विभिन्न तनाव, दबाव और खिंचाव सरचना मे परिवर्तन के लिए बाध्यता उत्पन्न करते हैं, जो तनाव और खिंचाव को कम करने के लिए दिशा प्रदान करते हैं। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि दुष्कार्य के अध्ययन के द्वारा प्रकार्यात्मक उपागम सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन करने में सक्षम है।

मौलिक तर्क-विषय (Basic Query)—क्या प्रकार्यात्मक विश्लेषकों का सामाजिक सन्तुलन की अवधारणा से सम्बन्ध जो होता है वह सामाजिक असन्तुलन की ओर ध्यान आकर्षित करता है? कौनसी उपलब्ध पद्धति सामाजिक व्यवस्था के तनाव और दबावो के सन्तुलन को नापने के लिए सन्तोषजनक है? किस सीमा तक सरचनात्मक संदर्भ का ज्ञान समाजशास्त्री को सामाजिक परिवर्तन की सम्भावित दिशा का अनुमान लगाने में सहायक है?

(10) प्रकार्यात्मक विश्लेषण के प्रमाणीकरण की समस्याएँ (Problems of Validation of Functional Analysis)—मर्टन ने निरन्तर रूपावली मे बार बार इस ओर ध्यान आकर्षित किया है कि किस प्रकार से रूपावली की मान्यताएँ, तत्व और अवलोकन प्रमाणित हो। आपने लिखा है कि समाजशास्त्री विश्लेषण की पद्धति में परीक्षण के तर्कों जैसी अनुशासित व्यवस्था होनी चाहिए। इसमे तुलनात्मक (अतःसास्कृतिक और अतःसमूह) विश्लेषण की सम्भावनाओ और सीमाओ की व्यवस्थित समीक्षा की आवश्यकता पडती है।

मौलिक विचारणीय विषय (Basic Query)—किस सीमा तक सन्तोषजनक सामाजिक व्यवस्था के निदर्शन की पहचान की समस्या प्रकार्यात्मक विश्लेषण की सीमा निश्चित करता है जिसके द्वारा तुलनात्मक अध्ययन (अर्द्ध परीक्षण) किया जा सकता है?

(11) प्रकार्यात्मक विश्लेषण के वैचारिक निहितार्थों की समस्याएँ (Problems of the Ideological Implications of Functional Analysis)—पूर्व में यह बार बार स्पष्ट किया गया है कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण का किसी भी वैचारिक सम्प्रदाय से सम्बन्ध नहीं है। लेकिन इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है कि विशिष्ट प्रकार्यात्मक विश्लेषण और विशिष्ट प्राक्कल्पना जो प्रकार्यवादी निर्मित करते हैं उनमें वैचारिक भूमिका नहीं होती है। इस प्रकार से यह समाजशास्त्र के ज्ञान में एक विशिष्ट समस्या बन जाती है। किस सीमा तक समाजशास्त्रीय प्रकार्यवादी की सामाजिक स्थिति एक न कि दूसरे का समस्या के निरूपण, उनकी मान्यताओं और अवधारणाओं एवं उनकी सामग्री में से निकाले गए निष्कर्षों के विस्तार की सीमा को प्रभावित करता है?

मौलिक विचारणीय विषय (Basic Query)—कोई भी किस प्रकार से प्रकार्यात्मक विश्लेषण में वैचारिक प्रभाव को ज्ञात करेगा एवं किस मात्रा तक कोई विशिष्ट विचारधारा समाजशास्त्री के द्वारा अपनाये गये आधारभूत मान्यताओं से प्रस्फुटित होते हैं? क्या इन मान्यताओं के प्रभाव समाजशास्त्री की प्रस्थिति और शोध की भूमिका से सम्बन्धित है?

रूपावली के प्रयोजन
(Purposes of the Paradigm)

मर्टन ने रूपावली के निम्नलिखित तीन महत्वपूर्ण प्रयोजनों का वर्णन किया है।
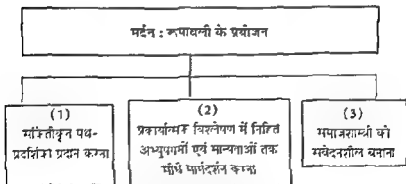
(1) संकेतीकृत पथ-प्रदर्शिका प्रदान करना (To Supply Codified Guide)—रूपावली का प्रथम और सर्वोपरि प्रयोजन उपयोगी एवं पूर्ण प्रकार्यात्मक विश्लेषणों के लिए कामचलाऊ संकेतीकृत (कोडीकृत) पथ-प्रदर्शिका प्रदान करना है। इस प्रयोजन से तात्पर्य है कि रूपावली में न्यूनतम अवधारणाओं के सेट होंगे जिसके द्वारा समाजशास्त्री को

विद्यमान विश्लेषणो के आलोचनात्मक अध्ययन के लिए भी पथ प्रदर्शिका के रूप मे प्रयुक्त कर सकता है। इस रूपावली का प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए अनुसन्धान की योजना तथा पूर्व के अनुसन्धानो के विशिष्ट योगदान एव कमियो को ज्ञात करने के लिए भी इसे एक पथ प्रदर्शिका के रूप मे प्रयुक्त कर सकते है। मर्टन ने यह भी लिखा है कि सीमा की सीमितता की स्थिति मे इस रूपावली के सीमित खण्डो का उपयोग करके चुने हुए विषयो का भी अध्ययन कर सकते है।

(2) प्रकार्यात्मक विश्लेषण मे निहित अभ्युपगमो एव मान्यताओ तक सीधे मार्गदर्शन करना (To Lead Directly to the Postulates and Assumptions Underline Functional Analysis)—मर्टन ने लिखा है कि रूपावली का दूसरा प्रयोजन प्रकार्यात्मक विश्लेषण मे निहित मान्यताओ और अभ्युपगमो का स्पष्ट करना है एव उनको ज्ञात करने के लिए पथ-प्रदर्शन करना है। आपने आगे लिखा जैसा कि हमने इस अध्याय के प्रारम्भ मे पाया था कि कुछ मान्यताएँ केन्द्रीय महत्त्व की हैं अन्य अहमत्त्वपूर्ण उपेक्षणीय एव परिहार्य हैं तथा कुछ अन्य अविश्वसनीय तथा गुमराह करने वाले हैं।

(3) समाजशास्त्री को सवेदनशील बनाना (To Sensetize the Sociologist)—मर्टन के अनुसार रूपावली का तीसरा प्रयोजन समाजशास्त्री को अनेक प्रकार के प्रकार्यात्मक विश्लेषणो के सकीर्ण वैज्ञानिक निहितार्थों के प्रति सवेदनशील बनाना है। इसके अतिरिक्त यह रूपावली उनके राजनैतिक और कभी कभी वैचारिक निहितार्थों के प्रति भी सवेदनशील बनाता है। आपके अनुसार यह रूपावली सामाजिक अभियात्रिकी से सम्बन्धित भी है।

निष्कर्ष मे आपने लिखा है कि रूपावली मे निहित समस्याओ को विस्तार से विवेचन करना यहाँ सम्भव नहीं हैं। इसके लिए तो एक सम्पूर्ण खण्ड चाहिए। यहाँ पर हम रूपावली के प्रथम भाग से ही सम्बन्धित हैं कि रूपावली का उपयोग समाजशास्त्र मे बहुत ही सीमित सख्या में विषयो का प्रकार्यात्मक विश्लेषण मे उपयोग कर सकते हैं एव समय समय पर इन कुछ विषयो का प्रयोग विशिष्ट समस्याओ (अपूर्ण रूप से वर्णित) के विवेचन मे आधार रूप मे प्रयुक्त किये जा सकेगे।

मर्टन के प्रकार्यात्मक विश्लेषण एवं रूपावली की आलोचना
(Criticism of Functional Analysis and Paradigm)

सोरोकिन एव किग्स्ले डेविस एव अन्य वैज्ञानिको ने मर्टन के प्रकार्यात्मक विश्लेषण से सम्बन्धित विचारो एवं रूपावली का आलोचनात्मक मूल्याकन किया है, जो निम्नलिखित है—

(1) किंग्स्ले डेविस ने 1959 मे कहा कि तीस वर्षों से अधिक समय से प्रकार्यात्मक विश्लेषण पर वाद-विवाद समाजशास्त्रियो और सामाजिक मानवशास्त्रियो के बीच होता रहा है। अब समय आ गया है कि इस वाद-विवाद "प्रकार्यात्मक विश्लेषण समाजशास्त्र मे एक

विशिष्ट उपागम है अथवा यह समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का पर्यायवाची है।" पर कोई समझौता कर लिया जाए अथवा इस विवाद को करना बन्द कर दिया जाये। किंग्स्ले डेविस ने कहा कि मर्टन ने प्रकार्यात्मक विश्लेषण की रूपावली में "*प्रकार्य, अकार्य, दुष्कार्य, प्रकट कार्य और* अप्रकट कार्य के आधार पर अध्ययन करने का सुझाव दिया है जो उचित है जिसे डेविस ने प्रकार्यात्मक विश्लेषण का चौथे अभ्युपगम के रूप में मान्यता प्रदान करने का सुझाव दिया है और लिखा कि समाजशास्त्र में प्रकार्यात्मक विश्लेषण को एक विशिष्ट उपागम न माना जाये, क्योंकि यह उपागम समाजशास्त्रीय उपागम का पर्याय है। अतः डेविस के अनुसार मर्टन द्वारा प्रकार्यात्मक विश्लेषण के सम्बन्ध में निकाले गये सभी निष्कर्ष, संशोधन, सुझाव, रूपावली का निर्माण आदि का प्रकार्यात्मक विश्लेषण के उपागम के रूप में विशिष्ट अस्तित्व नहीं है।

(2) सोरोकिन ने भी किंग्स्ले डेविस को उद्धरित करते हुए लिखा है कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण असत्य मान्यताओं पर आधारित है। इसलिए इस उपागम को त्याग देना चाहिए। प्रकार्यात्मक विश्लेषण विशिष्ट विधि या सिद्धान्त नहीं है जिसे समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र में विद्यमान अन्य विधियों और सिद्धान्तों से भिन्न किया जा सके।

(3) सोरोकिन के अनुसार मर्टन द्वारा वर्णित प्रकार्यवाद की विशिष्ट विशेषताएँ, अभ्युपगम, मान्यताएँ और तथ्य कुछ भी प्रकार्यवाद से सम्बन्धित नहीं है। जो भी कुछ इसको नवीन लक्षण हैं वो इसका व्यवस्थित, केन्द्रित, सावयवी एवं एक शताब्दी पूर्व के सामाजिक विचारों का ही नवीन नाम एवं पुनर्निर्माण है, के रूप में प्रस्तुतिकरण है। सोरोकिन ने लिखा है कि मर्टन के प्रकार्यवाद का सिद्धान्त का सबसे सशक्त बिन्दु वर्तमान के समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवशास्त्रियों के प्रमुख प्रकार्यात्मक विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण है। इनकी सभी आलोचनाएँ सारगर्भित हैं। सोरोकिन के अनुसार मर्टन की प्रकार्यवाद की अवधारणा का प्रमुख दोष कुछ आवश्यक लक्षणों का विरोधी होना है तथा स्वयं के द्वारा निश्चित, वैज्ञानिक प्रकार्यात्मक सिद्धान्त के नियमों का बार-बार उल्लंघन करना है। स्वयं के प्रकार्यवाद का स्वप्रयोजन एवं व्यक्तिपरक प्रकार्यवाद के लक्षणों का मूल्यांकन करना; रूपावली और संकेतीकरण का शंकायुक्त अन्वेषणात्मक प्रकृति का होना तथा घिसी-पिटी पुरानी थोथी बातों को वैज्ञानिक प्रस्तावकों के रूप में प्रस्तुत करना है।

(4) मर्टन के प्रकार्यवाद की उभयवादिता (विरोधी मूल्यों एवं गुणों) के दर्शन या उपस्थिति आपके द्वारा प्रकार्यात्मक सिद्धान्त के सम्बन्ध में दिये गये विरोधी कथनों में देख सकते हैं। जैसे एक ओर तो ये लिखते हैं कि, "प्रकार्यात्मक विश्लेषण न तो नवीन है और न ही सामाजिक विज्ञानों तक सीमित है" और दूसरी ओर लिखते हैं कि आज वैज्ञानिक समाजशास्त्र में यह एक उच्च प्रकार का नवीन उपागम है जिसके सम्बन्ध में कॉम्ट और स्पेन्सर ने जो कुछ थोड़ा-बहुत लिखा वह तर्कसंगत है।

मर्टन के इस उपरोक्त कथन पर सोरोकिन ने टिप्पणी करते हुए लिखा कि अगर प्रकार्यवाद न तो नवीन है और न ही सामाजिक विज्ञान तक सीमित है तब हम यह प्रश्न पूछ सकते हैं

कि इस अ नवीन सिद्धान्त को नवीन नाम "प्रकार्यवाद" दिया गया है तथा इसे समाजशास्त्र मे एक नवीन उपागम के रूप मे क्या देखा जाता है। अगर समाजशास्त्रीय विचारधारा मे यह एक नवीन धारा है तब मर्टन इसे क्यों पुरातन सिद्धान्त कहते हैं। इस प्रकार के विरोधी कथन, विचार, निष्कर्ष आदि मर्टन के प्रकार्यवाद के अन्य लक्षणो और बिन्दुओ मे भी मिलते हैं।

(5) सोरोकिन ने मर्टन के प्रकार्यवाद की एक कमी यह बताई कि वे इस अवधारणा को और इसके व्युत्पन्न शब्दो को अनेक भिन्न अर्थ प्रदान करते हैं जिनमे वे अर्थ भी हैं जिनको मर्टन ने प्रकार्यवाद के अन्य अवधारणाओ की स्थिति मे आलोचना की है। मर्टन के प्रकार्यवाद मे यह कठिनाई है कि आपने इसे और इससे व्युत्पन्न शब्दो को अनेक अर्थो मे उपयोग किया है। आपकी लिखित सामग्री मे प्रकार्यात्मक अवधारणा पर्यायपद या पुनरुक्त के रूप मे बार-बार सामने आती है। कहीं पर आपने इसे दी हुई व्यवस्था का अवशेष बताया है तो कहीं आपने यह माना है कि यह स्पष्ट रूप से उपयोगी है तो कहीं इसे अनुपयोगी बताया है जो आपकी सामग्री मे प्रकार्यात्मक और दुष्कार्यात्मक के रूप मे देखा जा सकता है। इस प्रकार से मर्टन ने प्रकार्यात्मक अवधारणा को अस्पष्ट और अनिर्णायक ही नहीं बना दिया, बल्कि स्वय द्वारा प्रकार्यात्मक व्याख्याओ के प्रकारो की आलोचनाओ मे विरोधाभास पैदा कर दिया है।

(6) स्वयं के द्वारा प्रकार्यात्मक सिद्धान्तो मे विषयपरक मूल्याकन के विरुद्ध दी गई चेतना के बावजूद स्वय ने प्रकार्य और दुष्कार्य की अवधारणाएँ देकर स्वय की प्रकार्यवाद की व्यवस्था व्यक्तिपरक मूल्याकन, स्वेच्छात्मक आदर्शवादिता एव फलसापेक्ष बना दी है। मर्टन ने लिखा है, "प्रकार्य वे अवलोकित परिणाम हैं जो दी हुई व्यवस्था मे अनुकूलन और व्यवस्थान करते हैं, एव दुष्कार्य वे अवलोकित परिणाम हैं, जो दी हुई व्यवस्था मे अनुकूलन और व्यवस्थान को कम करते हैं।" ये परिभाषाएँ मूल्याकनात्मक, वस्तुपरक और अनेकार्थक हैं। मर्टन द्वारा प्रकार्यवाद की अवधारणा का व्यक्तिपरक मूल्याकनात्मक लक्षण इसे पुनरुक्तिपूर्ण बना देता है।

(7) सोरोकिन ने लिखा है कि मर्टन भावुक हो गए और उन्होने प्रकार्यात्मक विश्लेषण के संकेतीकरण के लिए रूपावली का निर्माण किया तथा इसे आपने प्रकार्यात्मक उपागम का आधार बताया। मध्यमवृत्तीय सिद्धान्त भी कहा, लेकिन अगर आपकी रूपावली के पहले चरण को देखे जिसमें लिखा है, "वे मद जिन पर प्रकार्य आश्रित हैं : सम्पूर्ण समाजशास्त्रीय सामग्री एवं आँकड़े प्रकार्यात्मक विश्लेषण के योग्य हैं। आधारभूत शर्त ये हैं कि विश्लेषण की वस्तु मान्य मदो का प्रतिनिधित्व करती है, जैसे—सामाजिक भूमिका, संस्थागत प्रतिमान, सामाजिक प्रक्रियाएँ, सांस्कृतिक सवेगो के प्रतिमान, सांस्कृतिक प्रतिमान, सामाजिक मानक, समूह, संगठन, सामाजिक सरचना, सामाजिक नियंत्रण के उपकरण आदि।"

सोरोकिन ने लिखा है कि इस प्रकार की रूपावली की प्रथम आवश्यकता की पूर्ति मात्र वही समाजशास्त्री पूर्ण कर सकता है जो विश्व कोष का पण्डित या शास्त्रज्ञ हो, इसके अतिरिक्त निपुण मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिकवेता, इतिहासकार, विधिशास्त्री, राजनैतिक वैज्ञानिक और वैज्ञानिक अध्ययन पद्धतिवेत्ता होना चाहिए। केवल सभी विज्ञानो का सर्वज्ञ प्रकाण्ड विद्वान

(शास्त्रज्ञ) ही सफलतापूर्वक ऐसी रूपावली की सभी अवधारणाओं को पूर्ण कर सकता है। इसका अर्थ पूर्ण रूप में यह हुआ कि मर्टन की रूपावली सामान्य और विशिष्ट समाजशास्त्र की सार संग्रह की विषय वस्तु की सूची है। इस प्रकार से यह प्लेटो या अरस्तू, संत थॉमस एक्वीनास या कोंखाम बेकन या लॉक, कान्त या हीगल, डेमकार्टिस या लेबनिस, कॉम्टे या स्पेंगलर, मार्क्स या दुर्खीम के महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन पद्धतियों में कोई समानता नहीं रखता है। मर्टन की रूपावली न तो कोई समाजशास्त्रीय विश्लेषण की विशिष्ट पद्धति प्रदान करती है और न ही यह समाजशास्त्र की महत्त्वपूर्ण समस्याओं के विश्लेषण के महत्त्वपूर्ण परिणामों को प्रस्तुत करती है। सार रूप में ये ही मर्टन के प्रकार्यवाद एवं रूपावली की प्रमुख सीमाएँ एवं कमियाँ हैं।

❐

अध्याय-12

संघर्ष : मार्क्स

(Conflict . Marx)

संघर्ष सिद्धान्त की मान्यता है कि सामाजिक जीवन का प्रमुख आधार असहमति व वे विभिन्न आयाम हैं जो कि विभिन्न समूहों के बीच पारितोषों, जैसे—सम्पत्ति सत्ता, शक्ति और प्रतिष्ठा तथा उत्पादन के साधन और उत्पादन की शक्तियों को पाने की प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप प्रकट होते हैं। संघर्ष सिद्धान्त के प्रवर्तकों एवं अनुयायियों की मान्यता है कि समाज स्वार्थों के संघर्ष से आकृष्ट होता है। कार्ल मार्क्स ने अपने लेखों और पाण्डुलिपियों आदि में तो यहाँ तक लिखा है कि, "आज तक अस्तित्व मे जो समाज हैं, उनका इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।" वर्ग संघर्ष और संघर्ष सिद्धान्त उतना ही प्राचीन है जितना कि उद्‌विकासीय और संरचनात्मक प्रकार्यात्मक सिद्धान्त हैं। समाजशास्त्र मे संघर्ष सिद्धान्त का इतिहास कार्ल मार्क्स की कृतियों से देखा जा सकता है।

समाजशास्त्रीय संघर्ष सिद्धान्त मे पुरस्कार के असमान वितरण पर विशेष जोर दिया जाता है। इस सिद्धान्त के प्रवर्तक मार्क्स भी हैं। संघर्ष के अनेक कारण हैं। इसी सन्दर्भ मे एम. फ्रान्सिस अब्राहम ने लिखा है, "समाजशास्त्र मे कोई एक संघर्ष सिद्धान्त नहीं है बल्कि अनेक संघर्ष सिद्धान्त हैं जो सामाजिक घटनाओं के विशिष्ट पक्षों का विश्लेषण करते हैं।" समाज की प्रमुख प्रक्रियाएँ विभिन्न प्रकार के उन संघर्षों के द्वारा प्रकट होती हैं जिसके अन्तर्गत वे सभी व्यक्ति आते हैं जो अभावग्रस्त हैं, तथा जीवन मे वे सुविधाएँ प्राप्त करना चाहते हैं जो दूसरो के पास हैं। जिनके पास सुविधाएँ हैं, वे और अधिक सुविधाएँ प्राप्त करना चाहते हैं तथा सुविधाहीन लोगों को अधिक सुविधाएँ प्राप्त करने मे बाधक बनते हैं।

संघर्ष सम्प्रदाय के प्रवर्तकों, अनुयायियों एवं समर्थकों के अनुसार, समाज के अध्ययन के उपागम, अध्ययन की पद्धतियों, चरों का चयन, तथ्य संकलन, विश्लेषण एवं सिद्धान्तों का निर्माण संघर्ष की प्रक्रिया को केन्द्र बनाकर किया जाना चाहिए।

इस अध्याय मे संघर्ष सिद्धान्त की परिभाषा, उत्पत्ति और विकास, संघर्ष के प्रकार, संघर्ष के प्रमुख अभ्युपगम, संघर्ष सिद्धान्त के प्रमुख सिद्धान्तवेत्ताओं, इसकी विधिताओं, महत्त्व और सीमाओं की सविस्तार विवेचना की जाएगी जो निम्नलिखित हैं—

संघर्ष सिद्धान्त की परिभाषाएँ एवं अर्थ

(Definition and Meaning Conflict Theory)

थियोडॉरसन एवं थियोडोरसन ने संघर्ष सिद्धान्त की परिभाषा एवं व्याख्या निम्न रूप मे की है, "समाज के अनेक सिद्धान्तों में से कोई भी सिद्धान्त जो सामाजिक घटनाओ का भूत, वर्तमान और भविष्य सघर्ष के परिणाम के रूप मे देखता है संघर्ष सिद्धान्त कहलाता है। सामाजिक प्रक्रिया को मौलिक रूप से सामाजिक समूह के सहयोग के रूप में नहीं देखता है बल्कि मानव की आक्रामकता की दृष्टि से देखता है। सघर्ष पर इस रूप में जोर दिया जाता है कि यह एक सामाजिक जीवन का निर्माणक अथवा अवश्यभावी तथ्य है न कि एक संहारक एव टाले जाने वाला विचलन है। सम्पूर्ण इतिहास मे अनेक सघर्ष सिद्धान्त हैं, जैसे—हिरेक्लिट्स, पोलिवियस, थॉमस, हॉब्स, डेविड ह्यूम, जॉर्ज हीगल, कार्ल मार्क्स सामाजिक डार्विनवादी आदि-आदि।

रॉल्फ डेहरेन्टॉर्फ संघर्ष मॉडल को ऐसा मानते हैं जिसमे परिवर्तन सघर्ष और दबाव के सन्तुलन पर जोर दिया जाता है न कि हाल ही मे समाजशास्त्र मे सन्तुलन अथवा यूटोपिया मॉडल पर देते हैं। जिसमे समाजो के विश्लेषण मे स्थिरता, समरसता और चेतना पर बल दिया जाता है।

व्यक्तियों या समूहों के बीच एक ही लक्ष्य के लिए सीधे और सचेत द्वन्द्व, विरोध, टकराव आदि को संघर्ष कहते हैं। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विरोधी की हार आवश्यक मानी जाती है। संघर्ष मे (प्रतिस्पर्धा के विपरीत) विरोधी मुख्य रूप से एक-दूसरे के प्रति उन्मुख होते हैं न कि लक्ष्य की प्राप्ति के लिए। सत्य तो यह है कि ईर्ष्या की भावना के प्रबल होने के कारण अक्सर लक्ष्य की प्राप्ति विरोधी को हराने की तुलना मे गौण हो जाती है। इसके अतिरिक्त सघर्ष एक सविराम (रुक-रुककर) प्रक्रिया है न कि अविराम (निरन्तर) प्रक्रिया है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्रीय संघर्ष सिद्धान्त वह है, जो सामाजिक घटनाओं का सामान्यीकरण संघर्ष के दृष्टिकोण के आधार पर करता है। वह सिद्धान्त को सामाजिक घटनाओं के पारस्परिक कारण-प्रभाव सम्बन्धों की व्याख्या ऐसे चरों के आधार पर करता है, जिसकी प्रकृति संघर्ष, शोषण, पारितोषों को पाने की प्रतिस्पर्धा आदि से सम्बन्धित होती है।

संघर्ष-सिद्धान्त की उत्पत्ति और विकास

(Origin and Development of Conflict Theory)

किनलॉच ने संघर्ष-सिद्धान्त का ऐतिहासिक परिचय देते हुए लिखा है, "जिन संघर्ष सिद्धान्तवेत्ताओं से हम सम्बन्धित हैं, उनका एक बड़ा कार्यकाल (1818-1944) रहा है, जिसमें ऐसे विचारक हुए हैं, जो एकरूपता से बहुत दूर हैं। फिर भी इन सिद्धान्तवेत्ताओं में कुछ निश्चित समानताएँ हैं: इनको सामाजिक उत्पत्ति निम्न रही है न कि मध्यम या उच्च वर्ग की। इनको शास्त्रीय, दार्शनिक, इतिहास, कानून और अर्थशास्त्र जैसे विषयों में प्रबोध प्रकार की शिक्षा प्राप्त हुई; ये लोग राजनीति और सक्रियतावाद में क्रियाशील थे। इन लोगों ने अपने समाजों में राजनीति, दमन, संघर्ष और ध्रुवीकरण का अनुकरण किया; और इनका सामाजीकरण प्रकृतिवाद के प्रबुद्ध विचारों, आदर्शवाद, उद्‌विकास, विवेक, अर्थक्रियावाद (व्यवहारिकतावाद) और समाजवाद में हुआ।

डॉन मार्टिन डेल ने सार रूप मे सघर्ष सिद्धान्त के आधार तथा इसके विकास को निम्न रूप मे प्रस्तुत किया है—

"एक बार जब सघर्ष को समाज के केन्द्रीय तत्त्व के रूप मे स्वीकार कर लिया गया, उसके बाद एक समृद्ध बौद्धिक परम्परा इसकी व्याख्या के लिए प्रारम्भ हुई। प्रत्येक समाज के अपने सघर्ष होते हैं, प्रत्येक समाज के लोगो का इससे सामना होता है। शास्त्रीय प्राचीन ग्रीक मे हिरेक्लिट्स से लेकर सूफियो तक, अनेक विचारको ने सघर्ष को एक प्राथमिक तथ्य माना। पुरातन सघर्ष का सर्वोत्तम विकास पोलीबियस ने किया, जिसने राजनीतिक सस्थाओ के विकास मे सघर्ष को एक आधारभूत तत्त्व माना। सत्यता यह है कि इन्होने राज्य को एक स्थिर सत्ता की व्यवस्था के रूप मे देखा। मध्यकालीन अरब जगत मे इब्नखाल्डून ने समाज के लिए एक सघर्ष सिद्धान्त विकसित किया जो इस मान्यता पर आधारित है कि खानाबदोश एव खेतिहर के मध्य सघर्ष सभ्यताओ के विकास का आधार था।

हालाँकि इब्न खाल्डून के विचारो ने पश्चिमी विचारो को उन्नीसवीं शताब्दी तक प्रभावित नहीं किया था। पोलिबियस के विचारो से सीधे ही निकोलो मैकियावैली प्रभावित हुआ जिसने राज्य की उत्पत्ति तथा इसकी महत्त्वपूर्ण सस्थाओ को एक ही परिणामस्वरूप पाया। इन विचारो को जोन बोडिन ने विकसित किया और उसने प्रभुसत्ता के आधुनिक सिद्धान्तो को प्रतिपादित किया। इनका प्रभाव थॉमस, हॉब्स पर भी पडा। जिन्होने इनको भौतिकवादी विवेकवाद मे विकसित किया।

डेविड ह्यूम और एडम फर्ग्यूसन ने आधुनिक सघर्ष सिद्धान्त को विवेकवाद के सदर्भ मे अलग किया और इसे अनुभाविक विश्लेषण मे विकसित किया। ह्यूम ने संघर्ष को आनुभाविक तथ्य मानकर राजनीतिक दल के समकालीन सिद्धान्त की आधारशिला रखी। फर्ग्युसन ने इन विचारो को राजनीतिक सत्ताओ और सरकार के सामान्य तथ्यो के रूप मे परिवर्तित किया एव इनको सघर्ष के द्वारा उत्पन्न होना बताया। इसी के समानान्तर अनेक सिद्धान्त फ्रास मे टर्गोट के विचारो में प्रकट हुए।

आधुनिक संघर्ष सिद्धान्त से लिया गया सार्वभौमिक प्रतिस्पर्धा का विचार शास्त्रीय अर्थशास्त्र का केन्द्रीय विषय बन गया है। बाद में थॉमस, माल्थस के द्वारा प्रतिस्पर्धा आर्थिक व्यवहार के केन्द्रीय नियम से अस्तित्व के लिए सामान्य प्रतिस्पर्धा मे विकसित कर दिया गया। यह इनके जनसख्या के सिद्धान्त का आधार बन गया। अब सघर्ष सिद्धान्त जीव विज्ञान में प्रवेश करने के लिए पूर्ण रूप से विकसित हो गया जहाँ डार्विन के कार्यों मे यह जीव विज्ञान मे पुनर्निर्माण का आधार बन गया।

सामाजिक सघर्ष का सिद्धान्त पश्चिम मे बहुत समृद्ध रहा। एक समय तो यह सामाजिक घटनाओ के बहुत ही विशिष्ट व्याख्या करने लगा और बाद मे यह मानवीय गतिविधियो का सामान्य परीक्षण करने वाला बन गया। इस नवीन सम्प्रदाय के सिद्धान्त को अनुभवो और अन्तर्दृष्टि का खजाना उपलब्ध हुआ।

शास्त्रीय साहित्य मे संघर्ष सिद्धान्त की निम्न दो परम्पराएँ मिलती हैं—

(1) राजनीतिक दर्शन में शक्ति-सम्बन्ध परम्परा। मैकियावली, बॉडेन, हॉब्स और मोस्का ने राज्य व्यवस्था मे सघर्ष का विश्लेषण शक्ति सम्बन्धों के आधार पर किया है एवं राज्य को विश्लेषण की केन्द्रीय वस्तु माना है।

(2) शास्त्रीय अर्थशास्त्र में प्रतिस्पर्धा के सघर्ष की परम्परा—एडम स्मिथ, रॉबर्ट माल्थस एव इनका अनुकरण करने वाली अर्थशास्त्रियों की पीढ़ियों की आर्थिक प्रतिस्पर्धा अन्वेषण का केन्द्रीय विषय था।

समाजशास्त्रीय संघर्ष सिद्धान्त मुख्य रूप मे इन उपरोक्त दो परम्पराओं का समन्वय है, जिसमें समाज मे पारितोषों का असमान वितरण मुख्य केन्द्रीय विषय है। कार्ल मार्क्स इसके अग्रणी निर्माणक हैं। सी. राइट मिल्स, रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ, डर्विंग लुइस होरोविच, लेविस कोजर, हर्बर्ट मरक्यूस, रेण्डल कॉलिन्स, एन्ड्रे गुन्टर फ्रेंक समकालीन समाजशास्त्र के प्रबुद्ध संघर्ष सिद्धान्तवक्ताओं मे से हैं।

सामान्य बोलचाल मे संघर्ष सिद्धान्त समाज की दो या अधिक इकाइयों के बीच अन्तर्सम्बन्धों तक सुनिश्चित एवं सीमित होते हैं। प्रजातीय तनाव, वर्ग युद्ध, धार्मिक सघर्ष, हड़ताल, प्रतिरोध, छात्र शक्ति, आन्दोलन, क्रान्ति, किसान सुधार और इसी तरह के अक्सर संघर्ष विश्लेषण के विषय हैं। अब्राहम के अनुसार कार्ल मार्क्स और राल्फ डाहरेन्डॉर्फ वृहद्स्तरीय संघर्ष सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा सी. राइट मिल्स का संभ्रान्त शक्ति का सिद्धान्त भी एक सामान्य सिद्धान्त है लेकिन इसका संदर्भ का दृष्टिकोण अमेरिका के समाज तक ही सीमित है। निःसन्देह मार्क्स संघर्ष समाजशास्त्र का प्रमुख सिद्धान्तवेत्ता है। इनके अनुसार विभिन्न सामाजिक वर्गों का अस्तित्व निरन्तर अवश्यंभावी संघर्ष का स्रोत है एवं सामाजिक संरचना में परिवर्तन उग्रता के कारण होता है जो वर्ग संघर्ष को प्रभावित करता है। वेबर, सिमैल, मोस्का और मिचेल संघर्ष परम्परा के अन्य महत्त्वपूर्ण अग्रज हैं। वेबर के राजनीतिक लेखन विशेष रूप से शक्ति, सत्ता और सामाजिक परिवर्तन पर दिये गए जोर ने समाज के संघर्ष सिद्धान्त में विशेष योगदान दिया है। मोस्का का संघर्ष सिद्धान्त राज्य-व्यवस्था में शक्ति संघर्ष पर केन्द्रित रहा है। ये तर्क देते हैं कि सभी समाजो में शासक वर्ग होता है जो राजनीतिक सत्ता पर निम्न वर्ग के आधार पर निरन्तर एकाधिकार रखने का प्रयास करता है।

समाज में संघर्षो के प्रकार
(Types of Conflict in the Society)

हालाँकि वर्ग संघर्ष समाज में संघर्ष के अनेक क्षेत्रों में से एक है। सामाजिक डार्विनवादी 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' और 'योग्यतम की उत्तरजीविता' का विवेचन करते हैं जबकि प्रकृति तंत्रवादी जीवन की आवश्यकताओं के लिए प्रतियोगिताओं पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। राजनीतिक दार्शनिक सत्ता और शक्ति के प्रश्नों का अध्ययन करते हैं। मनोवैज्ञानिक आन्तरिक संघर्ष और मनोवृत्ति के परिवर्तन की गतिशीलता से सम्बन्धित है। मानवशास्त्री आदिम प्रथाओं जो एकीकरण का कार्य करती है—में विद्यमान संघर्ष का अध्ययन करते हैं। समाज के उपरोक्त वर्णित संघर्षों में से समाजशास्त्रियों ने निम्नलिखित संघर्षों के दो प्रमुख प्रकारों और उनके विभिन्न उपप्रकारों को निश्चित किया है।

अन्तर्जात संघर्ष (Endogenous Conflict)—ये समाज के अन्दर विद्यमान परिवर्तन के स्रोत होते हैं और संघर्ष के बहुत ही सामान्य क्षेत्रों को इंगित करते हैं, जिनको निम्न प्रकार से विश्लेषित करके प्रस्तुत किया जा सकता है:

समाज में संघर्षों के प्रकार

अंतर्जात संघर्ष — बहिर्जात संघर्ष

परिवर्तन सम्बन्धी अंतर्निहित पूर्वाभिरुचि | वांछनीय के वितरण पर संघर्ष | मूल्यों के संघर्ष | सत्ता के संघर्ष | व्यक्ति और समाज के बीच संघर्ष

युद्ध | सांस्कृतिक अतिक्रमण | वैचारिक संघर्ष
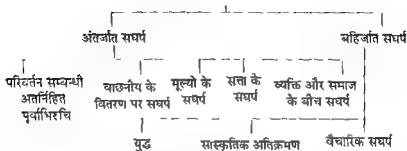
(1.1) परिवर्तन सम्बन्धी अन्तर्निहित पूर्वाभिरुचि (Interent Predilections to Change)—कॉम्ट की सामाजिक गतिशीलता की अवधारणा, सोरोकिन का अन्तवर्ती स्वतः निर्देशित परिवर्तन का सिद्धान्त या प्रकार्यवादियों की संरचनात्मक तनाव की अवधारणा आदि अन्तर्निहित परिवर्तन की सम्भावना को सम्बोधित करते हैं। हालाँकि प्रकार्यवादियों के लिए परिवर्तन अवसर से विचलन है जबकि संघर्ष सिद्धान्तवेत्ता सभी कालों में सामाजिक परिवर्तन को आवश्यक परिस्थिति मानते हैं।

(1.2) वांछनीय के वितरण पर संघर्ष (Conflict Over the Distribution of Desirables)—सामाजिक संघर्ष का एक प्रमुख स्रोत पारितोषों का असाधारण वितरण है, जैसे—समाज में विद्यमान सम्पत्ति, शक्ति और प्रतिष्ठा। अनेक संघर्ष सिद्धान्तवेत्ता जैसे मार्क्स, मोस्का एवं मिल्स ने अपने सैद्धान्तिक विवेचन में इनको केन्द्रीय कारक माना है।

(1.3) मूल्यों का संघर्ष (Conflict of Values)—नवाचार प्रौद्योगिकीय क्रान्ति, पर्यावरणात्मक संघर्ष पीढ़ी अन्तराल, स्वचालन, लैंगिक क्रान्ति, नूतन मूल्य-दृष्टिकोण तथा मानकात्मक संरचना का टूटन के संचयी प्रभाव संघर्षों की शृंखला रही है, जो विभिन्न प्रकार के सामाजिक आन्दोलन एवं व्यक्तिगत पहचान के संकट में अभिव्यक्त होते हैं।

(1.4) सत्ता का संघर्ष (Conflict of Authority)—कुछ समाजशास्त्रियों, विशेष रूप से डारेन्डॉर्फ के लिए सत्ता संरचना संघर्ष या प्राथमिक स्रोत है। कोई भी संगठन सत्ता की संरचना के अभाव में बना नहीं रह सकता एवं सत्ता की व्यवस्था में आवश्यक रूप से उन लोगों के बीच में जो आदेश देते हैं और वो जो आदेश स्वीकार करते हैं, उसके मध्य संघर्ष आवश्यक रूप से विद्यमान होता है।

(1.5) व्यक्ति और समाज के मध्य संघर्ष (Conflict Between the Individual and Society)—जो समाज के लिए अच्छा है, आवश्यक नहीं कि वह व्यक्ति के लिए भी अच्छा हो। अक्सर इन दोनों की रुचियों के मध्य आधारभूत संघर्ष होता है। व्यक्तियों की कीमत पर समाज

और समाज की कीमत पर व्यक्ति फलते फूलते हैं। डब्ल्यू. आई. थॉमस ने तर्क दिया है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास व्यक्ति और समाज के मध्य संघर्ष का परिणाम होता है, व्यक्ति स्वच्छन्द अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष करता है, जबकि समाज उसे दबाने का प्रयत्न करता है तथा उसे परम्परागत परिस्थिति भूमिका के अनुसार ढालने का प्रयास करता है।

(2) बहिर्जात संघर्ष (Exogenous Conflict)—बहिर्जात संघर्ष वे संघर्ष होते हैं जो बाहर से या दो व्यवस्थाओं के बीच द्वन्द्व, विरोध या विग्रह को इंगित करते हैं। सामान्यतः ये तीन प्रकार के होते हैं—

(2.1) युद्ध (War)—आजकल के दो व्यवस्थाओं के बीच युद्ध इसके उदाहरण हैं। पहले प्राचीन काल में इस प्रकार के संघर्ष लूटमार या विजय प्राप्त करने के लिए होते थे। नाजीवाद, हारी, वियतनाम, घनाना गणतन्त्र और बंग्लादेश आदि ने अनेक राजनीतिक या बौद्धिक संधियाँ प्रस्तुत की हैं, जिनमें संदर्भ संघर्ष का दृष्टिकोण रहा है। हालांकि एक अच्छे संघर्ष सिद्धान्त का एक उपकरण के रूप में निर्माण करना अभी बाकी है जिसके द्वारा युद्ध का एक सामाजिक घटना के रूप में विश्लेषण किया जा सके।

(2.2) सांस्कृतिक अतिक्रमण (Cultural Invasion)—अर्न्तसांस्कृतिक संचालन सामाजिक व्यवस्थाओं के बीच संघर्ष का शाश्वत स्रोत है। पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण, सांस्कृतिक अतिक्रमण आदि अनेक प्रकार से सांस्कृतिक संघर्ष के रूप में देखे गए हैं। इसी प्रकार से तकनीकी नवाचार, परम्पराओं में विघ्न, नवीन राजनीतिक आन्दोलनों ने भी सांस्कृतिक संघर्ष उत्पन्न किये। विकासशील समाजों में सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण अनेक समाजशास्त्रियों ने संघर्ष परिप्रेक्ष्य के द्वारा किया है।

(2.3) वैचारिक संघर्ष (Conflict of Ideology)—वैचारिक संघर्ष के प्रतिघात राष्ट्र, राज्य या समाज की सीमाओं के बाहर निकल जाते हैं। पूँजीवाद साम्यवाद, प्रजातंत्र, मूलप्रमाणवाद, समतावाद, प्रजातीय निर्णायकवाद और इसी प्रकार के अन्य प्रयोजन अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समय-समय पर संघर्ष उत्पन्न करते रहे हैं। मानव के सम्पूर्ण इतिहास में क्रान्ति, युद्ध, अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष और झगड़ों का मूल कारण वैचारिक संघर्ष रहे हैं।

संघर्ष सिद्धान्त के प्रमुख अभ्युपगम
(Major Postulates of Conflict Theory)

विभिन्न संघर्ष सिद्धान्तवेत्ताओं, जैसे—मार्क्स, सी. राइट मिल्स, डेहरेन डॉर्फ, मिमैल रैक्स और कोजर आदि ने जो अपने विचार व्यक्त किये हैं, सार रूप में संघर्ष सिद्धान्त से सम्बन्धित प्रमुख अभ्युपगमों, मान्यताओं और प्रस्तावना आदि को निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

1. संघर्षवेत्ताओं के अनुसार, समाज की व्यवस्था सन्तुलन की स्थिति में नहीं होती है, बल्कि यह एक अस्पष्ट एवं धुँधली संरचना होती है। इस अस्पष्ट संरचना के तत्त्व समन्वित एवं एकीकृत नहीं होते हैं, बल्कि बल प्रयोग जैसे तत्त्वों के द्वारा एक साथ विद्यमान होते हैं तथा दूसरों के अधीन होते हैं।

2 समाज और उसके तत्त्व अविराम या निरन्तर परिवर्तन की प्रक्रिया की स्थिति मे होते हैं। हालाकि भिन्न भिन्न मात्रा मे परिवर्तन और सघर्ष मानव समाज के स्थायी और सामान्य लक्षण होते हैं।

3 समाज एक स्थिति है, जिसमे मानव जनसख्या विद्यमान होती है जो प्रतिस्पर्धा और सघर्ष करते रहते हैं। सामाजिक जगत ऐसा होता है जिसमे जीवन के लिए सघर्ष चलता रहता है।

4 सामाजिक सघर्ष, सामाजिक सरचना की प्रकृति म अन्तर्निहित होता है। अन्तरजात और बहिर्जात सघर्षों की भिन्नता विश्लेषणात्मक अर्थ म ही सार्थक होती ह।

5 समाज म परिवर्तन का अन्तर्निहित झुकाव का क्षत्र प्रकृति गति की मात्रा और गहनता भिन्न भिन्न होती है। य परिवर्तन प्रकट या अप्रकट धीरे धीरे या तीव्र एव विनाशक होते हैं।

6 अन्तर्जात सघर्षा का उदय एकीकरण के अभाव समूहो और व्यक्तियो की रुचियो म भिन्नता और विरोध, पारितोषो का असगत वितरण उच्चता निम्नता के दृष्टिकोण तथा मूल्य-चेतना के अभाव के कारण होता है।

7 डॉहरेन्डॉर्फ ने विशेष रूप से सघर्ष सिद्धान्त के महत्त्वपूर्ण तथ्यो को सक्षिप्त रूप मे निम्नलिखित बताया है—

7 1 प्रत्येक समाज मे आवश्यक रूप से परिवर्तन होता है। आपके अनुसार सामाजिक परिवर्तन सर्वव्यापी है।

7 2 प्रत्येक समाज प्रत्येक पल सामाजिक सघर्ष का अनुभव करता है। आपके अनुसार सामाजिक सघर्ष सर्वव्यापी है।

7 3 समाज का प्रत्येक तत्त्व परिवर्तन मे योगदान देता है।

7 4 प्रत्येक समाज अपने कुछ सदस्यो पर दूसरे सदस्यो के तनाव पर आधारित होता है।

8 परिवर्तन क्रान्तिकारी हो सकता है, जो आकस्मिक और गम्भीर दोनो होता है।

9 सामाजिक सरचना स्वय आन्तरिक सघर्ष और विरोधो के कारण उत्पन्न होती है।

प्रमुख संघर्ष सिद्धान्तवेत्ता

(Eminent Theorists of Conflict Theory)

समाजशास्त्र मे सघर्ष सिद्धान्त के सम्बन्ध मे अनेक विद्वानो ने खूब लिखा है। यहाँ पर उन सभी के विचारो और योगदान का विवेचन करना व्यावहारिक और सम्भव नहीं है। इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुए हम कुछ प्रमुख समाजशास्त्रीय सघर्षवेत्ताओ क उद्देश्यो प्रस्तावनाओ, तथ्यो, अभ्युपगमो, मान्यताओ, विचारो, सघर्ष के आधारो और सिद्धान्तो का आलोचनात्मक मूल्याकन प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे। सामान्य रूप से सामाजिक विज्ञानो मे और विशेष रूप से समाजशास्त्र मे कार्ल मार्क्स का सघर्ष का सिद्धान्त प्रमुख है। इनके बाद समाजशास्त्रीय सघर्ष सिद्धान्तवेत्ता सी राइट मिल्स, राल्फ डेहरन्डार्फ का योगदान उल्लेखनीय है। इन विद्वानो के सिद्धान्तो के अतिरिक्त समाजशास्त्र मे निम्नलिखित विविध सघर्ष सिद्धान्तो—फ्रेंकफर्ट सम्प्रदाय, नवीन या

उन्मूलनवादी समाजशास्त्र, द्वन्द्वात्मक समाजशास्त्र, संघर्ष प्रकार्यवाद, विश्लेषणात्मक संघर्ष सिद्धान्त एवं औपचारिक संघर्ष सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रमुख संघर्ष सिद्धान्त एवं सिद्धान्तवेत्ता

कार्ल मार्क्स : द्वन्द्वात्मक संघर्ष सिद्धान्त	जार्ज सिमेल : संघर्ष सिद्धान्त	सी. राइट मिल्स : शक्ति अभिजन	राल्फ डेहरेन्डार्फ : शासक एवं शासित सिद्धान्त

यहाँ पर हम मात्र मार्क्स के संघर्ष सिद्धान्त का वर्णन कर रहे हैं।

कार्ल मार्क्स : द्वन्द्वात्मक संघर्ष सिद्धान्त
(Karl Marx : Dialectical Conflict Theory)

कार्ल मार्क्स के संघर्ष सिद्धान्त से सम्बन्धित महत्वपूर्ण जानकारी के लिए इस पुस्तक का अध्याय-10 देखें।

मार्क्स का वर्ग-संघर्ष (Class-Struggle of Marx)—कार्ल मार्क्स का समाजशास्त्र में एक महत्वपूर्ण योगदान वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष की अवधारणा को प्रदान करना है। मार्क्स का मत है कि समाज में हमेशा दो वर्ग होते हैं। इन वर्गों का आधार आर्थिक होता है। आर्थिक असमानता ही समाज में दो वर्गों को जन्म देती है। ये दो वर्ग हैं—शोषक वर्ग और शोषित वर्ग। मार्क्स का कहना है कि व्यक्ति एक वर्ग का प्राणी है। मार्क्स के अनुसार, प्रत्येक युग में हमेशा शोषक एवं शोषित वर्ग रहते हैं। शोषक वर्ग वह वर्ग है जिसका उत्पादन के साधनों, उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों पर स्वामित्व रहता है। विभिन्न कालों में शोषक के रूप में मालिक, स्वामी, जमींदार, बुर्जुआ, पूँजीपति आदि किसी-न-किसी रूप में होते हैं। इसी क्रम में शोषित वर्ग के विभिन्न रूप—दास, गुलाम, किसान, श्रमिक, मजदूर आदि होते हैं। कार्ल मार्क्स ने *'कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणा-पत्र'* में लिखा है, *"आज तक अस्तित्व में जो समाज है, उनका इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। स्वतन्त्र मनुष्य और दास, कुलीन और जन-सामान्य, सामन्ती प्रभु और भूदास, शिल्प संघ का उस्ताद—कारीगर और मजदूर-कारीगर—संक्षेप में उत्पीड़क और उत्पीड़ित बराबर एक-दूसरे का विरोध करते आये हैं।"* मार्क्स ने आगे लिखा है कि ये दोनों शोषक व शोषित वर्ग अपनी-अपनी समस्याओं, हितों, लक्ष्यों, परिस्थितियों आदि के लिये एक-दूसरे से संघर्ष करते रहते हैं। मार्क्स का मत है कि मानव इतिहास के आदिम, साम्यवादी युग, दासत्व-युग एवं सामन्ती-युग में इनमें संघर्ष धीरे होता है और पूँजीपति युग में वर्ग-संघर्ष तीव्र हो जाता है। मार्क्स ने भविष्यवाणी की है कि वर्ग-संघर्ष के इतिहास में एक समय ऐसा आयेगा जब सर्वहारा-वर्ग (श्रमिक-वर्ग) पूँजीपति वर्ग व्यवस्था को समाप्त कर देगा। पूँजीपति व्यवस्था के स्थान पर साम्यवादी व्यवस्था स्थापित हो जायेगी, जिसमें शोषक वर्ग का अन्त हो जायेगा। इसके साथ-साथ समाज में असमानता का भी अन्त हो जायेगा। मार्क्स का यह भी कथन है कि धीरे-धीरे कल्पनालोकीय समाज की स्थापना हो जायेगी। वर्ग भेद नहीं रहेगा, पूँजीवादी दुःखों से श्रमिक को छुटकारा मिल जायेगा। आपने निम्न नारा दिया है—

"दुनिया के मजदूरो एक हो, तुम्हें तुम्हारी बेडियो के अतिरिक्त कुछ नहीं खोना है और पाने के लिये तुम्हारे पास सारा ससार पडा है।"

कार्ल मार्क्स ने वर्ग एवं वर्ग-सघर्ष की अवधारणा प्रतिपादित करके समाजशास्त्र मे एक विशिष्ट सम्प्रदाय—सघर्ष-सम्प्रदाय के महत्व को और महत्त्वपूर्ण बना दिया है। वर्तमान मे जिसका रूप सघर्ष उपागम से उग्र उन्मूलनवादी समाजशास्त्र "रेडीकल सोशियोलॉजी" विचारधारा के रूप मे विकसित हो गया।

वर्ग-संघर्ष का इतिहास (History of Class-Struggle)—आज तक अस्तित्व मे जो समस्त समाज है, उनका इतिहास वर्ग-सघर्ष का इतिहास है। स्वतत्र मनुष्य और दास, कुलीन और सामान्यजन, सामन्तो प्रभु और भूदास, शिल्प सघ का उस्ताद-कारीगर और मजदूर-कारीगर—सक्षेप मे उत्पीडक और उत्पीड़ित (शोषक और शोषित) बराबर एक-दूसरे का विरोध करते आये हैं। वे कभी छिपे, कभी प्रकट रूप से लगातार एक-दूसरे से लड़ते रहे हैं, जिस लडाई का अन्त हर बार या तो पूरे समाज के क्रान्तिकारी पुनर्गठन मे या संघर्षरत वर्गों की बर्बादी मे हुआ है।

द्वन्द्वात्मक उद्विकास एवं संघर्ष (Dialectic Evolution and Conflict)—मार्क्स की मान्यता है आर्थिक उप-संरचना और मानकात्मक अधिसरचना मे परस्पर सघर्ष होता है जिसके फलस्वरूप समाज अनेक उद्विकासीय चरणों से गुजरता हुआ परिवर्तित होता रहता है। आपका मानना था कि जनसख्या और आवश्यकताओ मे वृद्धि के परिणामस्वरूप श्रम-विभाजन मे भी वृद्धि होती है तथा भूमिकाओ मे भी वृद्धि होती है। इस विकास के कारण निजी सम्पत्ति में वृद्धि होती है। औद्योगिकीकरण के प्रभाव के फलस्वरूप निजी सम्पत्ति से पूँजीपति व्यवस्था का विकास होता है। मार्क्स का यह भी मानना था कि आर्थिक प्रभुत्व तथा पूँजीवाद से सर्वहारा-वर्ग (श्रमजीवी वर्ग) का प्रकृति तथा उत्पादन के साधनो से अलगाव होगा जो संघर्ष को पैदा करेगा। उत्पादन के साधनो, उत्पादन के तरीको तथा सम्बन्धो पर शोषक-वर्ग या पूँजीपति-वर्ग का पूर्ण नियन्त्रण होगा तथा सर्वहारा-वर्ग का शोषण होगा।

समाज में श्रम-विभाजन और निजी सम्पत्ति के अधिकारों में वृद्धि के कारण पूँजीवाद का विस्तार होता है। आगे चलकर, मार्क्स के अनुसार पूँजीवाद मे द्वन्द्व एवं सघर्ष होगा जो समाजवाद के लिये एक आन्दोलन के रूप मे शुरू होगा, जो अन्त मे एक ऐसे समाज का निर्माण करेगा जिसमे मानव प्रकृति और सामाजिक वातावरण के साथ पुनः जुड़ जायेगा तथा एक 'स्वाभाविक मानव' का उदय होगा।

सामाजिक परिवर्तन के प्रारूप
(Typology of Social Change)

मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन एवं विकास के चरण एक प्रारूप के रूप मे दिये हैं, उन्हे निम्न रूप मे देख सकते हैं—

13.1 जनजातिवाद (Tribalism)—मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन के विकास के क्रम में सर्वप्रथम अवस्था जनजाति बताई है। इस जनजातिवाद में समाज शिकार, मछली पकडना और

कृषि प्रधान होता है। मुख्य रूप से समाज पितृसत्तात्मक होता है। श्रम-विभाजन एक विस्तृत परिवार व्यवस्था के रूप में मिलता है। मार्क्स का कहना है कि इस प्रकार इन जनजाति समाजों में निजी सम्पत्ति और श्रम का विभाजन न्यून होता है।

13.2 सामन्तवाद (Feudalism)—जब कुछ जनजातियाँ परस्पर मिल जाती हैं और उनका आकार बड़ा हो जाता है तो इसके साथ समुदायवाद विकसित हो जाता है। इस अवस्था में दासता, निजी सम्पत्ति और श्रम-विभाजन व्यवस्था प्रारम्भ हो जाती है। कृषि में कुछ कमी आती है। सामन्तवाद आ जाता है। भूमि पर आधारित अर्थव्यवस्था विकसित हो जाती है। धनी कृषि का नियन्त्रण करते हैं। मार्क्स के अनुसार, यह संरचना भी अपूर्ण होती है और नगरीकरण का विकास होता है। आवश्यकतायें बढ़ जाती हैं, जिसके फलस्वरूप उत्पादन आधिक्य की आवश्यकता पड़ती है जो विकसित होकर विश्व में उपनिवेशवाद को बढ़ावा देती है। इस अवस्था में सामन्तों (शोषक) और भूमिहीन कृषकों (शोषितों) में संघर्ष होता है जो आगे चलकर पूँजीवाद को जन्म देता है।

पूँजीवाद (Capitalism)—इस उपर्युक्त विकास के फलस्वरूप पूँजीवाद का विकास होता है जिसमें निम्नलिखित तत्त्वों का उदय होता है। मार्क्स का कहना है कि पूँजीवाद ऐसी व्यवस्था है जिसका स्रोतों पर एकाधिपत्य हो जाता है। यह एकाधिपत्य उत्पादन के साधनों पर पूँजी के रूप में *स्वामित्व के कारण होता है। श्रमिक का श्रम महत्त्वपूर्ण वस्तु बन जाता है।* समाज दो वर्गों में—मालिक और श्रमिक में बँट जाता है। इस अवस्था में पुन: मालिक और श्रमिकों में संघर्ष होता है। जिस प्रकार से जनजातिवाद से *सामन्तवाद* और सामन्तवाद से *पूँजीवाद* में परिवर्तन हुआ, उसी प्रकार से पूँजीवाद की अवस्था भी स्थिर नहीं रहती है। मार्क्स का मत है कि अधिक उत्पादन और अलगाव के बढ़ने की समस्याओं के फलस्वरूप संघर्ष के कारण पूँजीवाद में परिवर्तन आता है। अलगाव के बढ़ने से श्रमिक सर्वहारा वर्ग संगठित हो जाते हैं और पूँजीपतियों के विरुद्ध क्रान्ति (संघर्ष) करते हैं।

कल्पनालोकीय समाजवाद (Utopian Socialism)—पूँजीवाद अपनी समाप्ति की प्रक्रिया स्वयं प्रारम्भ करता है और समाज अन्ततोगत्वा विकास की चरम सीमा समाजवाद की अवस्था में पहुँच जाता है, ऐसा मार्क्स का मत है। आपका कहना है कि कल्पनालोकीय समाजवाद की अवस्था में श्रमिक-वर्ग या सर्वहारा-वर्ग की क्रान्तिकारी तानाशाही स्थापित हो जाती है, जो निजी सम्पत्ति के अधिकारों को समाप्त कर देते हैं। समाज की इस अवस्था में वर्ग एवं वर्ग संघर्ष समाप्त हो जाते हैं, व्यक्ति पूर्ण रूप से समाजवादी हो जाता है। समाज एवं प्रकृति पुन: संगठित हो जाते हैं। इस प्रकार से समाजवाद एक प्रकार से समाज को जनजातिवाद की प्रारम्भिक अवस्था में लौटा लाता है, जहाँ व्यक्ति अपने भौतिक एवं सामाजिक पर्यावरणों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हो जाता है।

कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित संघर्ष पर आधारित सामाजिक परिवर्तन के विकास के प्रारूप के चरणों को निम्न चित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है—

कार्ल मार्क्स : समाज के विकास के प्रारूप

जनजातिवाद	सामन्तवाद	पूँजीवाद	कल्पनालोकीय साम्यवाद
1 शिकार, मछली पकड़ना, कृषि।	1 देहाती आधार।	1 श्रम मुख्य वस्तु	1 वर्गहीन।
2 श्रम का विभाजन = परिवार का विस्तार	2 भू आधार।	2 सरचना : मालिक व श्रमिक।	2 निजी सम्पत्ति का लोप।
3 पितृसत्तात्मक सरचना।	3 अभिजात शक्ति।	3 उपयोगितावादी विचारधारा।	3 पूर्ण समाजीकृत व्यक्ति।
		4 अप्राकृतिक भौतिकवाद।	4 पुनर्गठन : व्यक्ति एवं प्रकृति।
		5 अलगाव एव भोगाधिकार।	
		6 अत्युत्पादन का विकास।	

मार्क्स के संघर्ष सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन
(Critical Evaluation Conflict Theory of Marx)

मार्क्स की शब्द-योजना की अस्पष्टता तथा अनेकार्थता के कारण इनके तथा एजल्स के संघर्ष सिद्धान्त की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ विभिन्न लेखकों, मार्क्सवादियो तथा अ-मार्क्सवादियों ने की हैं। अब हम यहाँ पर मार्क्सवाद की विभिन्न व्याख्याओ मे से कुछ महत्वपूर्ण व्याख्याओ तथा अभ्युपगमो का आलोचनात्मक मूल्याकन—

(1) इसकी पहली कमी है—कारण-सम्बन्ध और निर्णायकवाद की अवधारणा (Its first shortcoming is its Conception of Causal relation and Determinism)—मार्क्स की मान्यता है, "सामाजिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक जीवन की प्रक्रियाओ के सामान्य लक्षणों का निर्धारण उत्पादन की विधियाँ करती हैं।" आप एकतरफा कारण सम्बन्ध अवधारणा की पूर्व-कल्पना करते हैं। इस मान्यता को निकट से देखने से स्पष्ट होता है कि मार्क्स के सिद्धान्त का प्रथम विचार ये है कि सघर्ष का आर्थिक कारक मुख्य अथवा सबसे महत्वपूर्ण कारक है जो अन्य सभी का निर्धारण करता है। मुख्य कारक के दो अर्थ हो सकते हैं—

कार्य-कारण शृंखला मे संघर्ष उत्पन्न करने मे आर्थिक कारक प्रथम कारक है जो अन्य सभी सामाजिक घटनाओं का निर्धारण करता है, अथवा संघर्ष उत्पन्न करने मे इस आर्थिक कारक की क्षमता बहुत अधिक है (मानलो इसका प्रभाव 90 प्रतिशत है और अन्य सभी कारको की तुलना मे उनका सम्पूर्ण प्रभाव 10 प्रतिशत है)।

मार्क्स, एंजल्स तथा इनके अनुयायियों में से किसी ने भी विभिन्न कारकों के संघर्ष उत्पन्न करने में तुलनात्मक प्रभावों को मापने के तरीकों को बताने का प्रयास नहीं किया। इस सिद्धान्त के साहित्यिक तथा तार्किक अर्थ के अनुसार, आर्थिक कारक संघर्ष का प्रमुख तथा सबसे आरम्भिक महत्त्वपूर्ण कारक है जो अन्य सभी सामाजिक घटनाओं की कारणीय शृंखला का निर्धारण करता है, क्योंकि यह 'चालक' है तो अन्य सभी 'चालित' हैं। ऐसी मान्यता को अनेक प्रमाणों के आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

अनेक अन्वेषकों—एस्पीनाम, दुर्खीम, पी ह्यूवेलिन, थर्नवाल्ड, मेलीनोव्स्की, ह्यर्ट तथा गाउस ने स्पष्ट किया है कि आदिम अवस्था तक में उत्पादन की प्रविधि तथा सम्पूर्ण आर्थिक जीवन समकालीन धर्म, जादू, विज्ञान तथा अन्य बौद्धिक घटनाओं से बिल्कुल अलग नहीं होता है। मैक्स वेबर ने सिद्ध किया है कि आर्थिक व्यवस्था का निर्धारण धर्म, जादू, तार्किकता और परम्परावाद करते हैं। आधुनिक पूँजीवाद की उत्पत्ति प्रोटेस्टेन्ट धर्म के द्वारा हुई है।

अत: यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्थिक कारक अन्य कारकों जितना प्राचीन नहीं है। इसका अर्थ यह भी है कि सामाजिक घटनायें पारस्परिक अन्योन्याश्रित थीं, हैं और रहेंगी। न तो कभी एकतरफा थीं और न ही कभी एकतरफा रहेंगी।

(2) सिद्धान्त की दूसरी आधारभूत कमी अनेकार्थ तथा अनिश्चित अभिव्यक्ति है। आर्थिक कारक संघर्ष का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं अन्तिम कारक है (The second fundamental shortcoming of the theory is an ambiguity and indefinition of the expression. the economic factor is the last, the final and the most important factor of Conflict)—मार्क्स के इस कथन की दो व्याख्यायें की गई हैं, जो निम्न हैं—

2.1 मार्क्सवादियों तथा अ-मार्क्सवादियों (प्लिचानों तथा इलयूड) ने इस दावे की यह व्याख्या की है कि आर्थिक कारक सम्पूर्ण ऐतिहासिक तथा सामाजिक संघर्षों की व्याख्या करने में पूर्ण रूप से सक्षम है। मार्क्स का भी यही विश्वास था। यह व्याख्या एक प्रकार से एकात्मक अवधारणा है, अगर सम्पूर्ण सामाजिक जीवन, युद्ध एवं शान्ति, दुर्दशा एवं खुशहाली, दासता तथा मुक्ति, क्रान्ति एवं प्रतिक्रिया एक ही कारक के परिणाम हैं तो इसके आधार पर निम्न समीकरण बनता है—

A और non – A = (E), अर्थात् पूर्णतया विरोधी घटनाएँ एक ही कारण का परिणाम हैं।

इस सूत्र में शान्ति, खुशहाली मुक्ति आदि को तथा non – A संघर्ष, युद्ध, दुर्दशा, दासता आदि को प्रदर्शित कर रहे हैं। (E) आर्थिक कारक को प्रदर्शित कर रहे हैं। मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार, A तथा non – A एक ही कारक 'आर्थिक' के परिणाम हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार का एकतत्वपरक (एक कारणीय) अवधारणा से निम्न समीकरण निर्मित होता है—

	सहयोग और संघर्ष	
	विकास और ह्रास	अर्थात् सभी प्रकार के व्यवहार
अ (आर्थिक कारक)	मुक्ति और दासता	सामाजिक प्रक्रियाएँ और
कारण है	शान्ति और युद्ध	ऐतिहासिक घटनाएँ आर्थिक
	दुर्दशा और खुशहाली	कारक का परिणाम हैं।
	:::::	
	आदि–आदि	

कोई भी गणितवेत्ता, तर्कशास्त्री या वैज्ञानिक ऐसी आधारशिला पर वैज्ञानिक कारण-सम्बन्ध नियम या नियमितता का सूत्र नहीं बनायेगा।

(3) मार्क्सवादी संघर्ष सिद्धान्त की अन्य विशेषताओं में इसकी भ्रामक एवं विरोधात्मक ऐतिहासिक निर्णायकवाद की अवधारणा का वर्णन करना चाहिए। यह संकल्प-स्वातंत्र्य के साथ भाग्यवाद के असंगत समाधान का प्रतिनिधित्व करता है (Of the other characteristics of the Marxian Conflict theory, its fallacious and contradictory conception of historical determinism should be mentioned. It represents an incongruous reconciliation of fatalism with free will)—मार्क्स के मूल कथन को पुन: ध्यान से अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि जिन उत्पादन के सम्बन्धों में व्यक्ति प्रवेश करता है वे सम्बन्ध "अपरिहार्य तथा इच्छा शक्ति से स्वतन्त्र" होते हैं। उत्पादन की शक्तियों को स्वत: विकसित होने वाली तथा मानव एवं अन्य सामाजिक कारकों से स्वतन्त्र रूप में व्यक्त किया गया है। आप का कथन है कि मानव आर्थिक कारकों के कारण उत्तेजनापूर्ण व्यवहार एवं संघर्ष करता है। समाजवाद की जीत की आशा आर्थिक कारक के सर्वशक्तिमान, भाग्यवादी और अनिवार्य भूमिका के विचार पर आधारित है जो पूँजीवाद को नष्ट करेगा तथा समाजवाद को विजयी बनाएगा।

यह निर्णायकवाद की भाग्यवादी व्याख्या वैज्ञानिक दृष्टिकोण से बहुत ही आपत्तिजनक है क्योंकि वैज्ञानिक निर्णायकवाद और भाग्यवाद में कोई भी समानता नहीं है। "अवश्यम्भावी", "आवश्यक" आदि शब्द विज्ञान अथवा विज्ञान की निर्णायकवादी अवधारणा के अंग नहीं हैं।

(4) मार्क्स-एंजल्स के वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त बहुत पुराना है तथा अनेक कमियों से परिपूर्ण है (The Marx-Engel's theory of class-struggle being very old, has a series of defects)—प्रमाणों के अनुसार यह कहना भ्रान्तिपूर्ण है कि, "अब तक के अस्तित्व में रहे सभी समाजों का इतिहास, वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।" इसका अर्थ यह हुआ कि सामाजिक वर्गों में सहयोग कभी नहीं रहा। यह भी भ्रमपूर्ण है क्योंकि वर्ग-सहयोग वर्ग-विरोध से अधिक सार्वभौमिक घटना है। वर्ग-संघर्ष ही एकमात्र ऐसा गत्यात्मक कारक है जिसके द्वारा मानवजाति की प्रगति हुई है। यह कथन भी गलत है। अनेक अन्वेषणों, जैसे—क्रोपटकिन के अनुसार मानवजाति की प्रगति सहयोग और एकता के कारण हुई है, न कि वर्ग-संघर्ष, विरोध तथा द्वेष के कारण हुई है। मार्क्स के वर्ग-सिद्धान्त का अर्थ है कि केवल आर्थिक-वर्ग का विरोध ही होता है तथा यह सबसे महत्त्वपूर्ण होता है। समाज में वर्ग के अतिरिक्त अनेक प्रकार के विरोध तथा शत्रुता होती है, जैसे— प्रजाति, राष्ट्र, धर्म तथा राज्य के संघर्ष हैं। विद्वानों का कहना है कि जब युद्ध, झगड़े आदि होते रहते हैं उस समय अनेक वैज्ञानिक शान्तिपूर्वक खोज करते हैं, आविष्कार करते हैं जिससे समाज का विकास होता है। समाज की निरन्तरता, स्थायित्व के लिए संघर्ष से अधिक सहयोग आवश्यक होता है। क्रोपटकिन ने सिद्ध किया है कि समाज में सहयोग आवश्यक होता है। सामाजिक संगठन और संरचना सहयोग के द्वारा नियन्त्रित और संचालित होती है। अनेक अन्वेषणों के अनुसार यह सिद्ध हो गया है कि मानवजाति का विकास सहयोग और एकता के द्वारा हुआ है, न कि संघर्ष के द्वारा।

कोहन ने लिखा है कि समाजशास्त्र में एक संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक सम्प्रदाय ने सिद्ध किया कि समाज के स्थायित्व और निरन्तरता के लिए प्रकार्यात्मक एकता, समाज के विभिन्न तत्त्वों की अपरिहार्यता और अन्योन्याश्रितता अत्यावश्यक है। इस सम्प्रदाय के अनुसार मार्क्स की संघर्ष की अवधारणा त्रुटिपूर्ण है।

(5) अतार्किक अवधारणा (Illogical Concept)—समाजशास्त्रियों का मत है कि मार्क्स की द्वन्द्वात्मक अवधारणा अतार्किक एवं अवैज्ञानिक है। मार्क्स एक स्थान पर कुछ लिखते हैं तथा दूसरे स्थान पर कुछ और। मार्क्स कहते हैं कि भौतिक पदार्थ विचारों के निर्णायक हैं। अन्यत्र उन्होंने लिखा है कि समाज के विकास के लिये मजदूरों को जाग्रत करना होगा, उनमें अपने विकास के लिये और अधिकारों को प्राप्त करने के लिये चेतना पैदा करनी होगी। मार्क्स के इन कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि वे मानवीय चेतना और विचारों को महत्त्व देते हैं, जबकि उनका संघर्ष और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भौतिक पदार्थ के द्वारा मानवीय चेतना को परिवर्तित करने का दावा करता है। इस प्रकार से मार्क्स के साहित्य में विरोधी कथन जगह-जगह पर मिलते हैं, जो कि उनके सिद्धान्त की बड़ी कमी है।

(6) आत्मा की उपेक्षा (Negligence of Spiritualism)—कार्ल मार्क्स के संघर्ष सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी आत्मा की उपेक्षा रही है। विश्व और समाज के विकास में जितना महत्त्व पदार्थ का है, उतना ही महत्त्व आत्मा और विचारों का है। पदार्थ भौतिक होते हैं, उनका अवलोकन किया जा सकता है। इसलिए मार्क्स ने भौतिक पदार्थों को तो महत्त्व दिया है लेकिन आत्मा और विचारों को अमूर्तता के कारण कोई महत्त्व नहीं दिया है। व्यक्ति पर आत्मा और विचारों का प्रभाव पड़ता है। विचार भी समाज और व्यक्ति के विकास में महत्त्वपूर्ण होते हैं जिसकी मार्क्स ने उपेक्षा की है। यह उनके भौतिक द्वन्द्ववाद की बड़ी कमी है।

(7) दोषपूर्ण विकास के चरण (Defective Stages of Development)—मार्क्स ने मानव समाज के विकास की अवस्थाएँ संघर्ष एवं द्वन्द्व पर आधारित—'वाद, प्रतिवाद और समवाद' के क्रम में बताई है। आपका मत है कि यह क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक समाज पूर्ण साम्यवाद की अवस्था में नहीं पहुँच जाता। विद्वानों की आपत्ति है कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित विकास की ये अवस्थाएँ काल्पनिक और दोषपूर्ण हैं। सामाजिक विकास एक निरन्तर प्रक्रिया है, जिसकी अन्तिम अवस्था की कल्पना करना सम्भव नहीं है। समाज की अन्तिम अवस्था साम्यवाद की भविष्यवाणी करना मार्क्स का एक अवैज्ञानिक तथा दोषपूर्ण कार्य है।

(8) उन्नति की अवधारणा दोषपूर्ण (Faulty Developmental Concept)—मार्क्स ने मानवीय इतिहास की व्याख्या करते हुए उसे केवल उन्नति की ओर अग्रसर होने वाला कहा है जबकि अनेक समाजशास्त्रियों ने अपने अध्ययन में पाया है कि मानव समाज का इतिहास उत्थान और पतन, विकास और ह्रास के क्रम में होता है। अनेक समाजों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि समाज का विकास और ह्रास दोनों ही होते हैं।

उपर्युक्त सीमाओं के होते हुए भी मार्क्स के संघर्ष की अवधारणा का समाजशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनेक विद्वानों ने मार्क्स के सिद्धान्त का मूल्यांकन किया, जिसके परिणामस्वरूप समाज के क्षेत्र में आशातीत प्रगति हुई।

सामान्य निष्कर्ष (General Conclusion)—मार्क्स तथा एजल्स के सघर्ष की अवधारणा के सम्बन्ध मे निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि —

(1) पूर्ण वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार जो कुछ मार्क्स के सघर्ष के सबध मे सत्य प्रमाणित तथा विश्वसनीय तथ्य दिये गये हैं वे कोई नवीन नहीं हैं। इनसे पहिले अनेक विद्वानो ने इनका वर्णन और व्याख्या की है।

(2) जो कुछ मार्क्स के वास्तव मे सघर्ष के सबध मे मूल विचार तथा कथन हैं वे वैज्ञानिकता से कोसो दूर हैं।

(3) तीसरी तथा महत्त्वपूर्ण बात मार्क्स के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे यह है कि इन्होने अग्रजो की तुलना में अपने सघर्ष सम्बन्धी विचारो को बहुत ही प्रभावपूर्ण रूप से प्रस्तुत किया है।

(4) पूर्ण रूप से वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार मार्क्स तथा एजल्स को सामाजिक विज्ञानो का डार्विन या गोलिलियो नहीं मानना चाहिए।

(5) इनके वैज्ञानिक योगदान को किसी भी आधार पर औसत से अधिक नहीं समझना चाहिए।

मार्क्स के सघर्ष की अवधारणा के सम्बन्ध में अन्य विचारो के लिए इस पुस्तक के अध्याय 10 को देखिए।

❐

अध्याय–13

सामाजिक क्रिया : पारसन्स्

(Social Action : Parsons)

सभी विज्ञान अपना अध्ययन विषय-सामग्री की लघुतम इकाई से प्रारम्भ करते हैं। समाजशास्त्र के अध्ययन की लघुतम इकाई 'सामाजिक क्रिया' है। शेलडॉन ने तो क्रिया के सम्बन्ध में यहाँ तक लिखा है कि, *"यह मौलिक इकाई है जिसका सामाजिक विज्ञान अध्ययन करते हैं।"* सभी सामाजिक विज्ञान क्रिया का अध्ययन करते हैं परन्तु उनके अध्ययन के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न होते हैं। पारसन्स, शील्स एवं साथियों ने समाजशास्त्र की लघुतम अध्यापन की इकाई 'सामाजिक क्रिया' पर विशेष जोर दिया है तथा इसके अध्ययन के आधार पर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त 'क्रिया सामान्य सिद्धान्त' (General Theory of Action) प्रतिपादित किया है। इन उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र में 'सामाजिक क्रिया की अवधारणा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस अवधारणा के पूर्ण ज्ञान के बिना समाजशास्त्र विषय को नहीं समझा जा सकता है। सामाजिक क्रिया के महत्त्व, प्रकार, विशेषताएँ एवं सिद्धान्त आदि में मैक्स वेबर, दुर्खीम, पैरेटो, पारसन्स आदि का विशेष योगदान रहा है। सामाजिक क्रिया के अर्थ, परिभाषा, तत्त्व, प्रकार आदि को समझने के लिए इनकी व्याख्याएँ प्रस्तुत हैं।

क्रिया की परिभाषा एवं अर्थ (Definitions and Meaning of Action)

क्रिया शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। इसको विद्वानों ने अनेक दृष्टिकोणों से परिभाषाएँ दी हैं। क्रिया का शाब्दिक अर्थ 'कर्म' या 'कार्य' है। 'कर्म' शब्द संस्कृत भाषा के 'कृ' धातु से बना है। 'कृ' का अर्थ है 'करना', 'हलचल' अथवा 'व्यापार'। कर्म शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में हिन्दू धर्मशास्त्रों, भारतीय दर्शन आदि में भी देखा जा सकता है। भारतीय दर्शन में सम्पूर्ण जीवन को कर्म बताते हुए लिखा गया है, "जीवन ही कर्म है।" अर्थात् व्यक्ति द्वारा कर्म करके अपने कर्त्तव्यों को पूर्ण करना ही जीवन है। इसमें कर्म को जीवन से और जीवन को कर्म से परस्पर सम्बन्धित बताया गया है। अगर हम जीवन को समझना चाहते हैं तो उसको कर्म के आधार पर ही समझना होगा। इसी प्रकार से कर्म को भी जीवन के आधार पर ही समझा जा सकता है। जीवन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक किसी भी प्रकार का हो सकता है। उनको समझने के लिए आवश्यक है कि हम उनसे सम्बन्धित क्रियाओं का अध्ययन करें। जैसे धार्मिक जीवन को समझने के लिए व्यक्ति की धार्मिक क्रियाओं का अध्ययन करना होगा। राजनीति

वैज्ञानिक व्यक्ति की राजनैतिक क्रियाओ का और अर्थशास्त्री व्यक्ति की आर्थिक क्रियाओ का अध्ययन करते हैं।

मनोवैज्ञानिक व्यक्ति द्वारा पर्यावरण से अनुकूलन करने के लिए उत्तेजना के वशीभूत होकर की जाने वाली प्रतिक्रियाओ को ही क्रिया मानते हैं। क्रिया का परम्परागत दृष्टि से अर्थ शारीरिक मानसिक एव वचन सम्बन्धी व्यवहार हैं। समाजशास्त्र मे क्रिया का अर्थ विशेष महत्त्वपूर्ण है। डेविस ने लिखा है, ''अन्य समाजविज्ञानो की अपेक्षा समाजशास्त्री को व्यक्तियो के व्यवहार की ओर निश्चय ही अवश्य ध्यान देना चाहिए क्योंकि उसकी रुचि विशेष रूप से सामाजिक क्रिया की प्रकृति को जानने मे है।'' समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाने वाला व्यवहार क्रिया कहलाता है।

सामाजिक क्रिया की परिभाषा एवं अर्थ

(Definitions and Meaning of Social Action)

समाजशास्त्र में सामाजिक क्रिया की अवधारणा को सर्वप्रथम अल्फ्रेड मार्शल के विचारो मे देखा जा सकता है। क्रिया की अवधारणा को विकसित करने का श्रेय आपको जाता है। मार्शल ने क्रिया की अवधारणा का अध्ययन उपयोगितावादी परम्परा (Utilitation Tradition) में किया। इसमें संशोधन करके आपने क्रिया को आवश्यकताओ से अलग किया। आपके अनुसार क्रिया मूल्यो की एक अवशिष्ट श्रेणी है। क्रिया की परिभाषा वेबर, पारसन्स, थियोडोरसन एवं थियोडोरसन आदि ने दी है जो निम्नलिखित हैं—

वेबर के अनुसार, ''क्रिया में वे सभी मानवीय व्यवहार सम्मिलित होते हैं, जिनके साथ क्रिया करने वाला व्यक्तिनिष्ठ अर्थ जोड़ता है।'' आपने सामाजिक क्रिया के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करते हुए इसकी निम्न परिभाषा दी है, ''किसी क्रिया को तब सामाजिक क्रिया कहा जा सकता है, जब व्यक्ति या व्यक्तियो द्वारा लगाए गए व्यक्तिनिष्ठ अर्थ के कारण वह (क्रिया) दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार से प्रभावित हो और उसके द्वारा उनकी गतिविधियाँ निर्धारित हो। वेबर के अनुसार कोई भी क्रिया जब अन्य व्यक्तियों की क्रिया से प्रभावित होती है, तब वह सामाजिक क्रिया कहलाती है। वेबर के मत में सामाजिक क्रिया और वैयक्तिक क्रिया अलग-अलग है, दोनो में काफी अन्तर है अर्थात् सामाजिक क्रिया वैयक्तिक क्रिया नहीं है। वेबर उद्देश्यपूर्ण मानव व्यवहार को ही सामाजिक क्रिया कहते हैं और जिस मानव-व्यवहार का कोई उद्देश्यपूर्ण अर्थ न निकले वह सामाजिक क्रिया की परिधि में नहीं आता है। वेबर उद्देश्यपूर्ण अर्थ से यह तात्पर्य लगाते हैं कि जो अर्थ स्वयं कर्ता अपनी क्रिया के विषय में लगाता है साथ ही दूसरो को भी उसी प्रकार की क्रिया के उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिये प्रेरित करता है।

थियोडोरसन एवं थियोडोरसन के अनुसार, ''क्रिया वह व्यवहार है जिसका व्यक्ति के लिए कुछ अर्थ होता है अर्थात् उसका व्यवहार उद्देश्य निर्देशित होता है।'' आपने आगे लिखा है, ''सामाजिक समस्या के समाधान के लिए नियोजित प्रयास सामाजिक क्रिया कहलाती है।'' आपने यह भी लिखा है कि क्रिया व्यक्ति या व्यक्तियो को प्रभावित करे या प्रभावित हो तो वह सामाजिक क्रिया है।

पारसन्स के अनुसार, "सामाजिक क्रिया कर्त्ता की परिस्थिति व्यवस्था में वह प्रक्रिया है जिसका अकेले कर्त्ता के लिए या सामूहिक रूप में उस समूह के व्यक्तियों के लिए प्रेरणात्मक महत्त्व होता है।" पारसन्स ने सामाजिक क्रिया के तीन महत्त्वपूर्ण तत्त्वों पर प्रकाश डाला है। ये हैं—(1) कर्त्ता, (2) परिस्थिति, और (3) प्रेरणा। आपके अनुसार सामाजिक क्रिया तभी हो सकती है जब कर्त्ता या कर्त्ताओं की उपस्थिति हो। ये कर्त्ता किसी-न-किसी उद्देश्य या प्रेरणा से प्रेरित हों, और किसी-न-किसी परिस्थिति में ही क्रिया करें। आवश्यक नहीं है कि परिस्थिति अनुकूल हो। प्रतिकूल परिस्थिति में भी क्रिया घट सकती है। सामाजिक क्रिया का लक्ष्य आवश्यकता की पूर्ति करना अवश्य होना चाहिए। अर्थहीन क्रिया सामाजिक क्रिया नहीं हो सकती है। विद्वानों ने सामाजिक क्रिया के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए इसके तत्त्वों पर प्रकाश डाला है जो निम्न हैं—

सामाजिक क्रिया के तत्त्व
(Elements of Social Action)

किंग्सले डेविस ने अपनी कृति मानव समाज में 'सामाजिक क्रिया के तत्त्व' शीर्षक अध्याय में इसके चार प्रमुख तत्त्वों : (1) कर्त्ता, (2) लक्ष्य, (3) स्थितियाँ, और (4) साधन का उल्लेख किया है। पारसन्स ने भी इन चार तत्त्वों का वर्णन किया है। इनकी विवेचना प्रस्तुत है।
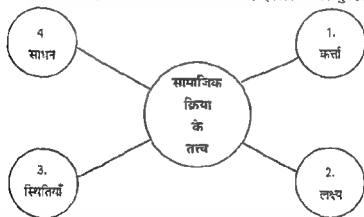
1. कर्त्ता (Actor)—डेविस की मान्यता है कि किसी भी सामाजिक क्रिया के लिए कर्त्ता का होना अत्यावश्यक है। आप लिखते हैं, "जब हम किसी क्रिया के कर्त्ता के सम्बन्ध में कहते हैं तो हमारा तात्पर्य कर्त्ता की शारीरिक रचना से नहीं होता है बल्कि उसके 'अहम्' या 'स्व' से होता है। यह 'मैं' या 'मुझे' का बोध करता है न कि वस्तुओं का। इस प्रकार अहम् विषयिक सत्ता है। इसमें जागरूकता और अनुभव होता है। यह निर्णय लेता है और भूतकाल में लिए गए निर्णयों पर प्रकाश डालता है एवं भविष्य की घटनाओं की कल्पना करता है। अन्य जीवों में मानसिक जागरूकता नहीं होती है। मानव में यह गुण होता है। इसलिए इसमें अपने कार्यों के सम्बन्ध में

निर्णय देने की वैसी ही शक्ति विद्यमान है जैसी शक्ति दूसरों में उसके कार्यों के सम्बन्ध में निर्णय देने की है। 'स्व' के लिए शरीर परिस्थिति का एक अंग मात्र है। शरीर लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए एक साधन है या एक स्थिति मात्र है। क्रिया करना तो अहम् का ही कार्य है। इसलिए कर्त्ता के अभाव में क्रिया सम्भव नहीं है।

2. लक्ष्य (End)—कर्त्ता के अनेक लक्ष्य होते हैं। उनमें से वह किसी-न-किसी लक्ष्य का चयन करके उसकी प्राप्ति के लिए क्रिया करता है। डेविस लिखते हैं कि जब लक्ष्य प्राप्त हो जाता है तो क्रिया भी समाप्त हो जाती है। क्रिया लक्ष्य के चारों ओर चलती है। जब एक लक्ष्य प्राप्त हो जाता है तो उसके बाद कर्त्ता दूसरा लक्ष्य निश्चित करता है। इस नवीन लक्ष्य के लिए क्रिया प्रारम्भ कर देता है। लक्ष्य व्यक्तिपरक होते हैं। लक्ष्य चेतन या अचेतन दोनों प्रकार के हो सकते हैं। लक्ष्यों का चयन सामाजिक मूल्यों के आधार पर होता है। अगर कोई घटना कर्त्ता के प्रयास किए बिना घट जाती है तो उसे लक्ष्य नहीं कहेंगे। डेविस ने इसे निम्न उदाहरण द्वारा समझाया है। "एक किसान चाहता है कि अगले सप्ताह में वर्षा हो लेकिन अगले सप्ताह में वर्षा होगी या नहीं, इस पर उसका कोई नियंत्रण नहीं है? इसलिए अगले सप्ताह की वर्षा की घटना किसान का लक्ष्य नहीं कहलाएगी। लेकिन अगर वह इस आशा में बीज बो दे कि यदि अगले सप्ताह वर्षा हुई तो अंकुर निकल आएँगे, तो अंकुरों का निकलना उसके लिए लक्ष्य की प्राप्ति कही जाएगी, क्योंकि किसान ने अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए बीज बोकर योजनाबद्ध तरीके से प्रयास किया है।"

3. स्थितियाँ (Conditions)—डेविस ने सामाजिक क्रिया का तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व वह परिस्थिति या स्थिति बताई है जिसमें क्रिया की जाती है। आपने लिखा है कि क्रिया के समय स्थितियों में बाधाएँ और सुविधाएँ ही विद्यमान होती हैं। अगर बाधाएँ नहीं होंगी तो कर्त्ता लक्ष्य को बिना प्रयत्न के ही प्राप्त कर लेगा और कर्त्ता को क्रिया करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। डेविस बाधाओं को ही स्थितियाँ कहते हैं। इन स्थितियों में ही क्रियाएँ की जाती हैं। आपने निम्न उदाहरण देकर इसे समझाया है। मान लीजिए कोई यात्री किसी दूसरे शहर में पहुँचना चाहता है तो वह अपना हाथ हिलाकर दूरी को कम नहीं कर सकता है। उसे दूरी को एक विद्यमान स्थिति समझकर मानना पड़ेगा और अनेक साधनों से उसे दूरी को तय करने की कोशिश करनी होगी।

डेविस के अनुसार स्थितियाँ हमेशा बाह्य नहीं होती हैं। कुछ स्थितियाँ स्वयं कर्त्ता में विद्यमान होती हैं। बहुत से व्यक्ति उच्च कोटि के सितारवादक बनना चाहते हैं परन्तु संगीत सम्बन्धी आवश्यक प्राप्ति का अभाव होने के कारण वे असफल रहते हैं। अनेक स्थितियाँ सामाजिक होती हैं और बाह्य होती हैं जैसे कानूनी—जिसका पालन कर्त्ता दण्ड के भय के कारण करता है। डेविस ने सामाजिक क्रिया से सम्बन्धित स्थितियाँ जो लक्ष्य-प्राप्ति को सीमित करती हैं उनकी उत्पत्ति के निम्न तीन स्रोत बताए हैं—(1) भौतिक पर्यावरण, (2) आन्तरिक योग्यता, और (3) समाज। मानव उन लक्ष्यों की ओर नहीं दौड़ते हैं जिनकी प्राप्ति उनके लिए सम्भव नहीं है। मात्र उन्हीं लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं जिनको वे सम्भव समझते हैं। मानव-प्राणी को इसीलिए हमेशा समझौता करने की आवश्यकता पड़ती है। सामान्यतया वे ऊँची कामना करने का साहस नहीं करते हैं और साथ ही उनकी इच्छा बहुत निम्न स्तर की कामना करने की भी नहीं होनी चाहिए।

4. साधन (Means)—मानव के लक्ष्य (आवश्यकताएँ) अनन्त हैं। उन्हें पूर्ण करने के लिए साधनों का होना आवश्यक है। साधन सीमित होते हैं। एक लक्ष्य की प्राप्ति सरल या जटिल साधनों द्वारा की जा सकती है। पत्र लिखने के लिए पेन, पेंसिल, टाइप राइटर किसी भी साधन का चयन किया जा सकता है। एक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक साधन होते हैं। साधनों का चयन कर्त्ता की क्षमता और बुद्धिमत्ता पर निर्भर करता है। सही समय पर दी हुई परिस्थिति में उपयुक्त साधन के चयन से सफलता मिल जाती है और त्रुटिपूर्ण साधन के चयन में असफलता मिलती है। साधन और लक्ष्य में चयन और पूर्ति का क्रम भी होता है। डेविस ने उदाहरण देकर इसे स्पष्ट किया है। आपने लिखा है कि परिस्थिति में जो साधन है वह दूसरी परिस्थिति में लक्ष्य बन जाता है। यदि कोई व्यक्ति मकान खरीदना चाहता है तो वह अपनी आय का कुछ भाग बचाने का साधन अपनाएगा। इसमें आय का कुछ भाग बचा लेना उसका तात्कालिक लक्ष्य होगा। इस लक्ष्य के लिए आय-व्यय का बजट बनाना या कोई अन्य उपाय करना साधन कहलाएगा। मकान खरीदने के बाद उसे किराए पर देना, कारखाना खोलना या दुकान लगाना आय में वृद्धि करने का साधन बन सकता है। मकान पहिले लक्ष्य था बाद में वह साधन बन जाता है। इस प्रकार से सामाजिक क्रिया में हम देखते हैं कि कर्त्ता लक्ष्य एवं साधनों में तार्किक रूप से सामंजस्य स्थापित करने के लिए निरन्तर प्रयासरत रहता है। अनुकूलन परिस्थितियों एवं उपयुक्त साधनों के चयन से वह सफलता प्राप्त करता है और प्रतिकूल परिस्थितियों और त्रुटिपूर्ण साधनों के चयन से उसे असफलता मिलती है।

पारसन्स : सामाजिक क्रिया

(Parsons : Social Action)

आधुनिक समाजशास्त्रियों में पारसन्स के सामाजिक क्रिया सम्बन्धी विचार और सिद्धान्त विशिष्ट स्थान रखते हैं। आपके सामाजिक क्रिया सम्बन्धी विचारों का प्रस्तुतिकरण, शब्दों का चयन एवं इसकी विशद व्याख्या समाजशास्त्रीय जगत में अनोखी मानी जाती है। पारसन्स ने सामाजिक क्रिया की विवेचना सर्वप्रथम 1937 में अपनी विश्वविख्यात पुस्तक 'दा स्ट्रक्चर ऑफ सोशियल एक्शन' में की है। आप समय-समय पर क्रिया के सिद्धान्त पर लिखते रहे हैं। 1951 में आपने सामाजिक क्रिया से सम्बन्धित दो पुस्तकें 'दा सोशियल सिस्टम' (सामाजिक व्यवस्था) और शील्स के साथ सम्पादित पुस्तक 'टूवर्ड ए जनरल थ्योरी ऑफ एक्शन' (क्रिया के सामान्य सिद्धान्त की ओर) लिखी। पारसन्स ने सामाजिक क्रिया की परिभाषा करने के साथ-साथ इसके अनेक पक्षों पर प्रकाश डाला है। अब आपके द्वारा लिखी कृतियों में सामाजिक क्रिया से सम्बन्धित व्यक्त विचारों, उनके लक्षण, प्रकारों एवं सिद्धान्तों आदि की सविस्तार विवेचना की जायेगी।

पारसन्स : सामाजिक क्रिया की परिभाषा (Parsons : Definition of Social Action)—पारसन्स ने सामाजिक क्रिया की परिभाषा निम्न शब्दों में दी है, "सामाजिक क्रिया कर्त्ता की परिस्थिति व्यवस्था में वह प्रक्रिया है जिसका अकेले कर्त्ता के लिए या सामूहिक रूप में उस समूह के व्यक्तियों के लिए प्रेरणात्मक महत्त्व होता है।" इस परिभाषा में आपने स्पष्ट

किया है कि सामाजिक क्रिया में कर्त्ता एक व्यक्ति या एक समूह हो सकता है। आपने इसे ऐसी प्रक्रिया बताया है जो कर्त्ता, परिस्थिति और सामाजिक व्यवस्था के मध्य होती है। यह प्रक्रिया कर्त्ता के लिए प्रेरणा के रूप में महत्त्वपूर्ण होती है। आपने सामाजिक क्रिया को व्यवहार के रूप मे समझाया है। कर्त्ता समाज मे दूसरे व्यक्तियो के साथ अन्त:क्रिया करने मे संलग्न रहता है। मानव अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति समाज में रहकर पूर्ण करता है। इसलिए मानव समाज मे जो कुछ भी क्रिया करता है उस क्रिया के पीछे कर्त्ता का कोई-न-कोई लक्ष्य होता है। आपके अनुसार क्रिया सम्बन्धो पर आधारित होती है। क्रिया का अर्थ तभी है जब वह किसी सम्बन्धमूलक व्यवस्था को जन्म देती है। कर्त्ता (ओ) का व्यवहार परिस्थिति मे ही हो सकता है। पारसन्स के अनुसार कर्त्ता (ओं) को परिस्थिति के प्रति अभिमुख होना आवश्यक है। आपने सामाजिक क्रिया को समझने के लिए परिस्थिति की व्याख्या की है क्योंकि क्रिया और परिस्थिति परस्पर घनिष्टतया सम्बन्धित होती हैं।

परिस्थिति का अर्थ (Meaning of Situation)—पारसन्स ने लिखा है कि परिस्थिति को तभी समझा जा सकता है जब इसका निर्माण करने वाली वस्तुओ का अध्ययन किया जाए। परिस्थिति में आपने उन्हीं वस्तुओ को सम्मिलित किया है जिनके प्रति कर्त्ता अभिमुखी होता है। कर्त्ता की अभिमुखता आवश्यकता की पूर्ति से सम्बन्धित विभिन्न वस्तुओ के प्रति भिन्न-भिन्न होती है। पारसन्स ने परिस्थिति के अन्तर्गत अभिमुखता योग्य वस्तुओ को तीन वर्गों मे बाँटा है जो निम्नानुसार है—
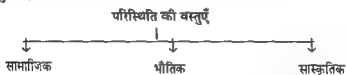
1. सामाजिक वस्तुएँ (Social Object)—पारसन्स ने सामाजिक वस्तुओ के अन्तर्गत कर्त्ता या कर्त्ताओ एवं प्रतिक्रिया करने वाले दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियो को रखा है। अर्थात् जिन व्यक्तियो के मध्य क्रिया और प्रतिक्रिया अर्थात् अन्त:क्रिया होती है उन्हे पारसन्स ने सामाजिक वस्तुएँ कहा है। सामाजिक क्रिया की परिस्थिति में वे सभी सदस्य आ जाते हैं जो एक-दूसरे के प्रति आवश्यकता की पूर्ति के लिए अभिमुखी होते हैं।

2. भौतिक वस्तुएँ (Physical Object)—भौतिक वस्तुओं के अन्तर्गत सामाजिक क्रिया से सम्बन्धित साधन और दशाएँ आती हैं। पारसन्स के अनुसार इनका आनुभविक अस्तित्व होता है। ये कर्ता से अन्त:क्रिया नहीं करते हैं। बल्कि कर्त्ता इनका उपयोग अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अपने अनुभव के आधार पर करता है।

3. सांस्कृतिक वस्तुएँ (Cultural Object)—सास्कृतिक वस्तुओ का अस्तित्व कर्त्ता के व्यक्तित्व से अलग होता है। इनका परस्पर सम्बन्ध भी सावयवी नहीं होता है। ये एक-दूसरे से स्वतंत्र होते हैं। लेकिन जब कर्ता कोई सामाजिक क्रिया करता है तथा वह सास्कृतिक वस्तुओ के सन्दर्भ मे साधन और लक्ष्यो का चयन करता है। सास्कृतिक वस्तुएँ समाज की सांस्कृतिक

परम्पराओं व प्रतीकात्मक तथ्य होते हैं। पारसन्स के अनुसार व्यक्तित्व के निर्माण में इन सांस्कृतिक वस्तुओं को कर्त्ता सीखकर आंतरिकरण करता है।

पारसन्स : क्रिया के सिद्धान्त के सन्दर्भ विन्यास के घटक

(Parsons Components of The Frame of Reference of the Theory of Action)

1. पारसन्स के अनुसार क्रिया के सिद्धान्त के सन्दर्भ विन्यास में कर्त्ताओं, क्रिया की परिस्थिति और कर्त्ता का परिस्थिति के प्रति अभिमुखन अंतर्निहित होता है।

(अ) एक या अधिक कर्त्ता (One or More Action)—इसमें एक या अधिक कर्त्ता होते हैं। कर्त्ता क्रिया की आनुभविक व्यवस्था है। कर्त्ता एक व्यक्ति या एक समूह हो सकता है जिसे सन्दर्भ बिन्दु के रूप में लेकर वस्तु के सम्बन्ध में क्रिया की प्रक्रिया के प्रति अभिमुखन के प्रकारों का विश्लेषण कर सकते हैं। इस प्रकार की आनुभविक क्रिया की व्यवस्था में क्रिया स्वयं एक परिवर्तन की प्रक्रिया की दशा है।

(ब) क्रिया की परिस्थिति (Situation of Action)—इसमें क्रिया की परिस्थिति अंतर्निहित होती है। यह बाह्य संसार का वह भाग है जिसका कोई अर्थ कर्त्ता के लिए होता है जिसके व्यवहार का विश्लेषण किया जा रहा है। यह पूर्ण का वह भाग है जिसे देखा जा सकता है। विशेष रूप से यह वह भाग है जिसमें कर्त्ता क्रिया करता है और उसके प्रति यह अभिमुख है। अत: परिस्थिति में अभिमुख की वस्तुएँ होती हैं।

(स) कर्त्ता का परिस्थिति के प्रति अभिमुखन (Orientation of the Actor to the Situation)—यह कर्त्ता को परिस्थिति से सम्बन्धित घटने वाले संवेगों, ज्ञान, योजना और सम्बन्धित मानदण्डों का सैट होता है।

2. कर्त्ता-क्रिया की व्यवस्था और सन्दर्भ बिन्दु दोनों होता है (Actor or both a System of Action and a point of Reference)—क्रिया की व्यवस्था में कर्त्ता एक व्यक्ति या सामूहिकता के रूप में हो सकता है। एक सन्दर्भ बिन्दु के रूप में कर्त्ता या तो कर्त्ता-विषय (कभी-कभी मात्र कर्त्ता कहलाता है) या एक सामाजिक वस्तु हो सकता है।

(अ) व्यक्ति या सामूहिकता में अन्तर (Individual Collectivity Distinction)—यह अन्तर इस आधार पर किया जाता है कि क्या कर्त्ता एक व्यक्तित्व व्यवस्था है या सामाजिक व्यवस्था है।

(ब) विषय-वस्तु में विभेद (Subject-Object Distinction)—यह भेद इस आधार पर किया जाता है कि क्या सन्दर्भ परिधि में कर्त्ता केन्द्र-बिन्दु है या परिधीय स्थिति में है। जब कर्त्ता को सन्दर्भ का केन्द्र-बिन्दु माना जाता है तब कर्त्ता एक विषय है। अन्तःक्रिया की परिस्थिति में यह कर्त्ता अहम् कहलाता है। जब उसे अभिमुख की वस्तु के रूप में देखा जाता है तब वह एक सामाजिक वस्तु है। इस प्रकार से दिए हुए विश्लेषण में व्यक्ति या सामूहिकता या तो कर्त्ता-विषय है या सामाजिक वस्तु है।

3 **क्रिया की परिस्थिति** (Situation of Action)—क्रिया की परिस्थिति को या तो सामाजिक वस्तुओं (व्यक्तियो या सामूहिकताओ) के वर्ग या असामाजिक (भौतिक और सास्कृतिक) वस्तुओ के वर्ग मे विभाजित किया जा सकता है।

(अ) सामाजिक वस्तुएँ (Social Objects)—सामाजिक वस्तुओ मे कर्त्ता या तो व्यक्ति या सामूहिकताओ के रूप म होता है। कर्त्ता का अभिमुखन स्वय के प्रति स्वय को वस्तु मानकर और दूसरी सामाजिक वस्तुओ के प्रति होता है। सामाजिक वस्तुओ को पारसन्स ने दो भागो मे बाँटा है। यह कर्त्ता का विभाजन 'गुण' या 'कार्य सम्पादन' के सकुलो के आधार पर क्रिया जाता है।

(i) **गुण-कार्य सम्पादन विभेद** (Quality Performance Distinction)—कर्त्ता के लिए सामाजिक वस्तु एक गुणो का सकुल हो सकता है। जब कर्त्ता दूसरे कर्त्ता को 'वह क्या है' के रूप मे देखता है न कि 'वह क्या करता है' के रूप मे तब कर्त्ता वस्तु गुण प्रधान होता है। ऐसा जाति व्यवस्था मे होता है। कर्त्ता और प्रतिकर्त्ता जन्म के आधार निश्चित प्रस्थिति के आधार पर एक-दूसरे से क्रियाएँ करते हैं। पारसन्स ने प्रदत्त प्रस्थिति को गुण प्रस्थिति कहा है।

दूसरा प्रकार कर्त्ता और प्रतिकर्त्ता के कार्य सम्पादन को क्षमता के अनुसार निश्चित किया जाता है। अर्थात् व्यक्ति कितना बुद्धिमान, ईमानदार, परिश्रमी है। सामाजिक वस्तु (कर्त्ता और प्रतिकर्त्ता) के कार्य करने की कितनी क्षमता है के आधार पर क्रिया निश्चित की जाती है तो यह दूसरा प्रकार अर्जित प्रस्थिति या कार्य सम्पादन का प्रकार कहलाता है। इस प्रकार की सामाजिक क्रिया का आधार वर्ग एवं वर्ण व्यवस्था वाले समाजो मे मिलता है।

(ii) **अभिप्राय के क्षेत्र का विभेद** (Scope of Significance Distinction)—पारसन्स का एक तात्पर्य है कि सामाजिक वस्तु से सम्बन्धित कर्त्ता असीमित एव अपरिभाषित उत्तरदायित्व को पूर्ण करने के लिए तैयार रहता है। सामाजिक वस्तु अर्थात् प्रतिकर्त्ता जो कुछ भी उत्तरदायित्व पूर्ण करने के लिए कर्त्ता से अपेक्षा रखते हैं कर्त्ता उन्हे पूर्ण करता है। इसे पारसन्स ने विसरित अभिप्राय कहा है।

दूसरा, कर्त्ता सामाजिक वस्तु से सम्बन्धित अभिप्राय का क्षेत्र सीमित रखता है। जो कुछ उत्तरदायित्व निश्चित और परिभाषित हैं मात्र उन्हीं को कर्त्ता अपना कर्तव्य समझकर सामाजिक वस्तुओ के लिए पूर्ण करने की अनुमति प्रदान करता है। इसे पारसन्स ने विशिष्ट अभिप्राय कहा है।

(ब) असामाजिक वस्तुएँ (Non Social Object)—असामाजिक वस्तुएँ कर्त्ता नहीं हैं। कर्त्ता के अतिरिक्त सभी वस्तुएँ असामाजिक वस्तुएँ हैं। असामाजिक वस्तुओ को पारसन्स ने भौतिक वस्तुओ और सांस्कृतिक वस्तुओ के आधार पर वर्गीकृत किया है, जो निम्न हैं—

(i) भौतिक वस्तुएँ वे वस्तुएँ हैं जिनको स्थान और समय के आधार पर देखा जा सकता है, जो अन्त:क्रिया नहीं करती हैं, जैसे—कर्त्ता करते हैं, और जो मात्र वस्तुएँ हैं न कि संवेगात्मक, जनात्मक और मूल्याकनात्मक अभिमुखो हैं। अत: ये साधनो, परिस्थितियो, लक्ष्य वस्तुओ, बाधाओ या महत्त्वपूर्ण प्रतीको को निर्मित करते हैं।

(ii) सांस्कृतिक वस्तुएँ सांस्कृतिक परम्परा या विरासत (जैसे—कानून, विचार) के तत्त्व हैं जब इनको अभिमुखन के तत्त्व के रूप में लिया जाता है। ये भी संवेग, ज्ञान एवं मूल्यांकन अभिमुखन के तत्त्व होते हैं। इनके द्वारा कोई भी कानून के अर्थ को समझ सकता है। ये मानकात्मक नियम का कार्य भी करते हैं।

4. **कर्त्ता का परिस्थिति के प्रति अभिमुखन** (The Orientation of the Actor to the Situation)—इस अभिमुखन के दो प्रकार बताए हैं : (अ) अभिप्रेरणात्मक अभिमुखन और (ब) मूल्य-अभिमुखन।

(अ) **अभिप्रेरणात्मक अभिमुखन** (Motivational Orientation) से तात्पर्य कर्त्ता के परिस्थिति के अभिमुखन के उस पक्ष से सम्बन्धित है जो कर्त्ता की आवश्यकता पूर्ति की वास्तविक या क्षमता द्वारा पूर्ण या अपूर्णता से सम्बन्धित है। पारसन्स ने अभिप्रेरणात्मक अभिमुखन के तीन प्रकार बताए हैं—

(i) **ज्ञानात्मक रीति** (Cognitive Mode)—ज्ञानात्मक रीति में अनेक प्रक्रियाएँ अन्तर्निहित होती हैं। इसके द्वारा कर्त्ता वस्तु को आवश्यकता-पूर्ति से सम्बन्धित करके देखता है। कर्त्ता अपने सम्पूर्ण वस्तुओं की जानकारी की दुनिया में वस्तु की स्थिति को देखता है। उसके लक्षणों और कार्यों को देखता है। दूसरी वस्तुओं से अन्तर करता है।

(ii) **संवेगात्मक रीति** (Cathectic Mode)—इसमें वे सब प्रतिक्रियाएँ अन्तर्निहित होती हैं जिनके द्वारा कर्त्ता वस्तु का उपयोग प्रभावशाली रूप में करता है। इसमें कर्त्ता द्वारा आवश्यकता पूर्ति या वंचना से सम्बन्धित वस्तुओं का उपयोग सकारात्मक या नकारात्मक रूप में तृप्ति या वंचना के सन्दर्भ में किया जाता है।

(iii) **मूल्य-अभिमुखन** (Value-Orientation)—यह उन सब पक्षों को स्पष्ट करता है जिसमें कर्त्ता का अभिमुखन निश्चित मानक, मापदण्ड, चयन के आधार, का ध्यान परिस्थिति में चुनाव के समय रखता है। मूल्य-अभिमुखन कर्त्ता को लक्ष्यों के चयन करते समय दबाव डालता है कि उसे किन-किन लक्ष्यों का चयन करना चाहिए और किन-किन का नहीं करना चाहिए। उसे यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि वह कौन-कौन-से साधन काम में ले सकता है और कौन-कौन-से साधन काम में नहीं ले सकता है। मूल्य-अभिमुखन कर्त्ता का मार्गदर्शन करते हैं कि उपलब्ध विकल्पों में से वह किन-किन का चुनाव कर सकता है। साधन और लक्ष्यों का चयन आकस्मिक नहीं होता है। बल्कि मूल्य-अभिमुखन की व्यवस्था के अन्तर्गत व्यवस्थित रूप में होता है।

मूल्य-अभिमुखन की रीतियाँ
(Mode of Value-Orientation)

पारसन्स के मूल्य-अभिमुखन की निम्न तीन रीतियों का वर्णन किया है—

मूल्य-अभिमुखन की रीतियाँ

↓ ज्ञानात्मक ↓ प्रशंसात्मक ↓ नैतिक
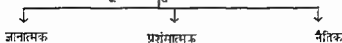
(i) ज्ञानात्मक रीति (Cognitive Mode)—मूल्य-अभिमुखन की ज्ञानात्मक रीति मे मानकों से सम्बन्धित वे विभिन्न वचन-बद्धताएँ अन्तर्निहित होती है जिनके द्वारा ज्ञानात्मक निर्णया को सत्यता, निश्चितता की जाती हैं। ये मानक विभिन्न समस्याओ के महत्त्व से सम्बन्धित होत हैं। इनमें वे श्रेणियो मे अन्तर्निहित होती हैं जिनके द्वारा अवलोकन एव समस्याओं को अचेतन रूप से मूल्याकन करके प्रमाणित बताया जाता है।

(ii) प्रशंसात्मक रीतियाँ (Appreciative Mode)—मूल्य-अभिमुखन की प्रशसात्मक रीति मे मानको से सम्बन्धित वे विभिन्न वचन बद्धताएँ अन्तर्निहित होती हैं जिनके द्वारा सवेगात्मक निर्णयो की सत्यता निश्चित की जाती है। कभी-कभी ये मानक आवश्यकता पूर्ति के विशिष्ट प्रकार के प्रतिमान का निर्माण करते हैं जैसे सगीत मे रुचि का मानक।

(iii) नैतिक रीति (Moral Mode)—मूल्य-अभिमुखन की नैतिक रीति मे मानको से सम्बन्धित वे विभिन्न वचनबद्धताएँ अन्तर्निहित होती हैं जिनके द्वारा विशिष्ट क्रियाओ के निश्चित परिणाम और क्रिया के प्रकार का मूल्यांकन किया जाता है। यह भी देखा जाता है कि क्रिया की व्यवस्था पर इनका क्या प्रभाव पड़ता है। ये मानक कर्त्ता को परिणामो के प्रति जिम्मेदारी को परिभाषित करते हैं। विशेष रूप से ये कर्त्ता की रुचियों का पथ-प्रदर्शन भी करते हैं। वे कर्त्ता की व्यक्तित्व व्यवस्था एव सामाजिक व्यवस्था के एकीकरण पर पड़ने वाले प्रभाव भी स्पष्ट करते हैं।

पारसन्स मे निम्न चित्र-1 में उपर्युक्त विवेचन का सक्षिप्तिकरण प्रस्तुत किया है। यह चित्र दर्शाता है कि क्रिया के सिद्धान्त के सन्दर्भ विन्यास मे विषय और वस्तु सम्मिलित होते हैं। मात्र कर्त्ता विषय होते हैं, वस्तु में कर्त्ता और असामाजिक वस्तुएँ आती हैं। केन्द्र का बकसा यह प्रदर्शित करता हैं कि किस प्रकार से सामाजिक व्यवस्थाएँ और व्यक्तित्व व्यवस्थाएँ एक-दूसरे मे प्रवेश करती हैं। चाहे वे वस्तु हो, अथवा विषय हो। व्यक्तित्व की क्रिया (या अभिमुखन) का खण्ड भूमिका होती है जो किसी समूह का निर्माण करती है। चित्र की तह में एक खण्ड है जो यह स्पष्ट करता है कि किस प्रकार से क्रिया के सन्दर्भ में विन्यास से सास्कृतिक व्यवस्था उभरती है।

क्रिया के सन्दर्भ में विन्यास के घटक

विषय	वस्तु
1 कर्त्ता-विषय : कर्त्ता जिसका क्रिया के प्रति अभिमुखन का विश्लेषण किया जाता है। (अन्त:क्रिया की परिस्थिति मे यह कर्त्ता 'अहम्' (Ego) कहलाता है।) कर्त्ता-विषय कभी-कभी मात्र 'कर्त्ता' कहलाता है और वह हमेशा 'क्रिया' व्यवस्था होती है। अत: कर्त्ता-विषय होता है : अ व्यक्तित्व या ब सामाजिक व्यवस्था	2. वस्तुएँ : वे वस्तुएँ जिनके प्रति कर्त्ता-विषय का अभिमुखन होता है। ये हैं : (1) सामाजिक वस्तुएँ और (2) असामाजिक वस्तुएँ। (1) सामाजिक वस्तुएँ कर्त्ता होती हैं (उदाहरण क्रिया व्यवस्था) दिए हुए विश्लेषण मे लेकिन यहाँ पर ये वस्तुएँ होती हैं न कि विषय (एक अन्त:क्रिया की परिस्थिति में ये कर्त्ता कहलाते हैं 'प्रतिकर्त्ता' सामाजिक वस्तुएँ अ अनेक व्यक्तित्व ब. सामाजिक व्यवस्थाएँ

व्यक्तित्व और सामाजिक व्यवस्थाएँ एक-दूसरे से निम्न प्रकार से सम्बन्धित होती हैं, चाहे वे विषय हों अथवा वस्तुएँ।

	व्यक्तित्व अ	व्यक्तित्व ब	व्यक्तित्व स
सामाजिक व्यवस्था 1	भूमिका 1-अ अभिमुखन पक्ष मूल्य पक्ष	भूमिका 1-ब अभिमुखन पक्ष मूल्य पक्ष	भूमिका 1-स अभिमुखन पक्ष मूल्य पक्ष
सामाजिक व्यवस्था 2	भूमिका 2-अ अभिमुखन पक्ष मूल्य पक्ष	भूमिका 2-ब अभिमुखन पक्ष मूल्य पक्ष	भूमिका 2-स अभिमुखन पक्ष मूल्य पक्ष
सामाजिक व्यवस्था 3	भूमिका 3-अ अभिमुखन पक्ष मूल्य पक्ष	भूमिका 3-ब अभिमुखन पक्ष मूल्य पक्ष	भूमिका 3-स अभिमुखन पक्ष मूल्य पक्ष
	(ii) असामाजिक वस्तुएँ हो सकती हैं : अ. भौतिक वस्तुएँ ब. सांस्कृतिक वस्तुएँ (उदाहरण : प्रतीक या प्रतीक की व्यवस्थाएँ)		

सांस्कृतिक व्यवस्था

सांस्कृतिक व्यवस्थाएँ कर्ता (विषय या वस्तु के रूप में) की सामान्य मूल्य, विश्वास और रुचियाँ हैं जो प्रतीक व्यवस्थाओं (वस्तु के रूप में) के साथ अन्तःक्रिया करते हैं। अतः उपर्युक्त रेखांकित घटक सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के रूप हैं जो क्रिया के सन्दर्भ विन्यास से निष्कर्षण किए गए हैं।

पारसन्स : क्रिया के सिद्धान्तों का मूल्यांकन

(Parsons : Evaluation of Theories of action)

पारसन्स ने कुछ क्रिया के सिद्धान्तों का मूल्यांकन किया है उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

1. क्रिया का प्रत्यक्षवादी सिद्धान्त
2. क्रिया का मानकात्मक सिद्धान्त
3. क्रिया का स्वेच्छाचालित सिद्धान्त

1 **क्रिया का प्रत्यक्षवादी सिद्धान्त** (Positivistic Theory of Action)— पारसन्स ने अपने अग्रज सामाजिक वैज्ञानिको के क्रिया के सिद्धान्त का मूल्याकन किया है। आपने सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त का एक सम्प्रदाय प्रत्यक्षवादी बताया है। इस सिद्धान्त को मानने वाले विद्वानो की मान्यता है कि व्यक्ति क्रिया करने से पूर्व लक्ष्यो एव साधनो का चयन तर्क के आधार पर करता है। यह सम्प्रदाय क्रिया से सम्बन्धित तीन तत्त्वो : (1) लक्ष्य (2) साधन, और (3) तार्किकता को मानता है। यह सम्प्रदाय मानकात्मक तत्त्व का उल्लेख अलग से नहीं करता है। इसका मानना है कि मानकात्मक लक्षण तार्किकता मे अन्तर्निहित है। उनका अलग से वर्णन करने का कोई औचित्य नहीं है। पारसन्स के अनुसार इस सिद्धान्त को मानने वाले दुर्खीम और मार्क्स हैं। लेकिन पारसन्स ने लिखा है कि इन दोनो समाजशास्त्रियो ने अपने अन्तिम विचारो मे मानको को भी सामाजिक क्रिया का प्रमुख तत्त्व माना है।

2 **क्रिया का मानकात्मक सिद्धान्त** (Normative Theory of Action)— पारसन्स ने लिखा कि मैक्स वेबर एव उनके जर्मन विचारको ने सामाजिक क्रिया का मानकात्मक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, जिसके अनुसार कर्त्ता क्रिया करने से पूर्व लक्ष्य एव साधनो का चयन समाज के प्रचलित मानको के अनुसार करता है। इन विद्वानो की मान्यता रही है कि तार्किकता का लक्षण मानकात्मक निर्णय की प्रक्रिया मे अन्तर्निहित है। उसकी अलग से चर्चा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। आपने स्पष्ट किया है कि मैक्स वेबर ने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों मे सामाजिक क्रिया को महत्त्वपूर्ण तत्त्व तार्किकता पर भी अलग से प्रकाश डाला है जब आपने नौकरशाही अवधारणा की विवेचना की है।

3 **पारसन्स का क्रिया का स्वेच्छाचालित सिद्धान्त** (Parsons Voluntaristic Theory of Action)— पारसन्स ने क्रिया के प्रत्यक्षवादी और मानकात्मक सिद्धान्तो को मूल्याकन करने के बाद पाया कि ये दोनो सिद्धान्त एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं। आपने प्रत्यक्षवादी सिद्धान्त मे मानको को तार्किकता मे तथा मानकात्मक सिद्धान्त में तार्किकता को मानको मे अन्तर्निहित माना है। अगर प्रत्यक्षवादी सिद्धान्त मे मानको को तथा मानकात्मक सिद्धान्त मे तार्किकता को स्पष्ट रूप से जोड़ दे तो सामाजिक क्रिया का एक पूर्ण वैज्ञानिक सिद्धान्त बन जाता है। आपने इसी सिद्धान्त को स्वेच्छाचालित सिद्धान्त कहा है। आपके इस सिद्धान्त के चार तत्त्व हैं—(1) लक्ष्य, (2) साधन, (3) तार्किकता, और (4) मानक। इस सिद्धान्त को पारसन्स ने क्रिया का विश्लेषणात्मक सिद्धान्तभी कहा है। इस सिद्धान्त को पारसन्स ने अपनी प्रथम कृति 'दा स्ट्रक्चर ऑफ सोशियल एक्शन' मे प्रतिपादित किया है।

सामाजिक क्रिया के तीन पक्ष (Three Aspect of Social Action)— पारसन्स, शील्स एवं ओल्ड्स ने सामाजिक क्रिया के निम्न तीन पक्ष बताए हैं—(1) सास्कृतिक पक्ष, (2) व्यक्तित्व पक्ष, और (3) सामाजिकपक्ष। इन तीनो पक्षो के साथ अपने निम्न तीन व्यवस्थाओ का सविस्तार वर्णन किया है—(1) सांस्कृतिक व्यवस्था, (2) व्यक्तित्व व्यवस्था और (3) सामाजिक व्यवस्था। इन तीनो पक्षो एवं व्यवस्थाओं का अध्ययन क्रमश: मानवशास्त्र, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र करते हैं। जब ये तीनो विज्ञान सामाजिक क्रिया का अध्ययन करते हैं तो इन

विज्ञानों के परिप्रेक्ष्य एवं अध्ययन के आधार एवं चर विशिष्ट होते हैं। पारसन्स, शील्स एवं साथियों ने सम्पादित पुस्तक टूवर्ड ए जनरल थ्योरी ऑफ एक्शन में इन विज्ञानों के द्वारा सामाजिक क्रिया के अध्ययन के आधार इस प्रकार बताए हैं।

1. मानवशास्त्र एवं सामाजिक क्रिया (Anthropology and Social Action)— मानवशास्त्र सामाजिक क्रिया के सांस्कृतिक पक्ष का अध्ययन करके सांस्कृतिक व्यवस्था की व्याख्या करने एवं सिद्धान्त प्रतिपादित करने का प्रयास करता है। मानवशास्त्र सामाजिक क्रिया का क्रमबद्ध अध्ययन एवं विश्लेषण मानकात्मक प्रतिमान (Normotive Pattern) के आधार पर करता है। इस विज्ञान का यह ज्ञात करने का प्रयास रहता है कि क्रिया किन सामाजिक मानकों, मूल्यों, आदर्शों, प्रथाओं, संस्थाओं आदि के द्वारा नियंत्रित, निर्देशित और संचालित होती हैं। मानकात्मक प्रतिमान समाज सम्मत क्रियाओं को करने की अनुमति प्रदान करता है और समाज विरोधी क्रियाओं को रोकने का कार्य करता है। सांस्कृतिक प्रतिमान के अन्तर्गत निम्न तीन प्रमुख व्यवस्थाएँ होती हैं—(1) विचार या विश्वास व्यवस्था, (2) अभिव्यक्ति योग्य प्रतीक व्यवस्था और मूल्य अभिमुखता व्यवस्था।

2. मनोविज्ञान एवं सामाजिक क्रिया (Psychology and Social Action)— मनोविज्ञान क्रिया का अध्ययन आवश्यकता पूर्ति के दृष्टिकोण से करके व्यक्तित्व व्यवस्था को समझने एवं उससे सम्बन्धित सामान्यीकरण करने का प्रयास करता है। पारसन्स एवं साथियों की मान्यता है कि व्यक्तित्व का विकास सामाजिक अन्तःक्रिया के द्वारा होता है। व्यक्ति अपनी भोजन, वस्त्र, आवास आदि आवश्यकताओं की पूर्ति समाज में रहकर ही कर सकता है। पारसन्स आदि ने आवश्यकता पूर्ति को समाज द्वारा विकल्पों के चुनाव की एक प्रक्रिया माना है। व्यक्ति समाज में समाजीकरण के द्वारा एक व्यक्तित्व व्यवस्था के रूप में विकसित हो जाता है जिसमें निम्न चार प्रकार के चर कार्य करते हैं—(1) प्रेरणा, (2) विनिधान या बँटवारा की प्रक्रिया, (3) सुरक्षा व समायोजन की यांत्रिकता (क्रियाविधि), और (4) एक गत्यात्मक व्यक्तित्व के रूप में विभिन्न आवश्यकता पूर्तियों का एकीकरण। पारसन्स एवं साथियों ने लिखा है कि व्यक्तित्व एक स्वतन्त्र पक्ष होते हुए भी वह अन्य पक्षों से जुड़ा होता है जिसे पूरक भूमिकाओं के अन्तर्गत देखा जा सकता है। इन विद्वानों के अनुसार मनोविज्ञान सामाजिक क्रिया के अध्ययन के द्वारा व्यक्तित्व व्यवस्था को समझने का प्रयास करता है। आपने यह भी लिखा है कि व्यक्ति में संस्कृति का आन्तरिकरण ही व्यक्तित्व व्यवस्था है।

3. समाजशास्त्र और सामाजिक क्रिया (Sociology and Social Action)— पारसन्स एवं साथियों ने लिखा है कि जिस प्रकार से क्रिया का अध्ययन मानवशास्त्र मानकात्मक प्रतिमान तथा मनोविज्ञान आवश्यकता पूर्ति के आधार पर करता है उसी प्रकार से समाजशास्त्र क्रिया का अध्ययन भूमिका समुच्चय (सेट) के आधार पर करता है। आपने लिखा है कि जिस प्रकार मानवशास्त्र सांस्कृतिक व्यवस्था को तथा मनोविज्ञान व्यक्तित्व व्यवस्था को क्रिया के अध्ययन के द्वारा समझने का प्रयास करते हैं उसी प्रकार से समाजशास्त्री क्रिया के अध्ययन के द्वारा सामाजिक व्यवस्था को समझने का प्रयास करते हैं। पारसन्स एवं साथियों ने सामाजिक व्यवस्था की प्रथम

इकाई सामाजिक भूमिका को बताया है जिसे स्पष्ट करते हुए इन्होंने इसे भूमिकाओं की अन्त क्रिया कहा है।

भूमिकाओ के समुच्चय मे जो पात्र होते हैं उनके कुछ उद्देश्य होते हैं। इन उद्देश्यो की पूर्ति क्रिया मे भाग लेने वाले पात्र समाज सम्मत नियमो, मूल्यो आदि के आधार पर करते हैं। इससे जो सम्बन्धो का स्वरूप निर्मित होता है उस पारसन्स एव साथी सामाजिक व्यवस्था कहते हैं। आपके अनुसार सामाजिक व्यवस्था का निर्माण मानकात्मक प्रतिमानो के आधार पर होता है। आपने स्पष्टत: लिखा भी है कि सस्कृति का सस्थाकरण (Institutionalization) ही सामाजिक व्यवस्था है। समाज का निर्माण कुछ सामान्य मूल्यो के आधार पर होता है। सामाजिक व्यवस्था की एक विशेषता यह है कि इसमे सभी व्यवहार एव सामूहिक अन्त क्रियाएँ सम्बन्धोन्मुख होती हैं। *सामाजिक व्यवस्था मे सहयोग, प्रतिस्पर्धा, प्रतियोगिता, सघर्ष आदि को व्यवस्थित एवं* नियन्त्रित करने के अनेक साधन होते हैं। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि समाज स्वय मे एक व्यवस्था है। पारसन्स एवं साथियो ने लिखा है कि सामाजिक क्रिया करने से पूर्व कर्त्ता के सामने कुछ दुविधाएँ आती हैं। उनको हल करने एव विकल्प का चयन करने के बाद ही कर्त्ता क्रिया करता है। ये दुविधाएँ एवं विकल्पो के चयन निम्नलिखित हैं—

अभिविन्यास की दुविधा एवं परिवर्ती प्रतिमान
(Dilemmas of Orientation and the Pattern Variables)

पारसन्स, शील्स और ओल्ड्स ने लिखा है कि क्रिया के सिद्धान्त में परिवर्ती प्रतिमानो का विशेष महत्त्व है। आपने लिखा है कि कर्त्ता क्रिया की परिस्थिति में अनेक अभिविन्यासो की दुविधाओं की शृंखलाओं का सामना करता है। कर्त्ता को प्रमुख विकल्पो की शृखलाओ का चयन करना पड़ता है तभी उसे परिस्थिति का निश्चित अर्थ, समझ मे आता है। कर्त्ता को परिस्थिति के निर्णायक अर्थ को समझने के लिए सर्वप्रथम विकल्पो की शृंखला का चयन करना होता है। पारसन्स और उनके साथियो की यह मान्यता है कि कर्त्ता को पाँच विशिष्ट दुविधा विकल्पो का चयन करना पड़ता है तथा उसके बाद ही उसके लिए परिस्थिति अर्थपूर्ण हो जाता है। इन्हीं पाँच दुविधाओ को जो कर्त्ता को विकल्पो के एकाधिक उपाय प्रदान करते हैं—पारसन्स एवं साथियो ने परिवर्ती प्रतिमान कहा है। इन्होंने परिवर्ती प्रतिमान को निम्न परिभाषा दी है—

"परिवर्ती प्रतिमान एक द्विधापत्ति है जिसके एक पक्ष का चयन कर्त्ता को परिस्थिति के अर्थ का निर्णय करने से पहिले करना होता है और उसके बाद ही वह परिस्थिति के अनुसार क्रिया करता है।"

पारसन्स एवं साथियो ने लिखा है कि हम यह मानते हैं कि केवल पाँच मौलिक परिवर्ती प्रतिमान होते हैं जिनको क्रिया के सिद्धान्त के सन्दर्भ विन्यास से सीधे ही व्युत्पन्न किया है, एक व्यवस्था का निर्माण करते हैं। इन्होंने इनको निम्न सूची दी है जिसमें उनको क्रम संख्या, एक नाम प्रदान किया है जिससे इनकी विवेचना सरलतापूर्वक की जा सके।

परिवर्ती प्रतिमानों की सूची

1 भावात्मकता-भावात्मक तटस्थता

2. स्व -अभिविन्यास-सामूहिक अभिविन्यास

3 सर्वव्यापकतावाद विशिष्टतावाद

4 प्रदत्त-अर्जित

5 विस्तृतता विनिर्दिष्टता

परिवर्ती प्रतिमानों की परिभाषाएँ

(The Definitions of Pattern Variables)

(1) संवेग की तृप्ति बनाम अनुशासन द्विधापत्ति : भावात्मकता-तटस्थता (The Dilemma of gratification of Impulse versus Discipline Affectivity-Neutrality)—यह प्रतिमान उस दुविधा से सम्बन्धित है जब कर्ता दी हुई परिस्थिति में एक निश्चित संवेग या प्रवृत्ति को तृप्त करने की समस्या का सामना करता है कि वह उसे पूर्ण करे अथवा अपने पर नियंत्रित रखे। अगर परिस्थिति संवेग को पूर्ण करने की अनुमति देती है तब तो कर्ता भावात्मकता परिवर्ती प्रतिमान का चयन कर सकता है। अगर परिस्थिति कर्ता को अपने संवेग, प्रवृत्ति या उत्तेजना को नियंत्रित रखने को बाध्य करती है तो कर्ता को भावात्मक तटस्थता परिवर्ती प्रतिमान का चयन करना होगा।

पारसन्स एवं साथियों ने सभी प्रतिमान के चयन के सम्बन्ध में सांस्कृतिक पक्ष, व्यक्तित्व पक्ष और सामाजिक व्यवस्था पक्ष के अनुसार भी अलग-अलग व्याख्याएँ की हैं जो इस प्रकार हैं—

(अ) सांस्कृतिक पक्ष (Cultural Aspect)

भावात्मकता ([illegible])—इस प्रतिमान में मानकात्मक प्रतिमान कर्ता को अपनी प्रवृत्ति को तृप्त करने की अनुमति प्रदान करता है।

भावात्मकता तटस्थता (Affective Neutrality)—इसमें मानकात्मक प्रतिमान कर्ता को दी हुई परिस्थिति में स्वयं की इच्छाओं और संवेगों पर नियन्त्रण रखने का आदेश देता है।

(ब) व्यक्तित्व पक्ष (Personality Aspect)

भावात्मकता (Affectivity)—आवश्यकता पूर्ति के दृष्टिकोण से कर्ता इस प्रतिमान के अनुसार एक दी हुई परिस्थिति में, अवसर का लाभ उठाने और अपने संवेग को पूर्ण करने की अनुमति प्राप्त करता है।

भावात्मकता तटस्थता (Affective Neutrality)—इसमें आवश्यकता पूर्ति के दृष्टिकोण से कर्ता को अपने संवेगों पर नियंत्रण रखना होता है। कर्ता परिस्थिति का लाभ उठाकर अपने संवेगों, इच्छाओं एवं प्रवृत्ति की तृप्ति नहीं कर सकता है। उसे अनुशासित रहना होगा।

(स) सामाजिक व्यवस्था पक्ष (Social System Aspect)

1. भावात्मकता (Affectivity)—इसमें भूमिका अपेक्षा के अनुसार भूमिका करने वाला पदधारी दी हुई परिस्थिति में वस्तुओं के प्रति अपनी निश्चित प्रतिक्रिया स्वतंत्र रूप से व्यक्त कर सकता है। उसे अनुशासन के प्रति स्वयं पर नियंत्रण रखने की कोई आवश्यकता नहीं है।

2. भावात्मक तटस्थता (Affective Neutrality)—इसमें भूमिका अपेक्षा के अनुसार भूमिका करने वाले पदधारी को अनुशासन का ध्यान रखते हुए अपने सवेगों पर नियंत्रण रखना होगा। वह अपने सवेगों को व्यक्त नहीं कर सकता है।

(2) निजी बनाम सामूहिक अभिरुचियाँ द्विधापत्ति स्व-सामूहिक अभिविन्यास (The Dilemma of Private Versus Collective interests Self-collective Orientation)—इसे पारसन्स एवं साथियों ने निजी अनुमति और सामूहिक उत्तरदायित्व के बीच वितरण की दुविधा भी बताया है। दी हुई परिस्थिति में जब उच्च आवृत्ति में अभिरुचियों में असन्तुलन होता है तब निजी लक्ष्यों और सामूहिक लक्ष्यों के मध्य चयन करने की समस्या आती है। इस दुविधा का समाधान कर्त्ता द्वारा या तो स्वयं के हित का चयन करके होता है या फिर उन अभिरुचियों को प्राथमिकता देकर किया जाता है जो समूह के लिए लाभकारी हैं जिनमें कर्त्ता भी लाभ का हिस्सेदार है।

(अ) सांस्कृतिक पक्ष (Cultural Aspect)

1. स्व-अभिविन्यास (Self-Orientation)—इसमें मानकात्मक प्रतिमान के अनुसार दी हुई परिस्थिति में कर्त्ता को एक सीमा तक अपने निजी हितों को पूर्ण करने के लिए अवसर का लाभ उठाने की अनुमति होती है। उसे दूसरे कर्त्ताओं की अभिरुचियों का ध्यान रखने की कोई आवश्यकता नहीं है।

2. सामूहिक-अभिविन्यास (Collective-Orientation)—इसमें मानकात्मक प्रतिमान कर्त्ता के सामूहिक उत्तरदायित्व को परिभाषित करता है। मानकात्मक प्रतिमान कर्त्ता के उस क्षेत्र का वर्णन करता है जिसमें उसे सामूहिकता का ध्यान रखना होता है। उन मूल्यों का चयन करना होता है जिनके द्वारा वह अन्य सदस्यों के साथ उत्तरदायित्व पूर्ण करता है।

(ब) व्यक्तित्व पक्ष (Personality Aspect)

1. स्व-अभिविन्यास (Self-Orientation)—प्रतिमान के चयन से आवश्यकता पूर्ति के दृष्टिकोण से कर्त्ता को अपने लक्ष्य को पूर्ण करने की अनुमति होती है। उसे उस समूह का ध्यान रखने की आवश्यकता नहीं है जिनका वह सदस्य है।

2. सामूहिक-अभिविन्यास (Collective Orientation)—इसमें आवश्यकता पूर्ति के दृष्टिकोण से कर्त्ता को दी हुई परिस्थिति में उन मूल्यों का ध्यान रखना होता है जिनका वह दूसरों के साथ अर्थात् सामूहिकता के साथ हिस्सेदार है। अर्थात् वह पराहम् के द्वारा अभिमुखी होता है। कर्त्ता निजी हित को छोड़कर सामूहिक हित के मूल्यों का चयन करता है।

(स) सामाजिक व्यवस्था पक्ष (Social System Aspect)

1. स्व-अभिविन्यास (Self-Orientation)—इसमें भूमिका अपेक्षा के अनुसार भूमिका पदधारी दी हुई परिस्थिति में अपने हितों सम्बन्धी मूल्यों को प्राथमिकता देता है। दूसरे कर्त्ताओं के हितों का ध्यान रखने की उसे आवश्यकता नहीं है।

2. सामूहिक-अभिविन्यास (Collective-Orientation)—इसमें भूमिका अपेक्षा के अनुसार भूमिका करने वाले पदधारी को सीधे ही सामूहिकता के हितों एवं मूल्यों का ध्यान रखना होता है जिस सामूहिकता का वह सदस्य है। जब सामूहिक और निजी हितों में टकराव की स्थिति आती है जो इस प्रतिमान के अनुसार उसे सामूहिक हितों एवं मूल्यों को प्राथमिकता देने की उससे अपेक्षा रखी जाती है।

(3) अनुभवातीतता बनाम सर्वव्यापकता की द्विधापत्ति : सर्वव्यापकतावाद-विशिष्टतावाद (The Dilemma of Transcendence Versus Immanence Universalism-Particularism)— जब कर्त्ता किसी परिस्थिति का सामना करता है तो उसके सामने ये दुविधा आती है कि वह वस्तु को परिस्थिति में सामान्य मानकों के अनुसार व्यवहार करे अथवा वस्तु को विशिष्ट वर्ग के अनुसार मानकर व्यवहार करे। इस द्विधापत्ति का हल मानकों के मापदण्ड को प्राथमिकता देकर किया जा सकता है जो अधिकतम सामान्यीकृत होते हैं अथवा मूल्य के उस मापदण्ड को प्राथमिकता देकर दुविधा को हल किया जा सकता है जो मूल्य कर्त्ता और वस्तु के विशिष्ट सम्बन्धों की व्यवस्था से सम्बन्धित हैं।

(अ) सांस्कृतिक पक्ष (Cultural Aspect)

1. सर्वव्यपाकतावाद (Universalism)—इसमें मानकात्मक प्रतिमान के अनुसार कर्त्ता को दी हुई परिस्थिति में सदस्य के प्रति सामान्य मानदण्डों के अनुसार व्यवहार करने की अनुमति प्रदान करता है न कि उसके गुणों के अनुसार व्यवहार करने की छूट देता है।

2. विशिष्टतावाद (Particularism)—इसमें मानकात्मक प्रतिमान कर्त्ता को व्यक्ति के साथ व्यक्ति की विशिष्टताओं के अनुसार मानदण्डों का चयन करके व्यवहार करने के आधार निश्चित करता है।

(ब) व्यक्तित्व पक्ष (Personality Aspect)

1. सर्वव्यापकतावाद (Universalism)—इस परिवर्ती के अनुसार आवश्यकता पूर्ति के दृष्टिकोण से दी हुई परिस्थिति में कर्त्ता व्यक्ति के प्रति सामान्य मानदण्डों के अनुसार व्यवहार करता है न कि व्यक्ति की विशिष्ट विशेषताओं को ध्यान में रखकर करता है।

2. विशिष्टतावाद (Particularism)—इसमें आवश्यकता पूर्ति के अनुसार दी हुई परिस्थिति में कर्त्ता अपनी और प्रतिकर्त्ता की विशिष्ट विशेषताओं को ध्यान में रखकर विशिष्ट मापदण्डों एवं मूल्यों के आधार पर क्रिया करता है। वह सामान्यीकृत नियमों के अनुसार व्यवहार नहीं करता है।

(स) सामाजिक व्यवस्था पक्ष (Social System Aspect)

1. सर्वव्यापकतावाद (Universalism)—भूमिका अपेक्षा के अनुसार दी हुई परिस्थिति मे उन मानको एव मानदण्डो को प्राथमिकता दी जाती है जो पूर्ण रूप से सामान्यीकृत शब्दावली के द्वारा परिभाषित होते हैं। ये कर्त्ता और प्रतिकर्त्ता के विशिष्ट सम्बन्धो प्रस्थिति आदि से स्वतत्र होते हैं।

2. विशिष्टतावाद (Particularism)—इसमे भूमिका अपेक्षा के दृष्टिकोण से सदस्यता की योग्यता एव विभिन्न व्यवहार के लिए निर्णय की प्राथमिकता उन मापदण्डो के अनुसार निश्चित की जाती है जो कर्त्ता और प्रतिकर्त्ता के विशिष्ट सम्बन्धो और विशेषताओ पर आधारित होते हैं। इसमे सामान्योकृत सार्वभौमिक वर्ग की विशेषताओ का ध्यान नही रखा जाता है।

(4) सदस्यो की प्रकारताओ की द्विधापत्ति : प्रदत्त-अर्जित (The Dilemma of Object Modalities Ascribed-Achieved)—जब कर्त्ता परिस्थिति मे वस्तु (व्यक्तियो) का सामना करता है तो उसके सामने यह दुविधा आती है कि वह उसके साथ कैसे व्यवहार करे। वह उन व्यक्तियो को उनकी कार्य कुशलता की क्षमता के अनुसार व्यवहार करे, अथवा वे जो कुछ हैं उसके अनुसार व्यवहार करे। इस दुविधा का समाधान वह दो प्रकार से कर सकता है। पहिला वह सदस्यो को उनकी विशेषताओ (जन्म के आधार पर) को प्राथमिकता दे अथवा दूसरा उनकी कार्य क्षमता (निष्पादन) को प्राथमिकता दे।

(अ) सांस्कृतिक पक्ष (Cultural Aspect)

1. प्रदत्त (Ascription)—इसमे मानकात्मक प्रतिमान यह निर्धारित करता है कि कर्त्ता दी हुई परिस्थिति मे सदस्यो को चयन करने में उनमे विद्यमान निश्चित लक्षणो को प्राथमिकता दे, जैसे—सामूहिक सदस्यता, आधिपत्य, पात्रमूलकता आदि। वह उस सदस्य को किसी भी विशिष्ट कार्य कुशलता (भूत, वर्तमान या भावी) का ध्यान नहीं रखेगा। ऐसा जाति व्यवस्था मे होता है।

2. अर्जित (Achievement)—मानकात्मक प्रतिमान यह निर्धारित करता है कि दी हुई परिस्थिति मे कर्त्ता को सामाजिक वस्तुओ (सदस्यो) को उनकी विशिष्ट कार्य क्षमताओ (भूत, वर्तमान या भावी) का ध्यान रखकर क्रिया करेगा न कि उनमे विद्यमान लक्षणो (सदस्यता, आधिपत्य आदि) का ध्यान रखेगा। इसका उदाहरण वर्ग व्यवस्था में होता है।

(ब) व्यक्तित्व पक्ष (Personality Aspect)

1. प्रदत्त (Ascription)—आवश्यकता-पूर्ति के अनुसार कर्त्ता दिए हुए चयन के बिन्दु पर सामाजिक वस्तु (सदस्यो) को उनमे विद्यमान लक्षणो के आधार पर क्रिया करेगा न कि उनको भूत, वर्तमान या भावी कार्य कुशलताओं की क्षमताओं के आधार पर। ऐसा जाति व्यवस्था में होता है।

2. अर्जित (Achievement)—आवश्यकता-पूर्ति के अनुसार कर्त्ता दिए हुए चयन के बिन्दु पर सामाजिक वस्तु (सदस्यो) को उनकी विशिष्ट कार्य करने की क्षमता (भूत, वर्तमान

या भावो) के आधार पर क्रिया करेगा न कि उनके लक्षणों के आधार पर। वह उनकी क्षमता, बुद्धि कौशल के अनुसार व्यवहार करेगा। ऐसा वर्ग-व्यवस्था मे देखा जा सकता है।

(स) सामाजिक-व्यवस्था पक्ष (Social System Aspect)

1. **प्रदत्त (Ascription)**—भूमिका अपेक्षा के अनुसार भूमिका पदधारी अपना अभिमुखन सामाजिक वस्तु (सदस्यों) के प्रति दी हुई परिस्थिति में वस्तुओं (सदस्यों) को उनके जन्मजात लक्षणों को प्राथमिकता देगा न कि उनकी वास्तविक कार्य क्षमता को।

2. **अर्जित (Achievement)**—भूमिका अपेक्षा के अनुसार भूमिका पदधारी अपना अभिमुखन सामाजिक वस्तु (सदस्यों) के प्रति दी हुई परिस्थिति में वस्तुओं (सदस्यों) को उनके उन लक्षणों एवं विशेषताओं को प्राथमिकता देगा जो वास्तविक या अपेक्षित कार्य क्षमताओं से सम्बन्धित हैं और जिनका सम्बन्ध सीधी ही कार्यकुशलताओं से है न कि उन विशेषताओं को महत्त्व देगा जो विशिष्ट कार्यकुशलताओं से स्वतंत्र है। जैसे जन्म पर आधारित सदस्य को महत्त्व नहीं देना। व्यक्ति की स्वयं के द्वारा प्राप्त उपलब्धियों को महत्त्व देना।

(5) सदस्य के महत्त्व के क्षेत्र की द्विधापत्ति : विस्तृतता-विनिर्दिष्टता (The Dilemma of the Scope of Significance of the Object Diffuseness-Specificity)—पाँचवा परिवर्ती प्रतिमान एक सदस्य का दूसरे सदस्यों के साथ सामाजिक सम्बन्धों के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र के निर्धारण करने से सम्बन्धित है। सदस्य दूसरे सदस्यों के साथ सीमित या विशिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने का चयन करता है अथवा असीमित और सामान्य सम्बन्ध स्थापित करने के या चयन करने के लिए स्वतंत्र है। दुविधा यह है कि या तो वह अन्य सदस्यों के अनेक पक्षों के प्रति क्रिया करे अथवा कुछ सीमित पक्षो के प्रति सम्बन्धित रहे।

(अ) सांस्कृतिक पक्ष (Cultural Aspect)

1. **विस्तृतता (Diffuseness)**—इसमें मानकात्मक प्रतिमान दी हुई परिस्थिति में यह निर्धारित करता है कि कर्त्ता को पूर्व में किसी भी निश्चित निर्देशों का जो कर्त्ता या अन्य सदस्यों के लाभ से सम्बन्धित है, ध्यान नहीं रखना चाहिए। बल्कि जैसे-जैसे परिस्थितियाँ उभरती हैं उनके अनुसार महत्त्व के क्षेत्र की भिन्नता और व्यापकता में भी परिवर्तन आना चाहिए। ऐसा ग्रामीण समाजों के संयुक्त परिवार के सदस्यों में देखा जा सकता है।

2. **विनिर्दिष्टता (Specificity)**—इसमें मानकात्मक प्रतिमान दी हुई द्वि-परिस्थिति में यह निर्धारित करता है कि कर्त्ता को अपने से सम्बन्धित बात के लिए व्यक्ति से निर्दिष्ट क्षेत्र तक ही सीमित रहना चाहिए और अन्य सम्भव आनुभविक क्षेत्रों मे प्रवेश नहीं करना चाहिए।

(ब) व्यक्तित्व पक्ष (Personality Aspect)

1. **विस्तृतता (Diffuseness)**—आवश्यकता पूर्ति के दृष्टिकोण से कर्त्ता को अपनी तथा अन्य सदस्यों की प्रकृति तथा कर्त्ता के साथ वास्तविक सम्बन्धों में वास्तविक स्थिति के महत्त्व में जैसे-जैसे परिवर्तन आता है उसके अनुसार प्रतिक्रिया करनी चाहिए। अर्थात् कर्त्ता और

प्रतिकर्ताओ के सम्बन्धो के महत्त्व के क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक और विस्तृत होते हैं। एमा परम्परागत सयुक्त परिवार के सदस्यो मे मिलता है।

2. विनिर्दिष्टता (Specificity)—आवश्यकता पूर्ति के दृष्टिकोण से कर्ता को सदस्यो के साथ उसी सीमा तथा रीति से प्रतिक्रिया करनी होगी जेसा महत्त्व का सन्दर्भ व दायित्व सदस्यो के साथ पूर्व निर्दिष्ट है। इसमे परिस्थिति के परिवर्तन के साथ महत्त्व के क्षेत्र को बदला नहीं जा सकता है।

(स) सामाजिक व्यवस्था पक्ष (Social System Aspect)

1 विस्तृतता (Diffuseness)—इसमे भूमिका अपेक्षा के अनुसार भूमिका पदधारी सम्बन्धित चयन बिन्दु पर किसी भी सदस्य को महत्त्वपूर्ण समर्थता जिसमे दायित्व भी सम्मिलित है, और वह दूसरो रुचियाँ ओर दायित्व को पूर्ण करने मे समर्थ है, को प्राथमिकता उस सीमा तक देगा जिस सीमा तक उससे पूर्ण करने को आशा की जाती है। वह अपनी भूमिका अभिमुखता सदस्य के निर्दिष्ट महत्त्व तक सोमित नहीं रखेगा।

2. विनिर्दिष्टता (Specificity)—इसमे भूमिका अपेक्षा के अनुसार भूमिका पदधारी, सम्बन्धित चयन बिन्दु पर सदस्य के प्रति एक निश्चित सीमा तक ही अभिमुखी होगा। वह सीमित क्षेत्र तक ही अपनी प्राथमिकताओ को पूर्ण करेगा जिसकी उससे अपेक्षा एव आशा की जाती है। वह उन कर्तव्यो एवं दायित्वो को पूर्ण नहीं करेगा जिनको स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं किया गया है। ऐसा नगरीय समाजो एव आधुनिक समाजो के कर्त्ताओ और सदस्यो के मध्य देखा जा सकता है।

पारसन्स एव साथियो ने क्रिया के सिद्धान्त की व्याख्या समाजशास्त्र, मानवशास्त्र और मनोविज्ञान को ध्यान मे रखकर की है। आपने परिवर्ती प्रतिमानो मे भी इसको स्पष्ट किया है। इन पाँच प्रतिमानो मे से ''प्रदत्त अर्जित एव विस्तृतता विनिर्दिष्टता से समाजशास्त्र के अधिक निकट है। सर्वव्यापकतावाद-विशिष्टतावाद सांस्कृतिक मानवशास्त्रीय प्रतिमान है। भावात्मकता-भावात्मक तटस्थता मनोवैज्ञानिक है। स्व-सामूहिक अभिविन्यास मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय दोनों ही है। वैसे पाँचो प्रतिमान सस्कृति से अधिक प्रभावित एव निकटता रखते हैं। समाजशास्त्र के इतिहास में पारसन्स के इन परिवर्ती प्रतिमानो का विशेष प्रभाव रहा है। इनके विचारो का मूल्यांकन समय-समय पर अनेक प्रबुद्ध समाजशास्त्रियो द्वारा किया जाता रहा है। पारसन्स का यह सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण होते हुए भी आलोचनाओ से स्वतंत्र नहीं है। इनकी प्रमुख आलोचनाएँ निम्न हैं—

पारसन्स के क्रिया के सिद्धान्त की आलोचना

(Criticism of Parsons' Theory of Action)

पारसन्स के क्रिया के सिद्धान्त के प्रमुख आलोचक मैक्स ब्लैक, सोरोकिन, मिचैल, गाउल्डनर, कोहेन आदि हैं। पारसन्स की प्रमुख आलोचना यह है कि इन्होने अति क्लिष्ट भाषा

का उपयोग किया है। ब्लैक ने पारसन्स की भाषा से सम्बन्धित आपत्ति उठाई है। आपने लिखा है कि आपने एक अर्थ के लिए अनेक क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग किया है। पारसन्स की भाषा सम्बन्धी दूसरी आलोचना यह है कि आपने एक ही बात को बढ़ा-चढ़ाकर अनेक पृष्ठों में लिखा है जिसे सरल भाषा में कुछ पृष्ठों में लिखा जा सकता था।

(1) मैक्स ब्लैक द्वारा आलोचना (Criticism by Max Black)

1 मैक्स ब्लैक ने पारसन्स की प्रमुख आलोचनाएँ निम्न की हैं। आपका कहना है कि पारसन्स एक ऐसे सिद्धान्तवेत्ता हैं जिनके पास आनुभाविक एवं प्रयोगसिद्ध तथ्य नहीं हैं। मार्टिन्डेल ने भी लिखा है कि इनकी कृतियों में आपको कहीं पर न तो आँकड़े, तालिकाएँ एवं तथ्य मिलेंगे और न ही परीक्षण सम्बन्धी सूचनाएँ। आप दोनों के अनुसार पारसन्स का सिद्धान्त अवलोकन पर आधारित तथ्यों से बहुत दूर है। पारसन्स ने सिद्धान्त के निर्माण में सन्तुलन स्थापित करने वाले तत्वों का उल्लेख मात्र किया है। आपके सिद्धान्त को आर्थिक प्रारूप के दृष्टिकोण से स्थाई माना जाता है।

2 ब्लैक ने लिखा है कि परिवर्ती प्रतिमानों के अन्तर्गत प्रयुक्त 'चयन' शब्द का अर्थ 'संकीर्ण एवं जोरदार' लिया गया है। यह कहना पारसन्स का त्रुटिपूर्ण है कि क्रिया की योजना बनाते समय व्यक्ति के सम्मुख इस प्रकार के परिवर्ती प्रतिमान होते हैं। बीरस्टीड ने ताश के खेल का उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया है कि खिलाड़ी ताश खेलते समय इन परिवर्ती प्रतिमानों का प्रयोग करेगा तो खेलना सम्भव ही नहीं हो पाएगा।

3. ब्लैक ने पारसन्स के सिद्धान्त में तर्क सम्बन्धी कमी बताते हुए लिखा है कि तार्किक दृष्टि से इनके सिद्धान्त में मूलतत्व का अभाव है।

4. पारसन्स ने परिवर्ती प्रतिमान को सतत् (निरन्तरता) नहीं माना है। ये इन्हें द्वि-पक्षीय एवं विरोधी मानते हैं जबकि क्रिया में इनके मध्य की स्थिति भी देखी जा सकती है।

5. ब्लैक के अनुसार परिवर्ती प्रतिमान सामान्य सिद्धान्त के लिए आवश्यक नहीं है।

6. पारसन्स परिवर्ती प्रतिमानों की सूची और बढ़ा सकते थे। क्योंकि कर्ता की अभिवृत्तियों को अनेक आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है। ब्लैक ने उदाहरण दिया है जैसे वैयक्तिक-अवैयक्तिक, रुचिपूर्ण-रुचिरहित आदि। पारसन्स ने भी लिखा है कि परिवर्ती प्रतिमान और भी हो सकते हैं। फिलिप सेल्ज़निक ने भी इस प्रकार की आलोचना की है।

(2) बीरस्टीड द्वारा आलोचना (Criticism by Bierstedt)

बीरस्टीड ने पारसन्स के सिद्धान्त की आलोचना करते समय लिखा है कि परिवर्ती प्रतिमान की योजना विभेदीकरण का उपयुक्त यंत्र नहीं है। आपने लिखा, "मात्र इतना कहना पर्याप्त होता कि कुछ सम्बन्ध प्रस्थिति-सम्बन्ध होते हैं, जैसे—कर संग्राहक व करदाता में। कुछ सम्बन्ध वैयक्तिक भी होते हैं जैसे अभिभावक एवं बच्चे के मध्य। इन सम्बन्धों में तारतम्य एवं सतत् लक्षण पाते हैं न कि द्विआधारित।"

(3) सोरोकिन द्वारा आलोचना (Criticism by Sorokin)

सोरोकिन ने पारसन्स के सामान्य सिद्धान्त और क्रिया के सिद्धान्त की अग्रलिखित आलोचनाएँ की हैं—

(1) पारसन्स के क्रिया सिद्धान्त की अवधारणाएँ स्पष्ट नहीं हैं। पारसन्स द्वारा प्रयोग की गई अवधारणाएँ अस्पष्ट और भ्रामक हैं। (2) पारसन्स के क्रिया के सिद्धान्त द्वारा मानव की सभी क्रियाओ की व्याख्या करना सम्भव नहीं है। यह सिद्धान्त मानव को कुछ क्रियाओ पर ही लागू होता है। (3) पारसन्स के क्रिया के सिद्धान्त के द्वारा क्रिया की सरचना एव लक्षणो की व्याख्या स्पष्ट नहीं होती है। (4) इनके सिद्धान्त के माध्यम से क्रिया की व्यवस्था को पूर्ण रूप से समझा नही जा सकता है। (5) पारसन्स का क्रिया का सिद्धान्त कर्त्ता के सम्बन्ध मे बहुत कम या कुछ भी स्पष्ट रूप से नही कहता है। (6) पारसन्स को क्रिया का सिद्धान्त का मुख्य पक्ष चेतन क्रिया है जिसके सम्बन्ध मे पारसन्स ने बहुत कम एव अपर्याप्त व्याख्या की है।

निष्कर्ष मे सोरोकिन ने लिखा है कि क्रिया के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे पारसन्स का सिद्धान्त अपर्याप्त है तथा इससे सम्बन्धित वैज्ञानिक सिद्धान्त के लिए अभी और इन्तजार करना होगा।

(4) मिचैल द्वारा आलोचना (Criticism by Mitchell)

आपने लिखा है कि पारसन्स के क्रिया के सिद्धान्त मे सघर्ष को कोई स्थान नहीं दिया गया है। यह पारसन्स के सिद्धान्त की बडी कमी है। मिचैल ने पारसन्स के सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए लिखा है कि आपके सिद्धान्त की अनेक कमियाँ हैं। आपके सिद्धान्त के अनेक आलोचक एव प्रशसक देखे जा सकते हैं। पारसन्स ने समाज मे एकात्मकता, मूल्य तथा मानक आदि को महत्त्व दिया है जबकि समाज में सघर्ष शोषण और दमन आदि जैसे तत्व भी विद्यमान होते हैं। इन पर पारसन्स ने ध्यान नहीं दिया है। यह इनके सिद्धान्त की बडी कमी है।

(5) कोहेन द्वारा आलोचना (Criticism by Cohen)

कोहेन ने पारसन्स के आलोचको को निम्न तीन वर्गों मे विभाजित किया है—(1) वे आलोचक जो गलत प्रश्न रखते हैं और उनका गलत समाधान प्रस्तुत करने के लिए पारसन्स की आलोचना करते हैं, (2) कुछ आलोचक पारसन्स द्वारा उठाए गए प्रश्नो का अलग-अलग उत्तर देते हैं, और (3) वे आलोचक जो पारसन्स की आलोचना करते हैं परन्तु उनके कुछ भौतिक तर्कों को स्वीकार करते हैं। प्रथम वर्ग के आलोचको के सम्बन्ध मे कुछ नहीं कहा जा सकता है। दूसरे प्रकार के आलोचक मानते हैं कि पारसन्स ने मतैक्य एवं मूल्य उन्मेष पर सघर्ष, उत्पीडन तथा प्रभुत्व के मूल्य पर जोर दिया है। परन्तु इन पर समुचित प्रकाश नहीं डाला गया है। डाहरेनडार्क ने पारसन्स द्वारा उठाए गए मुद्दों को तो स्वीकार किया है परन्तु समाधानो को अस्वीकार किया है। आप कोहेन के अनुसार इस दूसरे प्रकार के वर्ग के आलोचको मे आते हैं। लाकवुड तीसरी श्रेणी के आलोचक हैं। आप पारसन्स के कुछ भौतिक तर्कों को स्वीकार करते हैं परन्तु साथ ही उनकी आलोचना भी करते हैं।

पारसन्स के कई आलोचकों की मान्यता है कि पारसन्स द्वारा प्रस्तुत व्यवस्था गत्यात्मक नहीं है। पारसन्स का कर्त्ता कभी भी क्रिया करता हुआ नहीं देखा जाता है। वह कभी भी लक्ष्य को प्राप्त नहीं करता है। लेविस फ्यॉर ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि पारसन्सवादी व्यवस्था में क्रिया की क्रियाहीनता में अनूदित होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस कमी को पारसन्स के सभी आलोचक बताते हैं।

निष्कर्ष (Conclusion)—गाउल्डनर ने लिखा है कि आधुनिक समाजशास्त्र पर पारसन्स के सिद्धान्त का प्रभाव ही नहीं है बल्कि इनके सिद्धान्त का आन्तरिक महत्त्व भी सिद्धान्त के रूप में है। आज संसार में कोई भी ऐसा समाजशास्त्री नहीं है जिसका शैक्षणिक समाजशास्त्र पर पारसन्स के प्रभाव का आधा भी प्रभाव हो। उनका आज भी समाजशास्त्र में यांत्रिक प्रभाव काफी है। आपके सिद्धान्त का प्रभाव समाजशास्त्र के सैद्धान्तिक जगत में व्यापक रूप से देखा जा सकता है।

❒

अध्याय-14

भारत में समाजशास्त्रीय चिन्तन का विकास

(Development of Sociological Thought ın India)

भारत मे समाजशास्त्रीय चिन्तन के विकास को अति प्राचीनकाल से देखा जा सकता है। भारत का लिखित इतिहास अति प्राचीन है। भारत के प्राचीन ग्रन्थो मे भारतीय समाज के विकास से सम्बन्धित पाठीय सामग्री प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है। भारतीय समाजशास्त्र एक विषय के रूप मे नवीन है लेकिन भारतीय समाज के क्रमबद्ध और व्यवस्थित वर्णन और व्याख्या को प्राचीन ग्रन्थो मे देख सकते हैं। समाजशास्त्रीय चिन्तन के विकास के स्रोत को पाठीय सामग्री को निम्न पाँच भागो मे वर्गीकृत करके देख सकते हैं। ये हैं--(1) भारतीय धर्म ग्रन्थ, (2) ऐतिहासिक समसामयिक ग्रन्थ, (3) पुरातत्व सम्बन्धी साक्ष्य, (4) विदेशियो के विवरण, और (5) मध्यकालीन फारसी और अरबी साहित्य। इसके अतिरिक्त भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तन के विकास को अग्रलिखित शीर्षको के अन्तर्गत क्रम से देखना चाहिए। सुधारवादी आन्दोलनो का प्रमुख राजनैतिक आन्दोलनो का प्रभाव एवं समाजशास्त्रीय विकास मे भारत विद्याशास्त्रियो का योगदान। इन्हीं शीर्षको के अन्तर्गत भारत मे समाजशास्त्रीय चिन्तन का विकास निम्नानुसार है--

(1) भारतीय धर्म ग्रन्थ (Indian Relıgıons Books)--प्राचीन भारत मे ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्मों की प्रधानता थी। इन धर्म ग्रन्थो के पाठीय अध्ययन द्वारा भारत में समाजशास्त्रीय चिन्तन के विकास का परिदृश्य तैयार किया जा सकता है। प्रमुख पाठीय ग्रन्थ ब्राह्मण धर्म ग्रन्थ, बौद्ध धर्म ग्रन्थ और जैन धर्म ग्रन्थ हैं। इन धर्म ग्रन्थो मे ब्राह्मण धर्म ग्रन्थ मे चार वेद, 13 प्रमुख उपनिषद, वेदांत, सूत्र ग्रन्थ, स्मृति साहित्य, महाकाव्य, पुराण आदि हैं। इन ग्रन्थो के पाठीय अध्ययनों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारतीय समाज एव संस्कृति की दशा कैसी थी? भारतीय समाज के विकास से सम्बन्धित सामग्री के महत्त्वपूर्ण स्रोत स्मृति साहित्य, महाकाव्य और पुराण भी हैं, जैसे--मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य, नारद, वृहस्पति, पारासर स्मृतियो एव रामायण, महाभारत, प्राचीनतम महाकाव्य उल्लेखनीय स्रोत हैं। समाजशास्त्र के विकास मे भारत विद्याशास्त्रियो ने तत्कालीन राजनैतिक भौगोलिक संस्कृति समृद्धि और रहन-सहन आदि का विस्तृत विवेचन किया है।

बौद्ध धर्म ग्रन्थ और जैन धर्म ग्रन्थ मे भी क्रम से भारत को सामाजिक, सास्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है।

(2) पुरातत्व सम्बन्धी साक्ष्य (Evidences Related to Archaeology)— भारत में समाजशास्त्रीय चिन्तन का विकास भारत मे उपलब्ध पुरातत्व सामग्री, जैसे—अभिलेख, कलाकृतियाँ, स्मारक भग्नावशेष मिट्टी के बर्तन और सिक्कों के आधार पर भी देखा जा सकता है। ये साक्ष्य प्राचीन भारत के शासकों, सामन्तो तथा समृद्ध लोगो ने स्मृतियों के लिए लिखवाए थे। समाजशास्त्रीय अध्ययनों के लिए इन अभिलेखों में समकालीन भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ मिलती हैं।

(3) विदेशियों के विवरण (Foreigner's Descriptions)—प्राचीन भारतीय समाज के संदर्भ में विदेशी लेखको के विवरण तथा ग्रन्थ उपलब्ध हैं। यूनानी लेखकों ने छठी शताब्दी ईसा पूर्व से भारतीय सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में निरन्तर कुछ न-कुछ लिखा है। सिकन्दर के पूर्व के लेखकों की रचनाओ मे भारतीय समाज के विवरण मिलते हैं। सिकन्दर के बाद के लेखक मेगस्थनीज ने 'इण्डिका' व्यापक ग्रंथ अपने प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर लिखा। चीनी लेखकों में सुमाचीन ने ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में ग्रंथ लिखे। ऐसे ही अनेक विदेशियो के विवरणों में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भारत की धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एव आर्थिक सम्बन्धी बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध है।

(4) मध्यकालीन फारसी एवं अरबी साहित्य (Medeaval Farsi and Arabic Literature)—मध्यकालीन भारतीय समाज के अध्ययन के स्रोत फारसी और कुछ अरबी में हैं। ये प्रमुख स्रोत—तारीखे-उल-हिन्द-ताज-उल-मासिर, बाबरनामा, हुमायूँनामा, अकबरनामा, आईने-अकबरी—इस साहित्य के कुछ उदाहरण हैं। ऐसे ग्रन्थ लगभग संख्या में 40 से ऊपर हैं जिनमें अपने-अपने काल के भारतीय समाज की तत्कालीन सामाजिक सांस्कृतिक विशेषताओं का वर्णन मिलता है। इनमें समाजशास्त्रीय चिन्तन के विकास को देखा जा सकता है।

(5) ब्रिटिश प्रभाव (British Impact)—भारतीय समाज के विकास पर ब्रिटिश शासनकाल के अनेक प्रभाव पड़े हैं जिन्होंने भारतीय समाज में अनेक परिवर्तन किए हैं। ब्रितानिया सरकार ईसाई मिशनरियों और शिक्षा के कारण भारतीय समाज मे सुधार आन्दोलन, मध्यम वर्ग का उदय, औद्योगीकरण, व्यक्तिवादिता, पूँजीवाद आदि विभिन्न विचारधाराओं का प्रचार और प्रसार हुआ। ब्रिटिश प्रभाव के कारण नगरीकरण, परिवर्तन एवं राष्ट्रीयता की भावना आदि का उद्‌भव एवं विकास हुआ है। कुछ समाजशास्त्रियों ने ब्रिटिश प्रभाव को पश्चिमी अथवा योरोपीय संस्कृति का वाहक कहा है। के.एम. पणिक्कर के अनुसार, "ब्रिटिश शासन की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि भारत का एकीकरण थी।"

ब्रितानिया सरकार ने भारत में पाठशालाएँ, विद्यालय, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालय आदि खोले। भारत में शासन तथा प्रशासन चलाने के लिए भारतीयों को शिक्षित करना, नए-नए कानून बनाना, औद्योगीकरण करना, प्रेस लगाना आदि कार्य भी किए। भारत में स्वतः ही सांस्कृतिक आधुनिकीकरण हो गया। इन सबके प्रभाव से भारत का एकीकरण हुआ, राष्ट्रीयता की विचारधारा का विकास हुआ।

1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। इसने स्वतन्त्रता आन्दोलन चलाया और 1947 ई. में भारत देश स्वतंत्र हुआ। हिन्दुओं के सामाजिक रीति रिवाज तथा व्यवस्थाओं में भी अनेक परिवर्तन हुए।

(6) *सुधार आन्दोलनों का प्रभाव* (Impact of Reform Movements)— भारत में समाजशास्त्रीय चिन्तन के विकास में सुधारवादियों के आन्दोलनों का विशेष प्रभाव पड़ा है। मध्यम वर्ग ने भारतीय समाज में सुधार के लिए 19वीं तथा 20वीं शताब्दी में अनेक प्रयास किये। सुधारवादियों का प्रयास भारत में धार्मिक और सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में सुधार करना था। कुछ उल्लेखनीय सुधारक बंगाल के राजा राममोहन राय, महाराष्ट्र के न्यायाधीश महादेव गोविन्द रानाडे, राधाकान्त देव, दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द आदि हैं। राजा राममोहन राय ने वेदों के साथ ईसाई धर्म की शिक्षाओं का समावेश करके देशवासियों को प्रगतिशील बनाने का प्रयास किया। आपने सती प्रथा, बाल हत्या आदि बुराइयों और अन्धविश्वासों को दूर करने का प्रयास किया। इन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की। रानाडे ने प्रार्थना समाज की स्थापना की जो ब्रह्म समाज पर आधारित था। दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना की थी। आपने जातिवाद, अन्धविश्वासों और अनुष्ठानों जैसी हानिकारक परम्पराओं को दूर करने का प्रयास किया और वेदों की पुरातन शुद्धता को स्थापित करने का प्रयास किया। आपने भारत में परम्परा और आधुनिकता का समन्वय करके नवीन शिक्षा का सूत्रपात किया तथा उत्तर भारत में दयानन्द एंग्लो वैदिक महाविद्यालय स्थापित किए। विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। इसके प्रमुख निम्न दो उद्देश्य रखे। पहला, शिक्षित भारतवासियों को समाज के कमजोर वर्गों के विकास के लिए उत्साहित करें और गरीबी तथा पिछड़ेपन का उन्मूलन करने का प्रयत्न करें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आपने आदिवासी, ग्रामीण और नगरीय क्षेत्रों में पाठशालाएँ और छात्रावासों की स्थापना की। इससे आपने सामान्य लोगों में शिक्षा का प्रसार किया और बेरोजगारी को दूर करने का प्रयास किया। दूसरा, भारतीय वेदों का पश्चिमी देशों में प्रचार और प्रसार किया जाए। इसके लिए आपने अनेक पश्चिमी देशों में आध्यात्मिक जागरूकता के लिए कई केन्द्र खोले।

इन उपर्युक्त सुधारवादी आन्दोलनों से भारतीय समाज में समाजशास्त्र के उदय की पृष्ठभूमि तैयार हुई।

(7) राजनैतिक आन्दोलन का प्रभाव (Impact of Political Movement)— समाजशास्त्र के विकास में राजनैतिक आन्दोलनों का प्रभाव 1885 से देखा जा सकता है। आक्टेवियस ह्यूम ने इस वर्ष राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की। गाँधी जी ने इस कांग्रेस दल को जनसाधारण की राजनैतिक पार्टी बना दिया जिसके अधिकतर सदस्य-किसान दस्तकार, नगर के व्यापारी और औद्योगिक मजदूर थे। राष्ट्रीय कांग्रेस मुख्य रूप से राजनैतिक गतिविधियों में व्यस्त रही। धार्मिक आन्दोलन ने अप्रत्यक्ष रूप से इस आन्दोलन में सहयोग दिया। राजनैतिक आन्दोलन से राजनैतिक जागृति उत्पन्न हुई और धार्मिक आन्दोलन ने लोगों में आत्मविश्वास पैदा किया। भारतीय समाजशास्त्र के विकास में इन उपर्युक्त वर्णित सांस्कृतिक धार्मिक और राजनैतिक आन्दोलनों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

समाजशास्त्रीय चिन्तन की वैचारिक पृष्ठभूमि (Intellectual Background of Sociological Thought)—भारत मे समाजशास्त्र के विकास में वैचारिक पृष्ठभूमि का विशेष प्रभाव पड़ा। वैचारिक पृष्ठभूमि प्रदान करने वाले प्रमुख विद्वान आनदकुमार स्वामी, विनयकुमार सरकार विशेष उल्लेखनीय हैं। विनयकुमार सरकार का कहना था कि भारतीय समाज मे भौतिकवादिता एवं धर्म निरपेक्षता दोनो ही विशेषताएँ विद्यमान थीं। आनंदकुमार स्वामी ने कला के विकास पर जोर दिया तथा कला के माध्यम से जनसाधारण मे जागृति पैदा की। आपको भारत का प्रारम्भिक सामाजिक व्यक्ति माना जाता है जिनके योगदान से भारतीय समाजशास्त्र का विकास सम्भव हो पाया है। स्वामी ने परम्परा और आधुनिकता के अन्तर को स्पष्ट किया तथा पूर्व और पश्चिम की तुलना करके भारत के अध्यात्मवाद और मूल्यों को अन्य संस्कृतियों से श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास किया।

अंग्रेजी शासको ने भारत में प्रशासन चलाने के लिए यहाँ के रीति-रिवाजों, सामाजिक संस्थाओं, प्रथाओं, मूल्यों को समझा। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए अनेक अंग्रेज प्रशासकों, विद्वानों जैसे हर्बट रिजेल, हट्टन, विल्सन, विडेन पावर आदि ने भारतीय जनसमुदाय और इनकी विभिन्न संस्कृतियों का गहनता से अध्ययन किया जो आगे चलकर समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र के उद्भव और विकास में पृष्ठभूमि प्रदान करने में सहायक रहा। 1914 मे बम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। 1919 में बम्बई पैट्रिक गैडिस की अध्यक्षता में समाजशास्त्र और नागरिक शास्त्र विभाग की स्थापना हुई। इसी प्रकार से 1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में, 1921 में लखनऊ विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विषय के अध्ययन के केन्द्र बने और विभागों की स्थापना हुई।

समाजशास्त्र के विकास में भारत विद्याशास्त्रियों का योगदान (Contribution of Indologist in the Development of Sociology)—भारत में समाजशास्त्र के विकास में भारतीय और पाश्चात्य भारत विद्याशास्त्रियों का विशेष योगदान रहा है। उल्लेखनीय भारत विद्याशास्त्री-सर विलियम जेम्स, हेनरी मेन, अल्फ्रेड लायल, मैक्समूलर, कुमार स्वामी, बी.के. सरकार, राधाकमल मुकर्जी, जी.एस. घुर्ये, डी.पी. मुखर्जी आदि गिनाए जा सकते हैं। इन विद्वानों ने भारत और उसकी संस्कृति के विभिन्न पक्षों का गहनता से अध्ययन किया तथा भारत की समृद्ध प्राचीन संस्कृति और दार्शनिक परम्परा पर प्रकाश डाला। मैक्समूलर ने संस्कृत भाषा को सीखकर और भारत के प्राचीनतम महाकाव्यों, वेदों, साहित्यिक कृतियों आदि का अनुवाद करके लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया। इसी क्रम से भारत के भारत विद्याशास्त्रियों ने अनेक विषयों का अध्ययन संस्कृत वाङ्मय में किया, जिसके प्रभाव से भारतीय समाजशास्त्र का उदय और विकास सम्भव हो सका।

अग्रलिखित पृष्ठों में भारत में समाजशास्त्रीय चिन्तन के विकास में प्रमुख भारत विद्याशास्त्री जी.एस. घुर्ये, डी.पी. मुकर्जी और आर. के. मुकर्जी के योगदान की विवेचना की जाएगी। ☐

अध्याय-15

जी. एस. घुर्ये का योगदान

(Contribution of G. S. Ghurye)

(1893-1983)

जीवन-चित्रण (Life Sketch)

जी एस घुर्ये का जन्म एक सारस्वत ब्राह्मण परिवार मे 12 दिसम्बर, 1893 मे महाराष्ट्र के मालवा प्रान्त में हुआ था। आप बाल्यकाल से ही प्रतिभाशाली और कुशाग्रबुद्धि थे। आपका शैक्षणिक जीवन उच्च कोटि का रहा। आपने सभी परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की थीं। आपने सस्कृत में एम ए 1918 मे और बाद मे अग्रेजो मे एम ए एल्फिन्स्टन महाविद्यालय, मुम्बई से प्रथम श्रेणी-प्रथम स्थान मे उत्तीर्ण करके स्वर्ण पदक प्राप्त किया था। मुम्बई विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर पैट्रिक गेड्डिड को 1919 मे समाजशास्त्र को पढाने के लिए नियुक्त किया था। उस समय घुर्ये एल्फिन्स्टन महाविद्यालय मे सस्कृत के प्राध्यापक थे तथा गेड्डिस के भाषणो को सुनने जाया करते थे। ब्रिटिश विश्वविद्यालय मे समाजशास्त्र मे प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए गेड्डिस ने घुर्ये का चयन किया। इनकी सिफारिश पर घुर्ये को लन्दन भेजा गया। घुर्ये पहिले तो प्रो एल टी हाबहाउस के साथ कुछ समय तक अध्ययन करते रहे। उसके बाद आप डब्ल्यू आर एच रिवर्स के पास अध्ययन के लिए कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय चले गए। वहाँ आपने अनेक लेख लिखे। आपने रिवर्स के निर्देशन मे "Ethic Theory of Caste" विषय पर शोध कार्य किया परन्तु घुर्ये का शोध कार्य पूर्ण होने से पहिले ही रिवर्स का देहान्त हो गया था। घुर्ये पर रिवर्स का बहुत प्रभाव पडा जिसने घुर्ये की रुचि मानवशास्त्रीय विषयो, जैसे—नातेदारी, प्रसारवाद आदि की ओर पैदा की।

घुर्ये कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त करके 1923 मे वापिस भारत आए। आपको समाजशास्त्र विभाग, मुम्बई विश्वविद्यालय के रीडर एव विभागाध्यक्ष पद पर 1924 मे पैट्रिक गेड्डिस के बाद नियुक्त किया गया। दस वर्ष बाद 1934 मे आपको पदोन्नत कर प्रोफेसर का पद प्रदान किया गया। आप इस पद से 1959 में सेवानिवृत्त हुए थे। आपकी प्रतिभा का लाभ उठाने के लिए मुम्बई विश्वविद्यालय ने एक नवीन पद—प्रोफेसर एमरीटस का प्रावधान करके यह पद आपको 1960 मे प्रदान किया जिस पर आप अपनी मृत्यु (1983) तक कर्मठ कार्यकर्ता की तरह कार्य करते रहे। आपने 30 पुस्तकें अग्रेजो तथा एक पुस्तक मराठी मे लिखी है। आपकी तत्कालीन पुस्तक "The Burning Cauldron of North-East India" 1980 है। घुर्ये ने लिखा

था कि वेस्टरमार्क की पुस्तक History of Marriage ने उन्हे समाजशास्त्र के लिए प्रभावित किया। आपने एम ए. स्तर के 800 डॉक्टरेट की उपाधि के लिए शोध कार्य किया। आपके शिष्य विश्वस्तर के समाजशास्त्री बने उनमे कुछ उल्लेखनीय वैज्ञानिक एम एन श्रीनिवास के एम कापड़िया, ए.आर देसाई, वाई बी डामले,. एम एस ए राव आदि हैं। आपने भारत के अनेक समाजशास्त्र के प्राध्यापकों को शिक्षा दी थी। आप 1945-50 तक 'एन्थ्रोपोलॉजिकल सोसायटी ऑफ बाम्बे' के अध्यक्ष रहे। भारतवर्ष में समाजशास्त्र के विकास और विस्तार के लिए अवर्णनीय कार्य किए हैं, तथा इण्डियन सोशियोलॉजिकल सोसायटी की स्थापना की। इस सोसायटी के तत्त्वावधान में आपने भारतीय स्तर की प्रथम समाजशास्त्रीय पत्रिका 'सोशियोलॉजिकल बुलेटिन' के प्रकाशन का शुभारम्भ किया जो आज की पत्रिकाओं मे गिनी जाती है। आप इसके 1966 तक प्रथम अध्यक्ष रहे।

जी.एस. घुर्ये ने भारत में समाजशास्त्र को एक महत्त्वपूर्ण विषय के रूप मे स्थापित किया तथा अपनी कार्यकुशलता, वैज्ञानिक शोध, लेखन, निर्देशन का अभूतपूर्व क्षमता, अध्ययन-अध्यापन एवं संगठन के द्वारा भारत मे समाजशास्त्र को अल्पकाल में उचित स्थान प्रदान करवाया है। आपने भारतीय समाज से सम्बन्धित समाजशास्त्रीय शोध तथा सिद्धान्तो के निर्माण द्वारा समाजशास्त्रीय साहित्य का विकास किया तथा अपने शिष्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के अनुसन्धान करवाकर भारतीय समाजशास्त्रियों की एक समृद्ध पीढ़ी का विकास किया। घुर्ये के सम्बन्ध में एक बार डी.पी. मुखर्जी ने कहा था, *"आज घुर्ये ही एकमात्र भारतीय समाजशास्त्री हैं। अन्य भारत में समाजशास्त्री हैं।"* घुर्ये ने स्वयं भी उच्च स्तर के अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ 30 विश्व विख्यात पुस्तकें अंग्रेजी में लिखी हैं, जिनमें से कुछ का वर्णन प्रस्तुत है—

घुर्ये की प्रमुख रचनाएँ
(Major Works of Ghurye)

जी. एस. घुर्ये ने अपने दीर्घ कार्यकाल में अनेक रचनाएं ऐतिहासिक तथा भारतशास्त्री विधि के अनुसार लिखी हैं इनमें से कुछ प्रमुख रचनाएँ हैं—

1 दा एबोरिजिन्स—सो काल्ड एण्ड देयर फ्यूचर, 1943

2 इण्डियन साधूस, 1953

3. कॉस्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया का संशोधित एवं परिवर्तित संस्करण प्रकाशित हुआ। कॉस्ट एण्ड रेस इन इण्डिया और इसका संशोधित एवं परिवर्तित संस्करण प्रकाशित हुआ। कॉस्ट, क्लास एण्ड आक्यूपेशन, 1961 इसका हिन्दी संस्करण है— *जाति, वर्ग और व्यवसाय।*

4. सिटीज एण्ड सिविलाइजेशन, 1962

5. फेमिली एण्ड किन इन इण्डो-यूरोपियन कल्चर, 1962

6. दा शेड्यूल्ड ट्राइब्स, 1963

7. कल्चर एण्ड सोसायटी, 1963

8. एन्थ्रोपो-सोशियोलॉजिकल पेपर्स, 1963

9 सोशियल टेन्शन्स् इन इण्डिया, 1968

10 *रेस रिलेशन्स् इन नीग्रो अफ्रीका।*

घुर्ये की उपर्युक्त वर्णित प्रमुख कृतियों में से कुछ का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—

1. *अनुसूचित जनजातियाँ (The Scheduled Tribes)* 1963—घुर्ये की कृति The Scheduled Tribes मे भारत की जनजातियो की समस्याओ और उनके समाधान के सम्बन्ध म विस्तारपूर्वक विवेचना की गई है। यह कृति आपकी पहिले प्रकाशित पुस्तक "The Aboriginals so called and their Future" का सशोधित तथा परिवर्द्धित सस्करण है। इसमे भारत की कुछ प्रमुख जनजातियो के सामाजिक सगठन, धर्म, नातेदारी, परिवार, विवाह आदि का सम्पूर्ण विवरण दिया गया है।

पुस्तक की अध्यायवार विषय-योजना निम्नानुसार है। प्रथम अध्याय मे घुर्ये ने जनजातियो के विभिन्न नामो—*जनजाति, आदिवासी, मूल निवासी, अनुसूचित जनजातियों आदि की विवेचना* की है। भारत मे विभिन्न जनगणना प्रतिवेदनों मे इनके लिए प्रयुक्त किए गए नामो का भी उल्लेख किया गया है। अध्याय दो और तीन मे जनजातियो का अन्य लोगो, जैसे—हिन्दू, ईसाई आदि से सम्पर्क के परिणामस्वरूप उत्पन्न समस्याओं और तनावो का वर्णन किया गया है। जनजातियो के प्रति अंग्रेजो की नीति का वर्णन अध्याय चार और पाँच मे किया गया है। अध्याय सात मे विभिन्न विद्वानो के दृष्टिकोणो को देने के साथ-साथ घुर्ये ने अपना मत भी व्यक्त किया है। अध्याय आठ से ग्यारह मे घुर्ये ने भारत की प्रमुख जनजातियो के सामाजिक-धार्मिक जीवन, उनकी सामाजिक *संरचना एवं संगठन, विवाह, परिवार एवं नातेदारी की विवेचना की है। आपने वेरियर एल्विन,* हट्टन और मजूमदार आदि वैज्ञानिको के द्वारा सुझाए गए जनजातियो की समस्याओं के समाधान का मूल्यांकन किया है तथा स्वयं ने समस्या के समाधान का सुझाव आत्मसात् बताया है। आपके अनुसार जनजातियो को सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक सभी समस्याओ के समाधान के लिए हिन्दू समाज के साथ आत्मसात् करना चाहिए।

(2) नीग्रो अफ्रीका में प्रजातीय सम्बन्ध (Race Relations in Negro Africa)—घुर्ये ने इस पुस्तक मे अफ्रीका में प्रजाति पर आधारित भेदभाव तथा नीग्रो समस्याओ का विश्लेषण *किया है। आपने दक्षिण अफ्रीका के प्रजातीय तनावो पर भी प्रकाश डाला है।*

(3) भारतीय साधु (Indian Sadhus) 1953—घुर्ये ने अपनी पुस्तक '**इण्डियन साधूज़**' मे भारत मे साधुवाद तथा साधुओ के उत्थान, इतिहास, कार्य एवं वर्तमान में हिन्दू साधुओं के सगठन पर प्रकाश डाला है। इस पुस्तक के कुल 13 अध्यायो मे भारतीय साधुओं के सम्बन्ध मे समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रदान की गई है। पुस्तक मे महत्त्वपूर्ण सदर्भ ग्रन्थो एवं पुस्तको की सूची भी दी गई है। घुर्ये ने भारत के विभिन्न सम्प्रदायो एव पंथो का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। आपने भारत के प्रमुख साधु पथो एव सम्प्रदायो—शकर सम्प्रदाय के साधुओ या दशनामी, दशनामी नागा या लडाकू साधु, नाथ पथी या कनफड़ा जोगियो, बैरागी या वैष्णव साधुओ, सुधारवादी सन्यासियो, केतु समुदायी नागा या लड़ाकू वैरागियों आदि

का समाजशास्त्रीय विवेचन किया है।

(4) नगर और सभ्यता (Cities and Civilization) 1962—घुर्ये की पुस्तक '**सिटिज एण्ड सिवलाइज़ेशन**' नगरीय समाजशास्त्र के क्षेत्र मे एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस पुस्तक के ग्यारह अध्यायो मे नगरो के प्राकृतिक इतिहास, अमरीका और इंगलैण्ड के नगरो का इतिहास, भारत के नगरो की स्थिति तथा वृद्धि-नगर की राजधानियो तथा विशाल नगरो के रूपो की विवेचना की गई है। पुस्तक के अन्तिम अध्याय मे मुम्बई नगर के सम्बन्ध मे सविस्तार विवरण दिया गया है।

(5) मानवशास्त्रीय-समाजशास्त्रीय पत्र, (Anthropo Sociological Papers) 1963—घुर्ये ने समय समय पर जो पत्र एव लेख मानवशास्त्र और समाजशास्त्र के विषयो से सम्बन्धित लिखे थे जो विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे उनका सकलन '**एन्थ्रोपो-सोशियोलॉजिकल पेपर्स्**' पुस्तक शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित किया गया है। इस सकलित पुस्तक मे सत्रह विषयो पर सत्रह अध्यायो मे लेख प्रकाशित किए गए हैं। इसमे जो लेख प्रकाशित किए गए है वे—'भारत मे द्वै-सगठन,' काठियावाड में ममेर-फुफेर-भाई-बहिन एवं द्वै-सगठन, 'नातेदारी का नामकरण', 'विवाह की आयु', 'भारत मे विवाह और वैध्यव्य', 'मिश्र की नातेदारी प्रथा एव भारत की दाह-क्रियाएँ', 'मानव नाल को पृथक् करना'; 'सामाजिक कार्य एवं समाजशास्त्र', 'सामाजिक श्रेणी के रूप मे मित्रता', 'भारतीय परम्परा', 'भारतीय एकता'; 'मूल्य और समाज', 'शैली और सभ्यता', 'नवाचार और गतिशीलता का समाजशास्त्र' आदि हैं। इस प्रकार इस पुस्तक मे विविध विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

(6) संस्कृति और समाज (Culture and Society) 1963—घुर्ये ने '**कल्चर एण्ड सोसायटी**' पुस्तक में सामाजिक विघटन के कारण संस्कृति के समक्ष आने वाली समस्याओ का विश्लेषण किया है। आपने हवेली तालुका के 111 गाँवो का लोक-नगरीय-अविच्छिन्नक (Folk-Urban-Continuem) को परम्परा में पारिस्थितिकीय को ध्यान में रखकर अध्ययन किया है, उसे इस पुस्तक में प्रकाशित किया है तथा जनसंख्या के आधार पर गाँवो का वर्गीकरण किया है। सम्पूर्ण हवेली तालुका को आपने समुदाय कहा है जिसका वर्गीकरण निम्न है—

हवेली तालुका (समुदाय) का वर्गीकरण

प्रकार —	कृषिपुरा	ग्राम राजा	महाग्राम	खेतिका
जनसंख्या	(3,000 से अधिक जनसंख्या)	2,000–3000)	1,000–2,000)	(500 से कम)

1. कृषिपुरा—हवेली मे आठ गाँव तीन हजार या उससे अधिक जनसंख्या के थे उन्हे कृषिपुरा की संज्ञा दी गई।

2. ग्राम राजा—जिनकी जनसंख्या दो हजार से तीन हजार के बीच थी उन्हें आपने ग्राम-राजा की संज्ञा दी। ऐसे ग्राम-राजा दस थे।

3. महाग्राम—जिनकी जनसंख्या एक हजार से दो हजार के बीच थी उन्हें महाग्राम की संज्ञा दी गई है। ऐसे 34 महाग्राम थे।

4. खेतका (छोटे गाँव)—जिनकी जनसख्या 500 से कम थी उन्हे खेतका (छोटे गाँव) कहा। ऐसे बीस गाँव थे।

घुर्ये ने हवेली तालुका के अध्ययन मे 1891 से 1951 तक के जनसख्या के आँकडो का उपयोग किया। जनसख्या के घनत्व का भी विश्लेषण किया। सामाजिक, धार्मिक, शैक्षिक एव आर्थिक परिवर्तन के पक्षो का विशेष रूप से विवेचन किया गया है।

(7) जाति, वर्ग और व्यवसाय, 1961—घुर्ये की पुस्तक "कास्ट, क्लास एण्ड आक्यूपेशन" का हिन्दी अनुवाद "जाति, वर्ग और व्यवसाय" है। यह पुस्तक Caste and Class in India और Caste and Race in India का सशोधित एव विस्तृत रूप है।

इस पुस्तक मे कुल 12 अध्याय हैं जिसमे जाति-व्यवस्था के लक्षण, जाति समूहो का स्वरूप, युग-युग से जाति, जाति मे परिवर्तन। प्रजाति और जाति, भारत के बाहर जाति के तत्त्वो, जाति व्यवस्था के मूल स्रोत, जाति तथा ब्रिटिश शासन अनुसूचित जातियो, व्यवसाय और जाति वर्ग तथा उसके कार्यो तथा जाति के भविष्य आदि जाति से सम्बन्धित विविध विषयो की विवेचना की गई है। यह कृति भारत मे जाति-व्यवस्था से सम्बन्धित तथ्यो का महत्त्वपूर्ण स्रोत है।

घुर्ये ने इस पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा है, "*भारतीय जाति और वर्ग*" इस नाम के मेरे ग्रन्थ का यह (जाति, वर्ग और व्यवसाय) परिवर्द्धित संस्करण है और मेरे 'भारतीय जाति और प्रजाति' नामक ग्रन्थ का चौथा सस्करण है। 'व्यवसाय' के सम्बन्ध मे लिखे हुए एक नए प्रकरण को इस सस्करण मे सम्मिलित करने से इसका विस्तार हो गया है। इस विस्तार से यह ग्रनथ भारतीय समाज संरचना का विशेष अध्ययन प्रस्तुत करता है। अन्य परिवर्तन आनुषगिक हैं। 9वे, 10वे एव 11वे अध्यायो मे नवीन सामग्री का समावेश किया गया है। अन्तिम अध्याय के शीर्षक को उपयुक्तानुसार (प्रासगिकतानुसार) परिवर्तित किया गया है। यह आशा की जाती है कि इस ग्रन्थ के पाठकों को ये कुछ परिवर्तन विषय की समस्याओं को अच्छी तरह से समझने में सहायक होंगे।"

इस पुस्तक में वर्णित जाति, वर्ग और व्यवसाय का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है—

जाति-व्यवस्था

जब हिन्दू समाज जाति के सामाजिक दर्शन के द्वारा शासित होता था और आधुनिक विचारधारा के अधिकारो और कर्त्तव्यों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था, उस समय घुर्ये के अनुसार हिन्दू समाज के निम्न छ: प्रधान विशिष्ट लक्षण देखे जा सकते हैं—

1 **समाज का खण्डात्मक विभाजन**—(Segmental Division of Society)—हिन्दू जाति समाज न्यूनाधिक रूप मे समरूप समुदाय नहीं था। यह एक ऐसा समाज था जिसमे विभिन्न समूह (जातियाँ) थे, जिनका अपना सुविकसित जीवन होता था और जिनकी सदस्यता जन्म से निर्धारित होती थी। किसी भी व्यक्ति की सामाजिक स्थिति आधुनिक यूरोप के वर्गों की भाँति उसके धन पर निर्भर नहीं होती थी। ब्राह्मण और राजपूत जैसी ऊँची जातियो को छोडकर अन्य सभी जातियो को नियमित तथा स्थाई परिषदें या प्रशासनिक संस्थाएँ (पचायत) होती थीं। ये जाति पंचायते उप-जाति के साथ निषिद्ध खान-पान, पारस्परिक व्यवहार, स्त्री को रखेल या उप-पत्नी के रूप मे रखना, स्त्री का अपहरण या व्यभिचार, अवैध संभोग करना, पत्नी का भरण-पोषण

नहीं करना, कर्ज नहीं चुकाना आदि अपराधों पर निर्णय दिया करती थी। जाति पंचायत अपने अपराधी सदस्य को दण्ड के रूप में स्थाई या अस्थाई रूप से जाति से बहिष्कृत करती, जुर्माना, जाति के सदस्यों को भोज, शारीरिक दण्ड आदि दिया करती थी। घुर्ये ने लिखा है कि इन विशेषताओं के कारण *"जाति स्वयं अपनी शासक थी।"* विभिन्न जातियों के मध्य एक सांस्कृतिक खाई देखी जा सकती थी। आपने निष्कर्ष में लिखा है, "अतः जातियाँ छोटी तथा अपने आप में समूची सामाजिक दुनियाएँ होती थी और विशाल समुदाय में सम्मिलित रहते हुए भी एक-दूसरी से भिन्न होती थीं।" हिन्दू समाज जाति के द्वारा अनेक खण्डों (जातियों व उपजातियों) में विभाजित होता था।

2 **श्रेणीबद्धता** (Heerarchy)—घुर्ये के अनुसार जाति समाज का मुख्य लक्षण विभिन्न समूहों (जातियों) की श्रेणीबद्धता थी। भारत में उच्चता और निम्नता के क्रम में जातियों में सामाजिक वरिष्ठता देखने को मिलती थी। इसमें ब्राह्मण उच्चतम प्रस्थिति प्राप्त होते थे और हरिजन या अस्पृश्य जाति निम्नतम प्रस्थिति वाली होती थी। अन्य जातियाँ प्रतिष्ठानुसार इनके मध्य क्रम में स्थित होती हैं।

3 **भोजन व सामाजिक समागम पर प्रतिबन्ध** (Restrictions on Feeding and Social Intercourse)—इस सम्बन्ध में विस्तृत नियम विद्यमान था कि किस जाति का सदस्य किस प्रकार का भोजन एवं पेय पदार्थ किन-किन जातियों से ग्रहण कर सकता था और किन-किन से नहीं। इस सम्बन्ध में भारत में बहुत अधिक अनेकता विद्यमान थी। घुर्ये ने भोजन और सामाजिक समागम सम्बन्धी नियमों के आधार पर भारत को दो भागों में विभाजित किया है। आपने उत्तर भारत में जातियों का विभाजन निम्न पाँच समूहों में किया है—(1) पहला स्थान द्विज यानी ब्राह्मणों का है।(2) दूसरा स्थान उन जातियों का है जिनके हाथ से ब्राह्मण 'पक्का' भोजन ग्रहण कर लेते थे। (3) तीसरे स्थान पर वे जातियाँ आती हैं जिनके हाथ से ब्राह्मण मात्र जल ग्रहण कर सकते थे। (4) चौथा स्थान उन अछूत जातियों का है जिनके हाथ से ब्राह्मण जल भी ग्रहण नहीं कर सकते थे। (5) अन्तिम स्थान पर वे जातियाँ आती हैं जिनका स्पर्श मात्र किसी भी कट्टर हिन्दू को अपवित्र कर सकता था। सिद्धान्त रूप में ऊँची जाति का व्यक्ति अपने से नीची जाति के सदस्य द्वारा स्पर्श हो जाने पर अपवित्र हो जाता था। परन्तु व्यवहार में इस नियम का इतनी दृढ़ता से पालन नहीं किया जाता है। मद्रास और विशेषतः मलबार में इस सिद्धान्त को और भी अधिक विस्तृत रूप में देखा जा सकता है। एक निश्चित दूरी से कम दूरी होने पर उच्च जातियाँ अपवित्र हो जाती हैं।

4. **विभिन्न खण्डों की नागरिक व धार्मिक असमर्थताएँ एवं विशेषाधिकार** (Civil and Religions Disabilities of the Different Sections)— जाति संरचना में उच्चतम जाति (ब्राह्मण) को अधिकतम नागरिक व धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त होते थे तथा उनकी न्यूनतम असमर्थताएँ होती हैं। इसके विपरीत निम्नतम जाति (अस्पृश्य या हरिजन) पर अधिकतम असमर्थताएँ होती थी और न्यूनतम विशेषाधिकार। घुर्ये ने लिखा है, "विशिष्ट जातियों या जाति-समूहों का गाँव में पृथक्करण नागरिक विशेषाधिकारों तथा असमर्थताओं का अत्यन्त ही स्पष्ट

चिन्ह है और यह सारे भारत में न्यूनाधिक रूप में विद्यमान रहता आया है।" नियमों की कठोरता में दक्षिण भारत का विशिष्ट स्थान है। आपने लिखा है "उत्तर भारत, महाराष्ट्र और तेलगू कन्नड प्रदेशो में केवल अपवित्र जातियो को ही पृथक् किया जाता था और उन्हें गाँवों की बाहरी सीमा पर रहने के लिए विवश किया जाता था।" तमिल व मलयालम प्रदेशो में प्राय: ऐसा होता था कि विभिन्न जातियाँ पृथक् भागो में रहती थी या कभी कभी किसी गाँव को ही तीन भागो में विभक्त कर दिया जाता है। एक भाग में प्रमुख जाति या ब्राह्मण, दूसरे में शूद्र और तीसरे में पचम यानी अछूत निवास करते हैं। ब्राह्मणो, शूद्रो और पचमो के मोहल्ले पृथक् होते है।

ब्राह्मणो के सस्कार विशिष्ट—वैदिक क्रिया पद्धति की सहायता से सम्पादित होते थे जबकि अन्यो के सस्कार पौराणिक क्रिया पद्धति, जिसे कम पवित्र माना जाता है के द्वारा सम्पन्न किए जाते थे। अत्यन्त पवित्र साहित्य का अध्ययन शूद्रो के द्वारा नही किया जा सकता। इसी प्रकार से अन्य अनेक प्रतिबन्ध निम्न जातियो पर लगे हुए रहे हैं। मन्दिरो के अन्तरग भागो में मात्र ब्राह्मण ही जा सकते थे। शूद्रो तथा अन्य जातियो का पवित्र स्थानो में प्रवेश निषिद्ध था।

घुर्ये ने लिखा है, "ऐसा वर्णन पाया गया है कि मराठो तथा पेशवाओ के शासनकाल में महार और माँग जातियो को पूना के दरवाजो के अन्दर दोपहर 3 बजे के बाद और सुबह 9 बजे से पहिले प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी जाती थी, क्योकि इस समय में उनके शरीरो की लम्बी छाया पड़ती थी, जो ऊँची जातियो के सदस्य पर गिरकर उन्हे अपवित्र कर देती थी। महाराष्ट्र प्रदेश में अछूतो को सड़क पर थूकने नहीं दिया जाता था क्योकि कहीं ऊँची जाति के किसी हिन्दू का पैर उससे छू जाने से वो अपवित्र हो जाते थे।"

मलबार तथा पूर्वी सीमा के ताड़ी बनाने वाले इझवा तथा शानारो को छाता, जूता या सोने के गहने पहिनने, गाये दुहने या देश की साधारण भाषा का भी उपयोग करने की अनुमति नहीं दी जाती थी। सन् 1865 तक ऐसा ही कानून था कि तिया या अन्य नीची जातियो की स्त्रियाँ कमर से ऊपर अपने शरीर को नहीं ढक सकती थीं। उन्हे अपने शरीर का ऊपरी भाग बिल्कुल खुला रखने को विवश होना पड़ता था। सश्रम कारावास या मृत्युदण्ड प्राय: नीची जातियो के अपराधियो को ही दिया जाता था।

फारयस ने लिखा है, "भारत के अधिकाश भागो की भाँति त्रावनकोर के ब्राह्मणो ने अपने आपको यथासाध्य दण्ड से मुक्ति पाने में पूरी सावधानी प्रदर्शित की। कम से कम एक ही अपराध में अन्य जातियों की अपेक्षा उन्हे बहुत ही अल्प दण्ड दिया जाता था।" बगाल में भूमि भोगने वाली जाति के अनुसार कर या लगान की राशि प्राय: परिवर्तित होती रहती थी। जाति प्रथा के अन्तर्गत विभिन्न जातियो की नागरिक और धार्मिक असमानताएँ एव विशेषाधिकार उनकी जाति संरचना में उच्चता और सिद्धान्त के क्रम विन्यास के आधार पर भिन्न-भिन्न थे।"

5 अप्रतिबन्धित व्यवसायो के चयन का अभाव (Lack of Unrestricted Choice of Occupation)—सामान्यत: कोई भी जाति या उससे मिलता-जुलता जाति समूह कुछ व्यवसायो को अपना पैतृक व्यवसाय मानते थे। उस पैतृक व्यवसाय को वे किसी दूसरे लाभकारी व्यवसाय के लिए छोड़ना उचित नहीं माना जाता था। ब्राह्मण यह सोचता था कि उसके लिए पुरोहित

बनना या बने रहना उचित है। चमार जूते बनाना और चमड़े के कार्य को करना अपना परम कर्त्तव्य समझता था। घुर्ये ने टिप्पणी लिखी है कि यह मात्र सामान्य रूप से ही सत्य था क्योंकि व्यापार, कृषि, कृषि-श्रम, सैनिक सेवा जैसे व्यवसाय समूह थे जो किसी भी जाति के व्यक्ति के लिए खुले हुए थे। अधिकांश जातियाँ इनमें से किसी भी एक व्यवसाय के लिए उपयुक्त मानी जाती थीं। इसके साथ आपने यह भी लिखा है कि कोई भी जाति अपने सदस्यों को ऐसा धन्धा अपनाने की अनुमति नहीं देती थी जो प्रतिष्ठाघातक हो, जैसे—ताड़ी या शराब बनाना, मलमूत्र या कूड़ा करकट उठाना या चमड़े का गन्दा कार्य करना। व्यक्ति के व्यवसाय के चयन करने में दो प्रकार के प्रतिबन्ध होते थे—(1) अपनी जाति-बन्धुओं का नैतिक नियंत्रण, तथा (2) अन्य जातियों एवं सामाजिक प्रतिबन्ध भी व्यवसाय के चयन में प्रभावी रहते थे। घुर्ये ने उदाहरण दिया है कि जन्मजात ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति पुरोहित का कार्य करने की अनुमति प्राप्त नहीं कर सकता था। इसी कारण पुरोहित का कार्य पूर्ण अधिकार परम्परागत एवं आनुवांशिक रूप से ब्राह्मणों का था। आपने यह भी स्पष्ट किया है कि महाराष्ट्र प्रदेश में ब्राह्मण को अनेक लौकिक कार्यों जैसे लेखापाल और सैनिक सेवा में देखा जा सकता था। इसी प्रकार भारतीय विद्रोह से पूर्व ब्राह्मण बंगाल की सेना में सेवारत थे। राजपूताना के कुछ ब्राह्मण मारवाड़ी सेठों की सेवा करते थे। बुचनन (Bu0hhanan) के अनुसार, कर्नाटक में अनेक ब्राह्मण राजस्व एकत्र करने तथा दूत या संदेशवाहक का कार्य भी करते थे। राजपूताने में ब्राह्मण अपने खेत पर आवश्यक श्रम करने तथा अपने श्रम को भूमिधरों को बेचा भी करते थे।

घुर्ये ने लिखा है कि कृषि में अनेक जातियाँ लगी हुई हैं। व्यक्तियों के लिए एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में बिना अपनी सामाजिक प्रस्थिति में परिवर्तन किए या जाति के अन्दर विवाह का अधिकार खोए चले जाना असम्भव नहीं है। रसेल (Russel) ने लिखा, "अनेक जातियों का एक-सा ही परम्परागत व्यवसाय है। मध्य प्रान्त की लगभग चालीस जातियों का वर्गीकरण कृषकों के रूप में, ग्यारह का बुनकरों के रूप में, सात का मछुओं के रूप में और ऐसे ही अन्यों का किया गया है।" घुर्ये ने निष्कर्ष में लिखा है कि यह सामान्य कथन स्वीकार किया जा सकता है कि प्रत्येक जाति के लिए जो व्यवसाय निश्चित है उसे अधिमान्यता पाने का अधिकार है। कतिपय अपवादों को छोड़कर प्रत्येक व्यवसाय प्रत्येक प्रकार के व्यक्ति के लिए खुला है। आपने इरविंग (Irving) का कथन उद्धरित किया जो इस प्रकार है, "यदि हम पुरोहित के कार्य को छोड़ दें तो जाति का भी आवश्यक प्रभाव जीवन की उस दिशा पर नहीं पड़ता है जिस ओर कोई व्यक्ति जाना चाहे।" घुर्ये की टिप्पणी है कि इरविंग का उपरोक्त कथन स्थिति को कुछ बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करता है। आपने इस सम्बन्ध में बेन्स (Baines) के कथन को सही बताया है जो निम्न है, "फिर भी व्यवसाय जो जाति के लिए परम्परागत-सा है किसी भी प्रकार से आवश्यक रूप से वही नहीं है जिससे उस समूह के सभी या अधिकांश लोग वर्तमान समय में अपनी जीविका अर्जन करते हैं।"

6. विवाह पर नियंत्रण (Restrictions on Marriage)—हिन्दू समाज अनेक उप-समूहों में विभक्त होता था। प्रत्येक उप-समूह उपजाति के नाम से सर्वविदित होता था। यह प्रत्येक उपजाति अपने रहस्यों को गुप्त रखने के कारण अपने किसी भी सदस्य को उप-जाति से बाहर

विवाह नही करने देती है। इस प्रकार प्रत्येक उपजाति अन्तर्विवाही होती है। जाति व्यवस्था का अन्तर्विवाह का नियम बहुत कठोर होता है। वेस्टर मार्क ने तो अन्तर्विवाह को 'जाति-व्यवस्था का सार' माना है। घुर्ये ने लिखा है, "फिर भी अन्तर्विवाह यानी अपनी ही उपजाति मे विवाह करने के इस सामान्य नियम के कुछ अपवाद भी हैं और उनका कारण अनुलोम विवाह की प्रथा का होना है। पजाब म विशेषत: पर्वतीय प्रदेश मे ऊँची जाति का पुरुष किसी भी निम्न जाति की कन्या से विवाह कर सकता है। मलाबार मे नम्बूद्री तथा अन्य ब्राह्मणा के कनिष्ट पुत्र क्षत्रिय व नैयर स्त्रियों से विवाह कर लेते हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक समूह को विवाह सम्बन्ध अपनी सीमाओं के अन्दर करने होते हैं। किसी भी कोकणस्थ ब्राह्मण को कोकणस्थ ब्राह्मण परिवार म उत्पन्न कन्या से विवाह करना होता था। विवाह अपने निजी समूह मे ही होना आवश्यक है। अगर इस नियम का उल्लघन किया जाता है तो उसकी सदस्यता समूह से निष्कासन ही इसका सामान्यत: दण्ड होता है जिसे अपराधी पक्षो को भोगना पडता है।" 118349

जाति और उप-जाति : एक समीक्षा (Caste and Sub-Castes A Review)

घुर्ये ने जाति और उपजाति के तुलनात्मक महत्त्व को अनेक तथ्यो द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है। आपने लिखा है कि अन्तर्विवाह को जाति का मुख्य लक्षण मान लेने का अर्थ है कि इन उपजातियो को *वास्तविक जातियाँ मान लिया जाए।* गेट (Gait) ने इस पर निम्न दो आपत्तियाँ उठाई हैं। पहिला ऐसा करना "इस सम्बन्ध मे स्थानीय लोगो की जो भावना है उसके विपरीत होगा।" दूसरा यह कि "व्यवहार मे यह बहुत ही असुविधाजनक होगा क्योकि इससे जातियो की संख्या अत्यधिक हो जावेगी।" घुर्ये ने दूसरी आपत्ति की उपेक्षा करते हुए लिखा कि सख्या मात्र प्रशासनिक कठिनाई है। प्रथम आपत्ति के सम्बन्ध मे आपने निम्न प्रमाण दिए हैं। आपने लिखा कि महाराष्ट्र मे अन्य लोगो के लिए सारस्वत ब्राह्मण केवल सारस्वत नाम से विख्यात है परन्तु एक सारस्वत की दृष्टि मे वह शेणवी या पेडनेकर है। यद्यपि समूचे समाज के द्वारा जाति को ही मान्यता दी जाती है, तथापि जाति विशेष तथा व्यक्ति द्वारा जाति उपजाति मानी जाती है। एक ब्राह्मण की दृष्टि मे अधिकाश अन्य लोग शूद्र हैं, चाहे उनकी प्रस्थिति ऊँची या नीची हो। घुर्ये की मान्यता है कि हम किसी भी बडी भाषायी प्रान्त की सारी जनसंख्या को ब्राह्मण तथा शूद्र नामक दो जातियो या उन स्थानो में तीन जातियो मे विभक्त कर देंगे जहाँ अनिच्छापूर्वक क्षत्रियो का भी पृथक् अस्तित्व माना जाता है। निष्कर्ष मे आपने लिखा है, "इसके लिए पर्याप्त कारण विद्यमान है कि समाजशास्त्र की दृष्टि से इस संस्था का सही रूप समझने के लिए हमें उपजातियो को वास्तविक जातियाँ मानना चाहिए।

वर्ग-व्यवस्था
(Class System)

घुर्ये के अनुसार वर्गों में सदस्यता स्वैच्छिक होती है *तथा जन्म से निर्धारित नहीं होती है।* किसी भी व्यक्ति की सामाजिक परिस्थिति आधुनिक यूरोप के वर्गों मे उसके धन पर निर्भर करती है। आपने जाति और वर्ग के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए मेकाइवर के निम्न कथन को उद्धरित किया है, "पूर्वी सभ्यता मे जब कि वर्ग और प्रस्थिति का मुख्य निर्धारक तत्त्व जन्म था, पश्चिमी

सभ्यता मे आज धन ही वर्ग-निर्धारक के रूप में उतना ही या उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है और धन की अपेक्षा जन्म कम कठोर निर्धारक तत्त्व है। धन अधिक दृढ है। अत: इसके दावों को सरलतापूर्वक चुनौती दी जा सकती है, यह एक आंशिक विषय है इसमें पृथक्करण, उपार्जन या हस्तान्तरण अथवा जातिगत भेदभावों को पैदा करने की क्षमता है तथा यह भेदभाव की स्थायी दरार उत्पन्न नहीं करता है, जैसे कि जन्म से उत्पन्न होती है।'' घुर्ये ने लिखा है कि हिन्दू समाज में प्रत्येक व्यक्ति एक जाति में जन्म लेता है तथा अन्य व्यवसाय करने पर भी उसकी जाति परिवर्तित नहीं होती है। *वर्ग व्यवस्था वाले समाज में व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण व्यवसाय और उससे* प्राप्त आय से होती है। आपने आगे लिखा है, ''समस्त समुदाय के कानून को छोड़कर वर्ग के सदस्यों के आचार को नियंत्रित करने के लिए तथा उसकी नैतिकता का मार्गदर्शन करने के लिए कोई स्थायी या सामाजिक परिषद नहीं होती है। एक ही वर्ग के सदस्य भिन्न-भिन्न व्यवसाय अपनाते है, जो संगठित होने पर स्थाई कार्य संचालक का समितियों के रूप में कार्य करते हैं, जो उनके सदस्यों पर अपने नियमों के अनुसार शासन करती हैं। ये नियम सामान्य रूप में विशाल समुदाय को न्यायोचित अधिकार-क्षेत्र को पृथक् रखते हुए केवल अपने व्यवसाय सम्बन्धी शिष्टाचार या आर्थिक लाभ का ध्यान रखते हैं। बुद्धिजीवी व्यवसायों में ये सामान्य नियम तथा प्रशासनिक आदेश ऐसे विषयों को निश्चित करते हैं, जैसे—प्रवेश सम्बन्धी योग्यताएँ, प्रशिक्षण का स्वरूप, पारिश्रमिक के तरीके, नौकरी की शर्तें, सहकर्मियों तथा जनता के प्रति व्यवहार के नियम, सार्वजनिक पदों पर की जाने वाली नियुक्तियों की योग्यताएँ, सेवा की शर्तें, निष्कासन के अधिकार आदि।'' जाति व्यवस्था में जाति पंचायत अपनी जाति के लगभग सभी मामलों पर निर्णय देती है जिनका सविस्तार विवेचना अपनी कृति '**जाति, वर्ग और व्यवसाय**' के ग्यारहवें अध्याय में '**वर्ग तथा उसका कार्य**' शीर्षक के अन्तर्गत निम्नानुसार की है—

वर्ग तथा उसकी भूमिका
(Class and its Role)

घुर्ये ने वर्ग का महत्त्व, विशेषताएँ, भूमिका, गतिशीलता, निर्णायक कारकों आदि का विवेचन जाति के सन्दर्भ में किया है। घुर्ये ने स्पष्ट किया है कि जाति की भाँति वर्ग-व्यवस्था भी अगतिशील और विवाह आदि से सम्बन्धित प्रतिबन्धों से युक्त प्रथा रही है। आपने इस सम्बन्ध में विद्वानों के कथन उद्धरित किए हैं जो निम्न हैं— सी. ए. मेस (C. A. Mace) ने वर्ग के मनोवैज्ञानिक आधार पर किए गए प्राचीन किन्तु गहरे विश्लेषण के बाद निम्न उद्‌गार प्रकट किए, ''भिन्न राष्ट्रीयता या भिन्न धर्म की पत्नी से विवाह करने की अपेक्षा यदि कोई युवक अपने वर्ग से बाहर विवाह कर लेता है तो वह अत्यधिक गम्भीर विषय हो जाता है।''

घुर्ये ने **बेनेडिटो क्रोसे** (Benedetto Crocce) के विचार उद्धरित किए हैं जो निम्न हैं, ''पिछली शताब्दी से, विशेषत: पिछले पचास वर्षों से ऐसा प्रतीत होता है कि संसार सर्प के शीषवाली देवियों के दु:स्वप्न से आक्रान्त, उत्पीड़ित, भूतोपप्लित तथा आतंकित हो गया है, जो कुछ मध्यकालीन भाँडों या विदूषकों की टोली या शैतानों की चढ़ाई की भाँति है जिसे 'सामाजिक वर्ग' कहते हैं।

1956 मे काराडोग जोन्स और जोहन हाल (Caradog Jones and John Hall) ने सामाजिक गतिशीलता पर जो अन्वेषण किया था उसमे विवाह को प्रासगिक लक्षण के रूप मे सम्मिलित किया गया था और उसके आधार पर **जरजी बैरन्ट** (Jergy Berent) ने निम्न कथन लिखा, "जिस सीमा तक विभिन्न सामाजिक समूहो के व्यक्तियो के मध्य विवाह होता है, यह सामाजिक सरचना के खुलेपन की कसौटी है।" इसमे वर्ग अन्तर्विवाह अर्थात् व्यक्ति अपने वर्ग मे ही विवाह करने को प्राथमिकता देता पाया गया। 5,100 विवाहो मे जीवनसाथी के सामाजिक मूल के सम्बन्ध मे उपलब्ध सामग्री को चार वर्ग श्रेणियो मे वर्गीकृत किया गया और यह पाया कि (1) 44 9% विवाहो में पति और पत्नी का सामाजिक मूल एक ही समूह का था। (2) वे विवाह जिनमे पत्नी-पति के वर्ग मे तुरन्त नीचे वाले वर्ग की थी 30 6% थे। (3) वे विवाह जिनमे पत्नी-पति का वर्ग पति के वर्ग से दो स्थान नीचे वाले वर्ग की थी 18 6% थे। (4) 38 9% मामला मे पत्नी का वर्ग पति के वर्ग से निम्नतर था। घुर्ये ने निष्कर्ष दिया कि, "ज्यादे म गए बिना यह सकेत किया जा सकता है कि सन् 1915 से पूर्व हुए विवाहो की तुलना मे वे विवाह जो सन् 1940 तथा इसके बाद हुए उनमे अगतिशीलता या वर्ग-अन्तर्विवाह का अनुपात उल्लेखनीय रूप से कम था। जहाँ 1915 के पूर्व एक वर्ग के विवाह 48 7% थे वहाँ 1940 तथा उसके बाद ऐसे विवाह केवल 42 9% पाए गए। इस प्रकार वैवाहिक गतिशीलता मे वृद्धि देखी जा सकती है।

घुर्ये का कहना है कि प्रचलित ब्रिटिश वर्ग-व्यवस्था का विकास पूर्ववर्ती सामन्तीय ब्रिटिश वर्ग-व्यवस्था से हुआ जो यूरोप मे सामान्य रूप से विद्यमान थी और सैद्धान्तिक दृष्टि से भारतीय इतिहास के हिन्दू-युग के अन्त मे जो जाति व्यवस्था थी, वह बहुत कुछ उसके जैसे ही थी। आपका कहना है कि यद्यपि इनमे समानता गहरी है तथापि इन दोनो मे कुछ महत्त्वपूर्ण भिन्नताएँ भी हैं जिनको आपने इस व्यवस्था के वर्णन के द्वारा स्पष्ट किया है। यह इस प्रकार से हैं—

ब्रिटिश वर्ग-व्यवस्था (British Class System)—सामन्तीय समाज द्वारा मान्यता प्राप्त वर्ग तीन से लेकर बारह प्रकार के थे। अधिकतर इनकी सामान्य सख्या चार थी—(1) सरदार, (2) पादरी, (3) स्वतंत्र कृषक, तथा (4) भू-दास। सामन्तीय प्रथा भूमि एव सामाजिक पद दोनो के लिए कानून के रूप मे थी। जाति-व्यवस्था मे भू-धारणाधिकार का तत्त्व नहीं था। जाति के प्रारम्भिक काल में और सैद्धान्तिक दृष्टि से उसके बाद भी जाति समूहो को चार या पाँच तक सीमित कर दिया जाता था। जाति समाज मे ब्राह्मण सर्वोच्च थे वही यूरोपीय वर्ग समाज में योद्धा या सरदार जो क्षत्रियों के अतिरूप थे पहिले स्थान पर थे। सामन्तीय समाज का विभाजन तथा भेदभाव धार्मिक आदेश से रहित था जबकि जाति-व्यवस्था में धर्म प्रधान तत्त्व था। यही इन दोनो व्यवस्थाओ मे प्रमुख अन्तर रहा है। पादरी समाज के सभी वर्गों से भर्ती किए जाते थे। पादरी कँवारे रहते थे और अविवाहित ही मरते थे।

सामन्तीय वर्ग की सदस्यता अन्य वर्गों के लिए प्रतिबन्धित थी। जो जातियो के जैसा ही बन्द वर्ग था। पादरी वर्ग सामाजिक गतिशीलता प्रधान था जो जाति से भिन्न था। क्षत्रियो ने अनेक बार ब्राह्मण से उच्च पद प्राप्त करने का प्रयास किया परन्तु उन्हे सफलता नहीं मिली। अन्त मे क्षत्रियो को ब्राह्मण के बाद वाली श्रेणी से ही सन्तोष करना पडा।

दूसरा अन्तर यूरोपीय वर्ग समाज और जाति-समाज के मध्य संख्या का है। वर्ग-समाज में समूहों की संख्या बहुत ही कम थी तथा इनकी श्रेणीबद्धता तथा वरिष्ठता जाति-समाज की अपेक्षा बहुत कम जटिल थी।

प्रारम्भ में विभिन्न वर्गों के सदस्य एक-दूसरे से विवाह नहीं कर सकते थे। निम्न वर्ग की स्त्री से विवाह होने पर उस पत्नी को पति के वर्ग का व्यवहार प्राप्त नहीं होता था। उनकी सन्तानों को निम्न वर्ग में जाना पड़ता था। ये विशेषता जाति-व्यवस्था जैसी ही थी। वर्ग-व्यवस्था में सरदार लोगों का कर्त्तव्य रक्षा करना, पादरी का सबके लिए प्रार्थना करना तथा सामान्यजनों का कर्त्तव्य जाति व्यवस्था के शूद्रों की भाँति सबके लिए अन्न उत्पन्न करना था। किसी भी व्यक्ति के लिए अपना वर्ग परिवर्तन करना मूर्खता मानी जाती थी।

वर्ग व्यवस्था में परिवर्तन या सर्वश्रेष्ठ सामाजिक रूपान्तर महारानी एलिजाबेथ काल (1400 से 1800) के मध्य दिखाई देता है।

ट्रेवेलियन इस परिवर्तन को निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं, "एलिजाबेथ के समय के इतिहास एवं साहित्य के अध्ययन से पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा वर्गों में अत्यधिक सामंजस्य तथा विमुक्त पारस्परिक व्यवहार का प्रभाव उत्पन्न होता है। यह युग न तो कृषकों के विद्रोह का था, न समतलन (Levelling) के सिद्धान्त का था, न जेम्स प्रथम के शासन काल के विरोधियों के भय का था और न उच्च वर्ग की उस एकान्तिकता तथा सभ्यमान्यता का था जिसका चित्रण परवर्ती काल में जेन आस्टिन ने किया है। शेक्सपीयर के समय में वर्ग-विभाजन को सामान्य रूप में ही ग्रहण किया जाता था। उसमें न तो निम्न वर्गों में ईर्ष्या-द्वेष की भावना थी, न उच्च तथा मध्यम वर्ग में निम्न वर्ग को आधीनता के महान् नियम सिखाने की गहरी चिन्ता थी जो अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इतने कष्टदायक रूप से प्रकट होती है।"

वाणिज्य का विकास तथा कस्बों की उन्नति ने लोगों के नवीन वर्ग उत्पन्न कर दिए। ये वर्ग व्यापारियों, शिल्पकारों और श्रमिकों के थे। नवीन वर्गों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वर्ग सौदागरों तथा व्यापारियों का था। ये भद्र वर्ग की प्रतिष्ठा प्राप्त करने की आकांक्षा रखते थे और प्राय: उसको प्राप्त भी कर लेते थे। घुर्ये ने लिखा है कि व्यापारी, सौदागर, ठेकेदार, बैंक बैठक-संचालक और वित्त प्रबन्धक और आगे चलकर निर्माता, उद्योगपति या फैक्ट्री के स्वामी—ये सब मिलकर पूँजीपति वर्ग की रचना करते हैं। मूल रूप में ये मध्य वर्ग के नाम से प्रसिद्ध थे।

लगभग 18वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में और 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में होने वाले कृषि सम्बन्धी रूपान्तर एवं औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप ब्रिटिश समाज के वर्ग रचना ने उल्लेखनीय परिवर्तन प्रदर्शित किया। श्रमिक वर्ग का आकार बढ़ गया था तथा यह समाज के अन्य विभागों से, विशेष रूप से नियोजक वर्ग (Employing Class) में अधिकाधिक रूप से पृथक् हो गया। यह दृश्य 19वीं शताब्दी के द्वितीय चतुर्थांश तक इतना अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट हो गया कि डिजरॉयली ने ब्रिटिश समुदाय को दो राष्ट्रों यानी संघर्ष के लिए सपृद्ध धनी और निर्धन लोगों से निर्मित बताया। घुर्ये का मत है कि इसके बाद ही मार्क्स और इन्जल्स ने अपने दो वर्गों तथा उनके संघर्ष के सम्बन्ध में विचार प्रकट किए।

घुर्ये ने लिखा है कि वेतनभोगी लोगो और मजदूरी कमाने वाले श्रमिको मे भेदभाव वही है जो वेतन और मजदूरी के मध्य है। वेतनभोगी कार्यकर्ता होने के कारण किसी भी व्यक्ति को श्रमिक वर्ग से पृथक् होने का अधिकार प्राप्त हो जाता है क्योंकि श्रमिक वर्ग की कसोटी मजदूरी के लिए कार्य करना तथा हस्त कार्य करना है।

नामकरण जो प्रारम्भिक 'इस्टेट' व्यवस्था म प्रचलित था यह न केवल स्थिर था बल्कि उस समय के उत्पादन के प्रमुख साधन अर्थात् भूमि के विशिष्ट प्रकार के सम्बन्धो से जुडा हुआ था। इस प्रकार भद्र लोग वह वर्ग था जो भूमि का स्वामी था और भू-दास वह वर्ग था जिसका कर्त्तव्य किन्हीं रीति रिवाजो या कानूनी धाराओ के अधीन उस भूमि पर कृषि कर्म करता था।

जब कस्बो की बढोतरी से व्यापारी सौदागर और शिल्पकारो के नवीन वर्गों का उदय हुआ तो श्रेणीबद्ध समाज मे उनकी उचित स्थिति तथा उनकी उपाधि के विषय मे कुछ गडबड या कम से कम हिचकिचाहट तथा भ्रम विद्यमान था। समय व्यतीत होने पर शिल्पकारो ने कच्चे माल तथा उन्हे तैयार वस्तुएँ तथा उनमे परिवर्तित करने के साधनो पर नियत्रण खो दिया और वे अपनी विशिष्टता को भी श्रमिको या मजदूरी कमाने वालो के सामान्य जनसमूह मे खो बैठे। इसी काल मे व्यापारी, सौदागर और ठेकेदार समृद्ध हो गए तथा उनकी सख्या मे भी वृद्धि हुई। प्रत्येक मोड पर उनम से ये लोग एक सख्या मे भद्र लोग यानी उच्च वर्ग में आत्मसात् हो गए। किन्तु उनकी बहुत बडी सख्या पृथक् रही और धनोपार्जन के कार्य मे लगी रही। ग्रेटन ने इस वर्ग को मध्य वर्ग की सज्ञा दी है और घुर्ये ने इसे ऐतिहासिक मध्य वर्ग कहा है।

ग्रेटन के अनुसार मध्य वर्ग का आधारभूत लक्षण यह है कि, "वह स्वतत्र हो या कम-से-कम स्वतत्र होने की सामर्थ्य रखता हो।" सोम्बार्ट मध्य वर्ग का सादृश्य स्थानीय उत्पादन तथा वितरण के प्रतिनिधियो के रूप मे देखते हैं। जब अर्थशास्त्री तीन वर्गों की योजना का उपयोग करते हैं तो उनका मध्य वर्ग मध्य-आय समूहो का प्रतिनिधित्व करता हुआ प्रतीत होता है।

लॉकवुड ने लिखा है, वर्ग प्रस्थिति तथा विशेष रूप से कार्य स्थिति क्लर्क तथा श्रमिक के मध्य प्रस्थिति विषयक प्रतिद्वन्द्विता को प्रोत्साहित करती रहती है और प्रस्थिति-विषयक प्रतिद्वन्द्विता वर्ग एकरूपता की चेतना को दुर्बल बना देती है।

सभी आधुनिक राज्यो में सेवा की शर्तें अपने कल्याणकारी पक्ष के साथ सभी श्रमिको को न्यूनतम मजदूरी प्रदान करने की ओर आगे बढ़ने में प्रवृत्त है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भेद नियमित अनुक्रमो (Grandes) तथा सेवा सम्बन्धी सगठन में है जिनमें प्रारम्भिक वेतन तथा अभिवृद्धियाँ सम्मिलित हैं। किसी भी कार्य मे लगा हुआ कोई भी क्लर्क अधीक्षक या उससे भी अधिक उच्चतर पद तक पहुँचने की आकाक्षा रख सकता है। कुछ निश्चित रूप से इस आकाक्षा की पूर्ति कर लेते हैं। इस प्रकार के आर्थिक लाभ को प्राप्त करने के लिए मजदूरी करने वाले श्रमिक को अपने वर्ग, कार्य तथा सामान्य पदो से बाहर जाना पडता हैं और वह इस कार्य को तभी कर सकता है जबकि उसमे असाधारण योग्यता हो।

नवीन मध्य वर्ग के रहन-सहन के आदर्श तथा प्रतिमान मजदूरी कमाने वाले श्रमिको तथा प्राचीन या ऐतिहासिक मध्य वर्ग से भिन्न हैं।

अभी कुछ ही समय पहिले मलिन वस्त्रधारी (Black Coated) सर्वहारा वर्ग, निम्न अनुक्रमों के क्लर्क, दुकानों के गुमाश्तों तथा ऐसे ही अन्य लोगों ने अपने आपको संघों (Unions) में संगठित कर लिया है। सभी अनुक्रमों के अध्यापक समस्त पेशे की अपेक्षा शिक्षा के सोपान के अनुसार अपने-अपने संघ बना रहे हैं। पेशेवर लोग तो प्रारम्भ से ही संगठित हैं। अभी तक ऐसा कोई संघ नहीं है जो वेतनभोगी व्यवसायी को अपने में लाने का प्रयास कर रहा हो। बुद्धिजीवियों का कोई संघ नहीं बना है। बुद्धिजीवी लोग एक शताब्दी पूर्व की स्थिति की अपेक्षा बहुत ही भिन्न-भिन्न समूहों में भी भरती किए जाते हैं। लेकिन ये सामाजिक व्यवस्था में अत्यधिक दृढ़ स्थिति रखते हैं। जी एम ट्रेविल्यन ने इनकी वस्तुस्थिति निम्न कथन में प्रकट की है, "यह उदारवादी स्पष्ट वक्ता युग है जिसका सर्वाधिक प्रतिनिधित्व करने वाले न तो कुलीन परिवारों के हैं और न दुकानदार हैं बल्कि विश्वविद्यालय शिक्षा प्राप्त, पेशेवर बुद्धि के प्रशिक्षित लोग हैं जो मिल, हक्सले मैथ्यू अर्नाल्ड, जार्ज इलियट तथा ब्राउनिंग के पाठक हैं। ये ऐसे दाढ़ी वाले बुद्धिजीवी भद्र लोग हैं जिनके पारिवारिक जीवन का पंच के पृष्ठों में चित्रित करने में डुमारियर (Dumarier) को आनन्द आता है।

समाज के अन्य वर्गों से श्रमिक वर्ग का पृथक्करण बिल्कुल नवीन घटना नहीं है। इनका संघर्ष इतना तीव्र था कि एन्जिल्स जो मार्क्स के साथ वर्ग युद्ध की तैयारी में या श्रमिक वर्ग के द्वारा मध्य वर्ग को गिराकर सत्ता हस्तगत करने के संघर्ष में विश्वास रखते थे तथा उसका समर्थन करते थे। 1844 में निम्न भविष्यवाणी की जो सही नहीं निकली। उन्होंने कहा, "मध्य वर्ग ऐसी भूमि पर निवास करता है जिसकी जड़ें खुदी हुई हैं। जिसका द्रुतगति से पतन होना उतना ही निश्चित है जितना गणित सम्बन्धी प्रत्यक्ष निरूपण। समस्त श्रमिक वर्ग का गहरा रोष थोड़े ही समय पश्चात् इस प्रकार क्रान्ति के रूप में फैल जाएगा कि जिसकी तुलना फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति बालकों का खेल सिद्ध होगी।"

निष्कर्ष में पुर्ये ने वर्ग संघर्ष की समाजशास्त्रीय व्याख्याओं को प्रस्तुत किया है। व्यक्तियों तथा समूहों के कुछ ऐसे हित हो सकते हैं जो सदृश होते हुए भी दूसरों के लिए सामान्य नहीं हो सकते। इनकी सन्तुष्टि के लिए प्रयास करने में प्रत्येक व्यक्ति तथा समूह के मार्ग में कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। चूँकि प्रतिस्पर्धी बहुत होते हैं। यह प्रतिस्पर्धा की स्थिति है जो शीघ्र ही विरोध और उसके आगे संघर्ष का रूप ग्रहण कर सकती है। किन्तु सभ्य समाज में ऐसी अनेक स्थितियाँ किन्हीं परम्परागत या कानूनी नियमों द्वारा तय की जा सकती हैं। फिर भी समूहों के आचरण में ऐसी स्थिति प्रचलित नियमों से सरलतापूर्वक नहीं तय हो पाती है और लम्बे संघर्ष का रूप ग्रहण कर लेती है। श्रमिक वर्ग बनाम नियोजक वर्ग की स्थिति समय पर इतिहास के दौर में इस सीमा तक गिर जाती है कि केवल विस्फोटन ही उसका हल प्रस्तुत कर सकता है।

पुर्ये ने इस प्रकार से प्राचीन वर्ग-व्यवस्था का विवेचन करते हुए वर्तमान में वर्गों के विकास और स्थिति का जाति-व्यवस्था के सन्दर्भ में सारगर्भित पाठीय परिदृश्य प्रस्तुत किया है।

व्यवसाय
(Occupation)

घुर्ये ने अपनी कृति 'जाति वर्ग और व्यवसाय' म व्यवसाय क अनेक पक्षो की समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विवेचना की है। आपने जाति व्यवस्था के लक्षणो का वर्णन करते हुए आलोच्य पुस्तक के प्रथम अध्याय मे जाति का पाँचवा लक्षण **"अप्रतिबन्धित व्यवसायो के चयन का अभाव"** पर विस्तार से प्रकाश डाला है, आपने वर्ग व्यवस्था शीर्षक के अन्तर्गत लिखा है कि वर्ग-व्यवस्था वाले समाज मे व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण व्यवसाय और उससे प्राप्त आय से होता है। आपने वर्ग-व्यवस्था मे व्यवसाय को भूमिका एव महत्व पर सविस्तार प्रकाश डाला है तथा व्यवसायो के आधार पर वर्गों के निर्माण उनमे परस्पर उच्चता-निम्नता का क्रम, इनमे काल क्रमिक परिवर्तन का जो सारगर्भित वर्णन किया है उसे सक्षेप मे उपर्युक्त पृष्ठा मे **'वर्ग-व्यवस्था'** और **'वर्ग तथा उसकी भूमिका'** शीर्षको के अन्तर्गत दिया जा चुका है। व्यवसाय से सम्बन्धित तथ्यो के अतिरिक्त घुर्ये ने अध्याय-10 **'व्यवसाय तथा जाति'** स कुछ महत्त्वपूर्ण व्यवसाय सम्बन्धी तथ्य जाति और वर्ग के सन्दर्भ मे प्रस्तुत किए हैं वो निम्न हैं—

1 *जाति अपने उद्गम मे व्यावसायिक नहीं है।* *उन्नीसवीं शताब्दी के अध्ययनो के अनुसार* इसके लक्षणो मे केवल थोड़ा-सा बन्धन व्यवसाय के सम्बन्ध मे था। घुर्ये के अनुसार, "इतिहास ने भी हमारे सामने ऐसी जातियो के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं जो भिन्न-भिन्न व्यवसाय करती थीं तथा एक ही जाति के सदस्य भी भिन्न-भिन्न व्यवसाय करते थे।" सिद्धान्त रूप मे बहुत प्राचीन काल से न केवल वर्णानुसार व्यवसाय या व्यवसायो के समूह निर्धारित किए गए बल्कि उनमे से अनेक जाति के अनुसार भी निश्चित हुए।

2 उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे यह कट्टर विश्वास भी था कि बहुसंख्यक जातियो में से प्रत्येक का अपना परम्परागत व्यवसाय था और सदस्यो का वशानुगत व्यवसाय होता था जिसे त्याग देना अनुचित माना जाता था।

3 सभी समाजो—सभ्य, आदिवासी आदि समाजो मे व्यवसायो का विभिन्न प्रकार से मूल्याकन होता रहा है। सामाजिक वरिष्ठता एवं व्यवसायो व व्यवसाय समूहो की श्रेणीबद्धता की लगभग सर्वसम्मत योजना भारत के जाति समाज में विद्यमान थी।

4 व्यवसायों के भारतीय मूल्यांकन में शारीरिक श्रम की तुलना में अशारीरिक श्रम के कार्यों को उच्चतर मानने का लक्षण उसी प्रकार विद्यमान था जैसा कि समकालीन ब्रिटेन और अमेरिका मे मौन रूप से था।

5. भारत में कार्य के सामाजिक मूल्याकन का दूसरा स्वरूप कार्य या उससे सम्बन्धित पदार्थ शुद्ध या अशुद्ध, पवित्र है या अपवित्र, भ्रष्टताकारक है अथवा नहीं, को विशेष रूप से 19वीं शताब्दी से सामाजिक मूल्य का निर्धारक माना जाता रहा है।

6 पिछली शताब्दी तक व्यवसायो में कृषि को उत्तम माना जाता रहा है। घुर्ये ने इसे इस रूप में उद्धरित किया है। *"व्यवसायो मे कृषि उत्तम है, जबकि व्यापार मध्यम और नौकरी सबसे निकृष्ट है।"* इसी तथ्य को गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी कृति रामचरित मानस मे इस प्रकार से स्पष्ट किया है, *"उत्तम खेती मध्यम बान, अधम चाकरी भीख समान।"*

7 ब्रिटिश प्रशासन के आगमन के बाद ही नौकरी के अवसरों में निरन्तर वृद्धि होती रही। ब्रिटिश काल से वेतन बहुत कम मिलता था तथा नौकरी लोगों के विकसित आत्मसम्मान से मेल नहीं खाती थी। मनु ने घोषणा कर दी थी कि नौकरी कुत्ते का जीवन है।

8 घुर्ये ने व्यावसायिक समूह की रचना के तीन अनुक्रमों : उच्च, मध्य और निम्न वर्गों का उल्लेख किया है। तीसरे निम्न वर्ग के लोगों में मानसिक श्रम करने वाले तथा शारीरिक श्रम करने वाले दोनों प्रकार के कार्यकर्ताओं के लक्षणों का मिश्रण मिलता है। आपने वकालत के व्यवसाय को ब्रिटिश शासन काल की देन बताया है। अन्य व्यवसायों : इंजीनियर तथा भवन निर्माणकर्ता, डॉक्टर, चिकित्सक, वैद्य, शिक्षक, क्लर्कों तथा अन्य अनेक व्यवसायों का आपने वर्णन एवं मूल्यांकन किया है। इस सम्बन्ध में आपने निष्कर्ष इस प्रकार है—

8.1 अध्यापन का व्यवसाय भारत में सदैव एक आदरणीय व्यवसाय के रूप में रहा है।

8.2 इंजीनियरों तथा भवन निर्माणकर्त्ताओं का कार्य भारत के प्राचीन तथा मध्य युगों के विशाल निर्माण कार्यों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इन व्यवसायों में विशिष्ट जातियों के बाहर के लोग थे जो लकड़ी या पत्थर से सम्बन्धित परम्परागत व्यवसाय करते थे। मनु के अनुसार वह ब्राह्मण जो इन कार्यों को करते थे वे श्राद्ध भोज में आमंत्रित करने योग्य नहीं होते थे।

8.3 डॉक्टरी व चिकित्सक का व्यवसाय ब्रिटिश शासन काल से पूर्व भी भारत में विद्यमान था। मनु के अनुसार, "चिकित्सक का धन्धा ब्राह्मण को इतना भ्रष्ट कर देता था कि वह श्रद्धा भोज के अयोग्य हो जाता था।

9. घुर्ये ने उन व्यवसायों का वर्णन किया है जो भारतीय जाति समाज में विद्यमान थे तथा जो ब्रिटिश शासन काल में विकसित हुए थे। आपने लिखा है कि अनेक व्यवसायों का विकास इंग्लैण्ड में सामन्तवाद के पतन और वाणिज्यवाद और उद्योगवाद के विकास के समय हुआ था। आपने व्यवसाय के विकास और वर्गीकरण का विस्तृत वर्णन करते हुए लिखा है कि सर्वप्रथम राजा ग्रेगरी ने इंग्लैण्ड की जनसंख्या का व्यावसायिक और प्रस्थिति वितरण सम्बन्धी अनुमान 1688 में किया। समस्त जनसंख्या (आवारा एवं भिखारियों को छोड़कर) को पन्द्रह श्रेणियों में विभाजित किया गया। इस वर्गीकरण में क्लर्कों को पृथक् नहीं रखा गया। अगले पचास वर्षों के आर्थिक विकास के कारण छोटे जमींदार लोप हो गए और उनका स्थान भद्र एवं पेशेवर लोगों ने लिया।

10. 1801 में पेट्रिक कोलकुहोन ने व्यवसायों की स्थिति का विवरण दिया। आपने राजा के पन्द्रह के वर्गीकरण के स्थान पर बीस प्रकार दिए हैं। 1851 में इंग्लैण्ड की पहिले सरकारी जनगणना में सात हजार व्यवसाय दिखाए गए हैं। 1901 की जनगणना में व्यवसायों को 22 प्रमुख व्यवसाय समूहों में वर्गीकृत किया गया था।

11. घुर्ये ने इंग्लैण्ड की 1951 की जनगणना को उस व्यावसायिक चित्र का वर्णन किया है जो भारत में जाति से वर्ग के परिवर्तन को समझने में सहायक हैं। इस जनगणना में से तेरह व्यावसायिक समूहों का चयन किया गया है जो 82.7 प्रतिशत कर्मचारियों का वर्णन प्रदान करती

है। इसमे नियुक्त व्यक्तियो को पूर्ण सख्या 30 8 प्रतिशत स्त्रियाँ थी। घुर्ये ने 1951 की जनगणना के आधार पर निम्न निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं—

11 1 क्लर्को की जीवनयात्रा म परिनिरीक्षक प्रबन्धक और निर्देशक बनने की सभ्यताएँ हैं।

11 2 इनके व्यवसाय को भारत मे ब्रिटिश लोगो द्वारा अत्यन्त ही लोकप्रिय बना दिया गया है।

11 3 यही एक ऐसा व्यवसाय है कि जिसमे प्रवेश पाने के लिए साज सज्जा की दृष्टि से सरलतापूर्वक शोर मचाया जा सकता है।

11 4 समाज-कल्याण को अपनी सोची समझी हुई नीति मे राज्य इन स्थानो को सरक्षण के साथ भरता है।

11 5 यह व्यवसाय विभिन्न जातियो के आगे बढने मे प्रयत्नशील तथा बुद्धिमान सदस्यो का मिश्रित पात्र बन जाता है और इसे नगरो तथा कस्बो मे अधिक ग्रहण किया जाता है।

12 घुर्ये ने राष्ट्र सघ की साख्यिकी विशेषज्ञो की समिति के 1938 के जनसख्या वर्गीकरण के सिद्धान्त को उद्धरित किया है। जो निम्न हैं—(1) आर्थिक क्रियाकलाप की शाखा, व्यक्तिगत प्रस्थिति, और (3) व्यक्तिगत व्यवसाय। भारत मे 1951 की जनगणना अधिकारी को यह उचित सलाह दी गई कि वो हमारे देश की दशाओ के अनुकूल वर्गीकरण मे सशोधन करे।

डी आर गाडगिल ने 1954 मे व्यावसायिक (सामाजिक-आर्थिक) अनुवर्गों की योजना प्रकाशित की। तेरहवां अनुक्रम बेकारो के लिए था। आपने 12 अनुक्रमो को तीन पृथक् आर्थिक समूहो मे विकसित किया। इनमे से तीन अनुक्रमो में (1) अकुशल श्रमिक, (2) कुशल श्रमिक, और (3) अत्यधिक कुशल एव परिनिरीक्षक हाथ से कार्य करने वाले श्रमिक आते हैं। अन्य 9 अनुक्रमो में इस प्रकार है। (4) छोटा कारोबार, (5) मध्यकारोबार, (6) फैक्ट्रियो, विशाल निर्माण-गृहो आदि के स्वामी, (7) निम्नतम पेशे तथा प्रशासकीय पद, प्राथमिक अध्यापक आदि, (8) क्लर्क तथा दूकानो के गुमास्ते, (9) मध्यवर्ती पेशे सवैतनिक पद, माध्यमिक अध्यापक आदि, और (10) उच्चर पेशे तथा सवैतनिक पद, (11) निवृत्ति वेतनभोगी, (12) भिक्षुको एव वैश्याओं का है।

गाडगिल के वर्गीकरण पर 1951 के भारतीय जनगणना अधिकारी ने ध्यान नहीं दिया। लेकिन एन बी सोवनी ने गाडगिल के तत्त्वावधान मे 1954 मे पूना मे सर्वेक्षण किया जिसके निष्कर्ष घुर्ये ने निम्न रूप मे प्रस्तुत किया है—

1 जाति के व्यावसायिक रचना के सापेक्षित अनुपात मे बहुत अधिक परिवर्तन हो गया है। अकुशल हस्तकार्य मे 'अन्य हिन्दुओ बुनकर जातियो की अत्यधिक प्रतिशतता है। अनुसूचित जातियो की भी 1937 के व्यावसायिक दृश्य की अपेक्षा कुछ अधिक ही प्रतिशतता है।

2 अन्य हिन्दुओ, बुनकर जातियों, मालियों तथा अनुसूचित जातियों मे प्रत्येक का योगदान 1937 की तुलना में दुगुना हो गया है।

3 माध्यमिक पेशे तथा प्रशासकीय पदो मे 15 प्रतिशत कर्मचारी 'अन्य हिन्दुओ' में से आते हैं।

4 केवल ब्राह्मण जाति ऐसी है जिसके सदस्य सभी 9 अनुसूची क्रमो मे पर्याप्त प्रतिशतता में हैं। अकुशल हस्तकार्य के अतिरिक्त सभी आठो अनुक्रमो मे इस जाति के परिवार 5 प्रतिशत से अधिक हैं। इनकी उच्चतम प्रतिशतता क्लर्क तथा दुकानों के गुमास्तों मे है। ब्राह्मण किसी एक परम्परागत व्यवसाय मे सीमित नहीं है।

5. अनुसूचित जातियों के बन्धनयुक्त होने से इनका निम्नतम पेशों तथा प्रशासकीय पदो मे प्रतिशत बढ़ा है।

6. माली जाति का छोटे कारोबार मे उच्च प्रतिशतता है। इनकी प्रतिशतता अन्य सभी समूहों से अधिक है तथा मराठों से दुगुनी है।

7. आठ अनुक्रमों में प्रत्येक में 'अन्य हिन्दुओं' की प्रतिशतता पाँच से अधिक है। अन्य किसी जाति की इतनी प्रतिशतता नहीं है।

8. ब्राह्मणो की प्रतिशतता छोटे कारोबार मे घटी है।

घुर्ये की मान्यता है कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद राज्य द्वारा प्रारम्भ किया गया औद्योगीकरण तथा प्राविधिक प्रशिक्षण से जातियों की व्यावसायिक गतिशीलता में तेजी से वृद्धि हुई है। आपने सुझाव दिया है कि गाडगिल और गोवनी के अध्ययन नगरीय क्षेत्रों की स्थिति के सम्बन्ध में मार्गदर्शन का कार्य कर सकते हैं। आपने एन जी. चापेकर के बदलापुर गाँव-कस्बे का उल्लेख किया है। आपने इनके अध्ययन का सार देते हुए लिखा है कि महाराष्ट्र के कुछ थोड़े से गाँवों की फैक्ट्री का कार्य इस बदलापुर गाँव की विशेषता है। इसे न केवल नगरीय प्रभाव अपितु नगरीय प्रवृत्ति माना जा सकता है। घुर्ये ने चापेकर के सम्बन्ध में लिखा, *"श्री चापेकर का निम्नलिखित सार्थक कथन आज के ग्रामीण महाराष्ट्र की व्यावसायिक स्थिति का सारांश देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक समुदाय परम्परागत कार्य की अपेक्षा नौकरी को अधिक पसन्द करता है।"*

इस प्रकार से घुर्ये ने व्यवसाय में परिवर्तन को भारतीय समाज के सन्दर्भ में स्पष्ट किया है।

भारत में सामाजिक तनाव (Social Tension in India)—गोविन्द सदाशिव घुर्ये की भारत में सामाजिक तनाव पर पुस्तक **सोशियल टेन्शन इन इण्डिया** (Social Tension in India), 1968 में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में कुल 14 अध्याय हैं। इन अध्यायों में तनाव, संघर्ष और एकीकरण का भारतीय संदर्भ में विवेचन किया गया है। इस पुस्तक की पाठ योजना निम्नानुसार है—**प्रथम अध्याय :** संघर्ष, तनाव और एकीकरण के सम्बन्ध में समाजशास्त्रियों के दृष्टिकोण; **द्वितीय अध्याय :** अल्पसंख्यक और सामाजिक तनाव, **तृतीय अध्याय :** मानव अधिकार

और अल्पसंख्यक, **चतुर्थ अध्याय** - भारत का संविधान और अल्पसंख्यक, **पंचम, षष्ठ** एवं **सप्तम अध्यायों** में भारतीय इतिहास एवं संस्कृति (इसमें मुसलमानों एवं ईसाई प्रभावों का संक्षिप्त विवरण दिया है), **अष्टम अध्याय** : हिन्दू तथा मुस्लिम का कला एवं भवन निर्माण का मिश्रण, **नवम् अध्याय** : भारतीय कुण्ठा, **दशम् अध्याय** . हिन्दू-मुस्लिम दंगे, **एकादश अध्याय** भारतीय मुसलमानों के विचार और कार्य (I), **द्वादश अध्याय** : भारतीय मुसलमानों के विचार और कार्य, (II), **त्रयोदश अध्याय** : भाषाई तनाव, और **चतुर्दश अध्याय** - एकीकरण या राष्ट्रीय एकता। अध्यायों के शीर्षकों में सम्बन्धित विषयों, अवधारणाओं एवं समस्याओं का क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। घुर्ये द्वारा व्यक्त विचारों का सार निम्नानुसार है—

तनाव, संघर्ष और एकीकरण
(Tension, Conflict and Integration)

घुर्ये के अनुसार तनाव सामाजिक जीवन की सार्वभौमिक घटना है। **हन्स मोरगेन्थू** (Hanes Morgenthau) का कहना है कि तनाव घरेलू एवं अन्तर्राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर देखा जा सकता है। तनाव संघर्ष का सूचक तथा परिणाम है। तनाव खुले संघर्ष की पूर्वस्थिति है जिसमें हिंसा, गाली-गलौज, अपशब्द, उग्र दलीलों आदि के बाद शत्रुता, विरोध, तोड़फोड़, असहयोग अथवा मात्र चिड़चिड़ापन पाया जाता है। समाजशास्त्र में विगत वर्षों में ही तनाव की अवधारणा पर ध्यान दिया जाने लगा है। इस शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त तक तनाव पर ध्यान नहीं दिया गया। **फेयर चाइल्ड ने डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी** में तनाव पर चौथे दशक में लिखा है जिसे समाजशास्त्र का प्रथम कार्य कहा जा सकता है। **आर. एम. मैकीवर** ने समाजशास्त्र की पुस्तक **सोसायटी** में सजातीय और प्रजातीय समूहों की चर्चा करते समय अन्तर-समूह तनाव पर प्रकाश डाला। आपका कहना है कि समूहों में परस्पर उच्च स्तर का पूर्वाग्रह, तनाव और भेदभाव मिलता है। घुर्ये ने इन अवधारणाओं के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि भारत में 1860 से 1910 की अवधि में तनाव और उच्च तनाव को समाज के कुछ वर्गों में देखा जा सकता है। सामाजिक सुधार और सामाजिक परिवर्तन इसके वास्तविक उदाहरण हैं। केशवचन्द्र सेन, विद्यासागर, रानाडे, ज्योतिबा फूले, महर्षि कर्वे, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक तथा गोपाल कृष्ण की जीवनियों में अनेक अवसरों पर तनाव और उच्च तनाव के अस्तित्व को देखा जा सकता है। घुर्ये ने तनाव की अवधारणा के संक्षिप्त इतिहास के बाद इसकी तथा अन्य सम्बन्धित अवधारणाओं की परिभाषाओं की विवेचना की है।

अवधारणाओं की परिभाषाएँ
(Definitions of Concepts)

घुर्ये ने तनाव, सामाजिक तनाव, संघर्ष तथा एकीकरण आदि की परिभाषाओं की विवेचना की है जो निम्न है—

1 तनाव की परिभाषा (Definition of Tension)—घुर्ये ने स्पष्ट किया है कि तनाव की अवधारणा समाजशास्त्र में कैसे आई और इसका अर्थ क्या है। आपने लिखा है कि समाजशास्त्र

में मूल रूप से तनाव की अवधारणा शरीर क्रिया विज्ञान और शरीर क्रिया मनोविज्ञान से आई है। तनाव जीवों का एक गुण, क्षमता अथवा लक्षण है। यह स्वायत्त तंत्रिका यत्र के विभिन्न खण्डों में उत्पन्न होता है। जब इनमें से कोई एक क्रियाशील हो जाता है तो तनाव व्यवस्था के निश्चित खण्ड में एकत्र हो जाता है और वह अशान्ति और अनियंत्रित क्रियाओं को उत्पन्न करती रहती है। जब तक कि वह उपर्युक्त क्रिया द्वारा शान्त नहीं हो जाता है। तनाव के प्रमुख चालक पोषणता और लैंगिकता हैं। फ्रायड सम्प्रदाय के अनुसार लैंगिकता सभी तनावों और इच्छाओं मे सर्वोपरि कारण है। समाजशास्त्र में कुर्टलेविन (Kurt Lewin) ने सामाजिक मनोविज्ञान में क्षेत्र सिद्धान्त का विकास किया जिसे तनाव मनोविज्ञान भी कहा जाता है। आपने तनाव के दो प्रमुख प्रकार बताए हैं—सकारात्मक और नकारात्मक तनाव। घुर्ये ने लिखा है कि तनाव कोई अभिवृत्ति नहीं है लेकिन बुद्धि की अवस्था या स्थिति है, जैसे— "अपमानता, गंवारपान, सरक्षकता, अक्खड़पन, घृणा, विमुखता, विद्वेषता और सन्देह।" मैकीवर द्वारा बताई गई 51 अभिवृत्तियाँ 'तनाव' में स्थान रखती हैं। आपके अनुसार, "तनाव बुद्धि की एक अवस्था है जो समूह अथवा समूह के सदस्य को अलग-थलग कर देती है और जो तनाव या अप्रियता का कारण है तथा एक व्यवहार के प्रतिमान को पैदा करता है जिसे उपर्युक्त वर्णित एक सा मिश्रित अभिवृत्तियों के रूप में देखा जा सकता है।"

2. समाज और सामाजिक तनाव (Society and Social Tension)—सामाजिक तनाव की परिभाषा देने से पूर्व आपने समाज की परिभाषाएँ उद्धरित की हैं जो निम्न हैं—एल. टी. हाबहाउस ने समाज को 'सम्बन्धों का ऊतक' बताया है। मैकीवर ने समाज 'सामाजिक सम्बन्धों का जाल' बताया है। घुर्ये ने समाज को समूहों का और उन समूहों के सदस्यों का एकीकृत रूप बताया है। सभी मानव समाजों में व्यक्ति और समूह प्रमुख है। पार्क और बर्गेस ने दो प्रकार के समूह बताएँ हैं—(1) संघर्ष समूह, और (2) व्यवस्थापन समूह। घुर्ये ने लिखा है, "जापान के समाजशास्त्रियों आदि ने अपने समाज में भी विशिष्ट तनाव के समूह बताया है, ये हैं—(1) पारिवारिक जीवन में तनाव; (2) समुदायों में तनाव; (3) साहित्यिक संघों में तनाव, (4) 'इंटा' बहिष्कृत जाति की समस्या के इर्द-गिर्द तनाव, (5) प्रजातीय तनाव; (6) धार्मिक जीवन मे तनाव, (7) आर्थिक जीवन में तनाव; (8) वैचारिक तनाव; और (9) युवा लोगों मे तनाव। घुर्ये ने आलोच्य कृति में सामाजिक तनाव से तात्पर्य इन्हीं अन्तर वैयक्तिक तनावों और अन्तर-समूह तनावों से लगाया है।

3. संघर्ष (Conflict)—घुर्ये ने संघर्ष की अवधारणा के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि यह अवधारणा तनाव की तरह व्यक्तिगत, अन्तर-वैयक्तिक और अन्तर-समूह घटना है। इस पर मोर्गेन्थू के विचार महत्त्वपूर्ण हैं। मोर्गेन्थू के अनुसार राजनैतिक दल, धार्मिक एवं प्रजातीय समूह, क्षेत्र तथा बस्तियाँ अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए आर्थिक गतिविधियों में पारस्परिक लेन-देन एवं संघर्ष करती है। इसके बाद आपने सामाजिक कार्य विधि का वर्णन किया है जिसमें संघर्ष पैदा होता है जिसका कारण विरोधी दावे होते हैं। माल्थस और चार्ल्स डार्विन ने अस्तित्व के लिए व्यक्तियों और समूहों मे संघर्ष की चर्चा की है।

जार्ज सिमेल ने चार प्रकार की सामाजिक अन्त:क्रियाओ के प्रकार बताए हैं—(1) सघर्ष, (2) प्रतिस्पर्धा, (3) व्यवस्थान, और (4) आत्मासतकरण। इनसे सम्बन्धित चार प्रक्रियाओं को भी स्पष्ट किया है जो सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित हैं, ये निम्नानुसार हैं (1) सन्तुलन प्रतिस्पर्धा से सम्बन्धित हैं। (2) राजनैतिक व्यवस्था-सघर्ष से सम्बन्धित हैं, (3) सामाजिक संगठन व्यवस्थान से सम्बन्धित है, (4) आत्मसातकरण व्यक्तित्व तथा सास्कृतिक विरासत से सम्बन्धित है।

सिमेल ने सघर्ष के चार प्रकार बताए हैं—(1) युद्ध, (2) वैर एव झगडे, (3) मुकदमेबाजी, और (4) बहस या परिचर्चा। इ एस रॉस (E A Ross) ने अपनी कृति 'प्रिंसिपल्स ऑफ सोशियोलॉजी मे संघर्ष' से सम्बन्धित निम्न सात पक्ष लिखे हैं—(1) युगो का सघर्ष/युग-संघर्ष, (2) प्रजाति सघर्ष, (3) कस्बा देश/समुदाय/सघर्ष, (4) अन्तर्जातीय सघर्ष, (5) प्रौद्योगिक सघर्ष, (6) धार्मिक सघर्ष, और (7) पढे-लिखे एव अनभिज्ञो मे सघर्ष। मैकीवर ने मात्र दो सामाजिक प्रक्रियाओ (1) सहयोग, और (2) सघर्ष को माना है। मैकीवर कहते हैं, "समाज सहयोग है जो सघर्ष से रेखित होता है" (Society is Co-operation Crossed by Conflict)।

घुर्ये के अनुसार यग ने सामाजिक और व्यक्तिगत सघर्ष के निम्न आठ प्रकार बताए हैं—(1) प्रौद्योगिक, (2) प्रजातीय, (3) धार्मिक, (4) राजनैतिक, (5) अन्तर-समुदाय एवं अन्तः-समुदाय, (6) अन्तर-वर्ग और अन्तः-वर्ग, (7) लिग एवं आयु सघर्ष, और (8) बौद्धिक अथवा आचार सिद्धान्तो का सघर्ष। संघर्ष की अवधारणा के विकास मे ध्यान देने योग्य बात ये है कि संघर्ष मात्र दुष्कार्यात्मक एवं विघटनकारी ही नहीं है बल्कि यह संगठनात्मक कार्य भी करता है। फॉलेट (Follet) ने एक लेख "कंस्ट्रक्टिव कॉन्फिलक्ट" लिखा जिसमे आपने सघर्ष के संगठनात्मक एवं निर्माणात्मक पक्ष पर प्रकाश डाला। आपने कहा कि सघर्ष को अच्छा या बुरा कुछ भी नहीं मानना चाहिए। इसका अध्ययन पूर्वाग्रह के आधार पर नहीं करना चाहिए। संघर्ष के विचारो और हितो की भिन्नता के अनुसार देखना चाहिए। इस प्रकार से सघर्ष का अर्थ है मतभेद।

राबर्ट एन्गील (Robert Angell) ने सघर्ष की एकात्मपरक भूमिका पर निम्न शब्दो में प्रकाश डाला है, "हमने इस पर जोर दिया है कि सघर्ष एकीकरण के साथ तब अनुरुपता रखता है जब सघर्ष केवल समस्त मापदण्डो के अनुसार होता है।" इसी प्रकार से एम एम लेविस कहते है, *"युद्ध बिना, शान्ति अन्दर, शान्ति बिना, युद्ध अन्दर आज के समाज की परिवर्तित विशेषता है।"*

घुर्ये ने संघर्ष की परिभाषा की विवेचना की है। आपने रॉबिन एम विलियम्स द्वारा दी गई संघर्ष की परिभाषा उद्धरित की है जो निम्न है, "सघर्ष मूल्यो (वितरणात्मक या अवितरणात्मक) मे द्वन्द्व है जिसमें शत्रुओ का तत्काल उद्देश्य अपने प्रतिस्पर्धियो को प्रभावहीन, पीड़ित अथवा हटाना है।" विलियम्स का कहना है कि सभी परिचित सामाजिक व्यवस्थाओ मे व्यक्ति स्वयं को किसी समूह का सदस्य मानता है जिसे बौद्धिक एवं व्यावहारिकता के अनुसार "हम समूह" कहते हैं

तथा अन्य समूहों को "वे समूह" अथवा "अ-हम-समूह" कहते हैं। इस प्रकार की शत्रुता समूह-संघर्ष का स्रोत होता है। किसी भी प्रकार की कुण्ठा (वास्तविक अथवा काल्पनिक) संघर्ष की प्रकृति को कठोर बनाने में 'आग में घी' का काम करती है।

रेमण्ड एरोन (Raymond Aron) ने संघर्ष की निम्न परिभाषा दी है, "समूह संघर्ष दो समूहों और व्यक्तियों में निश्चित सीमित वस्तु को प्राप्त करने अथवा पारम्परिक असगत मूल्यों को पाने के लिए विरोध अथवा द्वन्द्व है।"

किंग्स्ले डेविस ने अपनी पुस्तक *ह्यूमन सोसायटी* में प्रक्रिया के तीन महत्त्वपूर्ण प्रकारों में संघर्ष को प्रथम स्थान पर रखते हुए इसको दो प्रकारों का उल्लेख किया है—आंशिक संघर्ष और पूर्ण संघर्ष, जिसमें समझौते की सम्भावना किसी भी स्तर पर नहीं होती है।

फॉलेट (Follet) का कहना है कि संघर्ष अथवा मतभेद को हल करने के तीन प्रमुख तरीके हैं—(1) प्रभुत्व, (2) समझौता, और (3) एकीकरण। पुर्ये का कहना है कि फॉलेट का समझौता और समाजशास्त्रियों का व्यवस्थापन की प्रक्रियाएँ समान है। जब संघर्ष का हल एकीकरण के द्वारा किया जाता है तो स्थरीकरण उसका परिणाम निकलता है जो निर्माणात्मक है। प्रभुत्व के द्वारा केवल एक पक्ष को वह मिलता है जो वह चाहता है, समझौते के द्वारा किसी को भी वो नहीं मिलता जो वह चाहते हैं तथा एकीकरण के द्वारा दोनों ही पक्षों को वो मिल जाता है जो वो चाहते हैं। इस प्रकार से एकीकरण व्यक्ति और सामाजिक समूहों के लिए एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

4. एकीकरण (Integration)—घुर्ये का स्वभाव रहा है कि ये अवधारणा की विवेचना में सर्वप्रथम उसके इतिहास पर अवश्य प्रकाश डालते हैं। एकीकरण के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए आपने लिखा है कि फॉलेट ने एकीकरण की अवधारणा का प्रयोग राजनैतिक विज्ञान में 1921 और 1927 में किया था। अमरीका में एकीकरण की अवधारणा का उल्लेख 1931 तक 'एँनसाइक्लोपीडिआ ऑफ दा सोशियल साइन्सेज' में नहीं हुआ था। यद्यपि एँनसाइक्लोपीडिआ ब्रिटानिका के 14वें संस्करण में एकीकरण पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखी गई। लेकिन इस अवधारणा की प्रक्रिया और महत्त्व को हर्बर्ट स्पेन्सर ने 1862 में अपनी पुस्तक में प्रयोग करके स्पष्ट कर दिया था। आपने जोर देकर कहा कि विभेदीकरण के साथ एकीकरण निर्जीव, जैविक और सामाजिक उद्विकास का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

1931 में मैकीवर ने अपनी पुस्तक सोसायटी में फॉलेट एकीकरण की अवधारणा को प्राथमिक समूह के सिद्धान्त में समूह-प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत किया। मैकीवर ने विचारों का उपयोग किया तथा एकीकरण की अवधारणा को आगे बढ़ाया। बाद में सामाजिक परिवर्तन और प्रगति की विवेचन में मैकीवर ने हर्बर्ट स्पेन्सर के उद्विकास से सम्बन्धित एकीकरण के विचारों का भी उपयोग किया। आपने लिखा कि यह सामान्यतया कहा जाता है कि उद्विकास विभेदीकरण और एकीकरण की एक प्रक्रिया है लेकिन विभेदीकरण को जब ठीक से समझा जाता है तो वह एकीकरण को व्यक्त करता है।

डेविड एफ. अबेर्ले (David F Aberle) ने एकीकरण की निम्न परिभाषा दी है, "एकीकरण से हमारा तात्पर्य है समाज की क्षमता जिससे वह बार बार खुले संघर्ष मे पतन होने या स्वतत्र छोटी व्यवस्थाओ की शृखलाओं मे बिखरे बिना एक प्रकार से सगठित पूर्णता मे कार्य कर सके।"

वेर्नर एस. लेण्डेकर (Werner S Landecker) ने एकीकरण की परिभाषा न देकर इसके चार प्रकार दिए हैं—
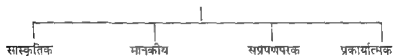
4.1 सास्कतिक एकीकरण (Culteral Integration)—सास्कृतिक मानदण्डो मे एकीकरण।

4 2 मानकीय एकीकरण (Normative Integration)—सास्कृतिक मानदण्डो और मानव के व्यवहारो मे एकीकरण।

4.3 संप्रेषणपरक एकीकरण (Communicative Integration)—अर्थों के विनिमय द्वारा एकीकरण।

4.4 प्रकार्यात्मक एकीकरण (Functional Integration)—सेवाओ के विनिमय द्वारा एकीकरण जिसे अर्थशास्त्री 'श्रम का विभाजन' कहते हैं।

श्रम विभाजन की व्यवस्था की इकाइयो मे पारस्परिक निर्भरता की मात्रा मे प्रकार्यात्मक एकीकरण होता है। यह दूसरे प्रकार के एकीकरणो में सहायक हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। लेकिन अन्य तीनो प्रकार के एकीकरण एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्धित हैं। संचार अथवा अर्थों का आदान-प्रदान समूह मे सप्रेषणपरक (सचार सम्बन्धी) एकीकरण की मात्रा निर्धारित करता है जिसका सम्बन्ध सास्कृतिक एकीकरण और मानकीय एकीकरण के साथ है। लेण्डेकर के अनुसार सम्प्रेषणपरक एकीकरण अन्य प्रकार के एकीकरणो का केन्द्रीय और प्रमुख आधार है। एम एम गोर्डेन ने दो स्तरो पर एकीकरण की अवधारणा का प्रयोग सामाजिक समूह के सन्दर्भ मे किया है—(1) सामुदायिक एकीकरण स्तर, और (2) बहुवादी एकीकरण स्तर। 1959-60 मे पीटर एम. ब्लॉग ने दो लेख "सामाजिक एकीकरण" पर लिखे और उससे सामाजिक एकीकरण समाजशास्त्र में स्थापित हो गया। एक लेख मे आपने समूह मे व्यक्तियो का एकीकरण—अन्तर वैयक्तिक एकीकरण की विवेचना की है तथा इसके सूचको को स्पष्ट किया है। दूसरे लेख मे आपने "ए थ्योरी ऑफ इन्टीग्रेशन" शीर्षक से लिखा। इसमे आपने बताया कि एकीकरण का निर्धारण समूह के सदस्यों में एक-दूसरे को आकर्षित करने की शक्ति सम्पर्क करने की क्षमता तथा ऐसा करने की इच्छा करती है। फॉलेट का कहना है कि एकीकरण स्पष्ट

करता है कि "समाधान मिल गया है जिसमें दोनों पक्षों को स्थान मिल जाता है तथा किसी भी पक्ष को कुछ भी त्यागना नहीं पड़ता है।"

रॉबर्ट स्कोटस् ने भौतिक और मनोवैज्ञानिक एकीकरण में योगदान दिया। कार्ल जे फ्रेडरिक ने दो प्रकार के एकीकरण बताए हैं—एकताकारी और एकीकरण, तथा (2) 'राष्ट्रीय निर्माण'। जेम्स एम. कॉलमैन ने तथा कार्ल जी रासबर्ज ने प्रथम पुस्तक "राष्ट्रीय एकीकरण" पर 1964 में लिखी जिसमें आप दोनों ने (1)राजनैतिक एकीकरण, और (2) भूभागीय एकीकरण पर प्रकाश डाला है। पी ई जेकब् ने यूरोप के आर्थिक समुदाय की परिस्थितियों के आधार पर एकीकरण ने निम्न चार प्रकार निर्धारित किए—(1) राजनैतिक एकताकारी के रूप में एकीकरण, (2) आर्थिक एकताकारी के रूप में एकीकरण, (3) आर्थिक एवं राजनैतिक सहयोग के रूप में एकीकरण, और (4) स्वतंत्र व्यापार के रूप में एकीकरण।

घुर्ये लिखते हैं कि जिस प्रक्रिया के द्वारा एकता की परिस्थिति प्राप्त की जाती है वे सभी जटिल तकनीकें एकीकरण कहलाती हैं। इसके दो घटक हैं—(1) राजनैतिक एकीकरण जिसमें—(अ) भूभागीय एकीकरण, और (ब) आर्थिक एकीकरण सम्मिलित हैं। (2) सामाजिक एकीकरण, भूभागीय एकीकरण में सभी भौगोलिक क्षेत्रों की एकताकारिता आती है, तथा उनमें जैविक एकता होती है जो यातायात एवं संचार में बाधा बन सके। आर्थिक एकता में सभी आर्थिक क्रियाएँ सभी लोगों व एक सामान्य प्रशासन के अधीन होती है।

दूसरा घटक सामाजिक एकीकरण है जिससे तात्पर्य है—व्यक्तियों और समूहों का ऐसा एकीकरण जिसमें व्यक्तियों में सामान्य साझा मूल्य होते हैं। इस सामाजिक एकीकरण का आधार और परिणाम मनोवैज्ञानिक एकीकरण होता है जो संप्रेषणपरक एकीकरण के द्वारा होता है। संचार या संप्रेषणपरक के द्वारा विभिन्न लोग परस्पर एक-दूसरे के सम्पर्क में सामान्य मूल्यों के द्वारा आते हैं। यह प्रत्येक नागरिक में भावात्मक पहचान स्थापित करता है जिसे राष्ट्र-राज्य के द्वारा आदर्शपूर्ण रूप में प्रदर्शित किया जाता है। घुर्ये इस पूर्ण जटिलता को सामाजिक एकीकरण कहते हैं जिसका कारण आपने इसमें राजनैतिक पक्ष, प्रशासनिक एकता और राजनैतिक सहभागिकता का होना बताया है जो प्रत्येक नागरिक का राजनैतिक एकीकरण है और उसके मिलने से राष्ट्रीय एकीकरण का निर्माण जो जटिलपूर्ण बनता है वह राष्ट्रीय एकीकरण कहलाता है।

5. सामाजिक तनाव और अल्पसंख्यक (Social Tension and Minorities)— घुर्ये ने अल्पसंख्यकों से सम्बन्धित सामाजिक तनाव की विस्तृत विवेचना की है। आपने भाषा के आधार पर अल्पसंख्यकों में तनाव का निर्धारण किया है। इसे आपने भाषाई तनाव कहा है। एक भाषा को बोलने वाले अल्पसंख्यक पूरे भारत में बसे हैं। वे अपनी भाषा को राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता दिलवाना चाहते हैं। इसी प्रकार से एक धर्म को मानने वाले अल्पसंख्यक धर्मावलम्बी पूरे देश में फैले हुए हैं उनमें धर्म के आधार पर अन्य धर्मावलम्बियों के साथ धार्मिक तनाव या साम्प्रदायिक झगड़े देखे जा सकते हैं। घुर्ये ने सामाजिक तनाव के तीसरे रूप अल्पसंख्यकों में प्रान्तीयता के आधार पर भी संघर्ष की विवेचना की है। आपने यह पुस्तक 1968 में लिखी थी, उस समय संविधान

की 8वीं अनुसूची में बारह भाषाओं का उल्लेख किया गया था तथा भाषा के आधार पर भाषाई राज्यों के निर्माण की प्रक्रिया देखी जा सकती है। भारतीय संविधान के अधिनियम 30 (1), (2) 350 (ब) 1 में ''भाषाई अल्पसंख्यक समूह''और ''भाषाई अल्पसंख्यक'' का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संविधान में अल्पसंख्यका का निर्धारण संस्कृति या प्रजाति या राष्ट्रीयता के अनुसार नहीं है। यह केवल भाषा या धर्म अथवा दोनों पर आधारित है।

मुस्लिम भारतीय जो उर्दू भाषाइयों का भिन्न धर्म है तथा वे भाषा और धर्म के आधार पर भारत में अल्पसंख्यक हैं। भारत में धर्म के आधार पर ईसाई एक और अल्पसंख्यक हैं परन्तु वे कोई विशिष्ट भाषाई नहीं हैं। ये लोग भारत के विभिन्न राज्यों में फैले हुए हैं जहाँ उनका जन्म एवं पालन पोषण हुआ है तथा वे अपने अपने राज्यों की भाषा बोलते हैं। इसलिए अंग्रेजी भाषा भारतीय ईसाइयों की विशिष्ट भाषा नहीं मानी जा सकती है।

अल्पसंख्यक द्वितीय महायुद्ध के बाद एक प्रकार के रूप में राजनीतिशास्त्र में और एक अवधारणा के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों तथा कानून में प्रस्फुटित हुआ था। एनसाइक्लोपिडिया ब्रिटानिका के 1964 के संस्करण में अस्पृश्यों, अल्पसंख्यकों की समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। **कोहन** के अनुसार, ''अल्पसंख्यक वो समूह है जो सामान्य वंशज के बन्धन, भाषा या धार्मिक विश्वास और इन क्षेत्रों में अपने को निश्चित राजनैतिक क्षेत्र में बसे बहुसंख्यकों से भिन्न अनुभव करते हैं।''

लुईस विर्थ (Louis Wirth) ने अल्पसंख्यक की निम्न परिभाषा दी है, ''एक लोगों का समूह अपने शारीरिक अथवा सांस्कृतिक लक्षणों के कारण जिस समाज में रहते हैं उसमें असमान अथवा भेदभावपूर्ण व्यवहार करने के लिए दूसरों से पृथक् कर दिए जाते हैं और इसलिए वो अपने को सामूहिक भेदभाव का विषय मानते हैं। अल्पसंख्यक प्रस्थिति के साथ समाज के जीवन में पूर्ण सहभागिता सम्बन्धी अपवर्जन जुड़ा होता है।''

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि अल्पसंख्यक किसी समाज में एक छोटा समूह है जिसे उनके शारीरिक, सांस्कृतिक, भाषाई, धार्मिक और राजनैतिक लक्षण या लक्षणों के कारण समाज के बहुसंख्यकों में अलग-थलग या पृथक् कर दिया जाता है। अल्पसंख्यक अपने को भेदभाव व्यवहार का विषय मानते हैं। समाज की सभी गतिविधियों में वे भाग नहीं ले सकते हैं। उन पर अनेक प्रतिबन्ध होते हैं। उनका विभिन्न प्रकार से शोषण किया जाता है अथवा उन्हें सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में समान अधिकार प्राप्त नहीं होते हैं। इन्हीं भेदभावों के कारण राष्ट्र संघ ने अल्पसंख्यकों के अधिकार सम्बन्धी प्रावधान स्पष्ट किए हैं जिनका घुर्ये ने उल्लेख किया है।

अल्पसंख्यकों के प्रमुख अधिकार (Principal Rights of Minorities)

घुर्ये ने लिखा है कि राष्ट्रसंघ केवल प्रजातीय, भाषाई अथवा धार्मिक अल्पसंख्यकों को मानता है। इसमें कहीं पर भी राष्ट्रीय अथवा सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों का उल्लेख नहीं मिलता

है। इसी सन्दर्भ मे राष्ट्र संघ ने प्रजातीय, भाषाई अथवा धार्मिक अल्पसंख्यकों के निम्न प्रमुख अधिकारों का वर्णन किया है—

राष्ट्रीयता (Nationality)—(1) एक व्यक्ति का निश्चित सीमा में आदतन आवास है अथवा वह आदतन आवास करने वाले की सन्तान है तो उसे उस राष्ट्र राज्य की राष्ट्रीयता प्राप्त हो जाती है जिसकी सीमा में वह क्षेत्र आता है। (2) जीवन की स्वतंत्रता, और पूजा की स्वतंत्रता 'उन सभी निवासियों का अधिकार है, चाहे उसकी प्रजाति, धर्म या विश्वास वहाँ की जनता की व्यवस्था अथवा जनता के आचार से मेल नहीं खाते हो, (3) कानून के सामने सभी समान हैं। प्रजाति, भाषा या धर्म के आधार पर किसी भी राष्ट्र या देश में नौकरियां, व्यवसायो और उद्योगों में भेदभाव नहीं बरता जाएगा।(4) जो अल्पसख्यक राष्ट्र है उन्हें पूरा अधिकार है अपने सामाजिक और धार्मिक संस्थाओ, पाठशालाओं और शैक्षणिक संस्थाओं को स्थापित करने, चन्दा द्वारा चलने आदि का अधिकार है। (5) राज्य उन पर उनकी भाषा के उपयोग पर कोई प्रतिबन्ध लागू नहीं करेगा। (6) राज्य इन्हें मौखिक अथवा न्यायालय द्वारा उनकी भाषा के बोलने के लिये राजकीय भाषा के अतिरिक्त सभी सुविधाएँ प्रदान करेगा। (7) राज्य उन्हें कस्बों और जिलों में बच्चों को पढ़ाने के लिए प्राथमिक विद्यालयों में उपर्युक्त सुविधाएँ प्रदान करेगा। (8) राज्य उन्हें सम्पूर्ण बजट में से उनकी जनसंख्या के अनुपात में वित्तीय सहायता देगा जिसे वो शिक्षा, धर्म तथा दान के उद्देश्यों के रूप में उपयोग कर सकते हैं। (9) अल्बानियाँ और यूनान में मुसलमानो के परिवार के कानून और व्यक्तिगत अधिकारो के लिए राज्य कदम उठाएगा और वहाँ मुसलमानों को परम्पराओं के अनुसार व्यवस्था करेगा।

सांस्कृतिक बहुवाद और बहु-समाज (Cultural Pluralisim and Plural Society)—घुर्ये ने सांस्कृतिक बहुवाद और बहु-समाज, समाज में विभिन्नता के पक्षों का तनाव के सन्दर्भ में आलोचनात्मक मूल्यांकन किया है। इससे सम्बन्धित विद्वानों के विचारो को आपने क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया है। किसी एक समाज में एक से अधिक प्रजाति या सांस्कृतिक मूल की जनसंख्या होने से वह बहु-समाज नहीं बन जाता है। बहु-समाज के लिए विभिन्नता एक आवश्यक लेकिन सन्तोषजनक स्थिति नहीं है। सभी तथा अधिकतर राष्ट्र, जिनमें भिन्नता वाली जनसंख्याएँ होती है, आवश्यक नहीं है, वे बहु-समाज हो। उनकी प्रमुख जनसंख्याओं के समूहो में जाति, भाषा, धर्म, भौगोलिक क्षेत्र तथा संस्कृति में अवश्य भिन्नता होनी चाहिए। बहु-समाज में विभिन्नता की समस्या का समाधान प्रभावी जनसंख्या के अलग अस्तित्व की पहिचान, सम्पर्क के तत्वों के क्षेत्र विशेष रूप से बाजार और राजनीति, सीमित होने चाहिएँ। एक बहु समाज तभी बनता है जब समाज में एक छोटा प्रमुख समूह होता है, जिसके पास समाज के अन्य सांस्कृतिक समूहों पर शक्ति एवं नियंत्रण रहता है। राष्ट्रवादियों की मान्यता है कि राजनैतिक और सांस्कृतिक विषय अपरिहार्य है। कोई भी संस्कृति तभी बनी रह सकती है जब उसके पास राजनैतिक सत्ता एवं शक्ति हो। इसीलिए बहु-समाज, बहु-संस्कृति तथा बहु-जनसंख्या, बहु-आर्थिकी आदि में तनाव की समस्याएँ विद्यमान होती हैं।

घुर्ये ने लिखा है कि बहुवाद मे अल्पसख्यको और बहुसख्यको के बीच बहुवादी उद्देश्यो को बनाए रखने के कारण सघर्ष की कुछ मात्रा का बने रहने का खतरा सर्वदा बना रहता है। सर्वोच्च महत्त्व के विषय, जैसे—बाहर से आक्रमण के अतिरिक्त बहु समाज मे सवजन इच्छा नही होती है। आपने अन्त मे लिखा है कि समुदाय के मध्य सम्बन्धो को सुधारने के लिए सभी प्रकार के सम्भव प्रयास किए जाते हैं तब भी उन लोगो के बीच तनाव विद्यमान रहते हैं जो मौलिक प्रश्नो पर अपने भिन्न विश्वास व्यक्त करते हैं और उनमे भी जिनका जीवन एव विचार विभिन्न भाषाओ द्वारा व्यक्त होते हैं।

घुर्ये के उपर्युक्त योगदान एव चिन्तन ने भारतीय समाजशास्त्र के विकास म उल्लेखनीय योगदान दिया है। □

अध्याय-16

डी. पी. मुखर्जी का योगदान
(Contribution of D.P. Mukherjee)
(1894-1962)

भारतीय समाजशास्त्र में धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी (Dhurjati Prasad Mukherjee) का विशेष स्थान है। आप डी. पी. मुखर्जी के नाम से जाने जाते हैं। डी. पी. मुखर्जी राधाकमल मुखर्जी के समकालीन रहे हैं। भारत के सामाजिक वैज्ञानिक आपको डी. पी. के नाम से पुकारते हैं। डी पी. मुखर्जी का समाजशास्त्र के अतिरिक्त अर्थशास्त्र, साहित्य, संगीत और कला के क्षेत्रों में भी उल्लेखनीय योगदान रहा है। समाजशास्त्र का सर्वाधिक लाभ आपके द्वारा प्रतिपादित अनेक अवधारणाओं, सिद्धान्तों, मौलिक विचारों, मौखिक बातचीत और विचारों की अद्वितीय अभिव्यक्ति के कारण हुआ है। अब हम व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध रूप से डी. पी. मुखर्जी के जीवन-चित्रण, प्रमुख रचनाओं, लेख, विचारों, समाजशास्त्र में योगदान, कार्य-प्रणाली आदि का अध्ययन करेंगे।

डी. पी. मुखर्जी का जीवन-चित्रण
(Life Sketch of D. P. Mukherjee)

डी. पी. मुखर्जी का जन्म बंगाल के एक मध्यम वर्गीय ब्राह्मण परिवार में सन् 1894 में हुआ था। आपके व्यक्तित्व के निर्माण पर परिवार एवं जाति के संस्कारों का प्रभाव पड़ा। आपने 1918 में एम.ए. इतिहास तथा 1920 में एम.ए. अर्थशास्त्र की परीक्षा पास की। आपने ये उपाधियाँ कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्राप्त कीं। आपकी शिक्षा अच्छी हुई। आगे चलकर आपने अपने परिवार के वातावरण के प्रभाव के फलस्वरूप शिक्षण-कार्य व्यवसाय के रूप में ग्रहण किया। पहले आप इतिहास के विद्यार्थी रहे। उस काल में इतिहास में अर्थशास्त्र भी पढ़ाया जाता था। बाद में आपने इतिहास में उपाधि प्राप्त की। आपने वर्षों तक समाजशास्त्र और इतिहास का अध्यापन किया। ज्ञान के क्षेत्र में सभी विषयों में आप रुचि लेते थे। आपका विवाह छायादेवी के साथ हुआ। बाद में आप एक समाजशास्त्री के रूप में उभरे तथा अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में आपको एक समाजशास्त्री के रूप में माना जाने लगा।

धुर्जटि प्रसाद मुखर्जी चतुर्मुखी प्रतिभा के धनी मौलिक विचारक व भविष्य को देखने की अद्भुत क्षमता रखने वाले समाजशास्त्री थे। आपके शिक्षण काल म बगाल मे अनेक महान् हस्तियाँ थी। उस समय बंकिम चन्द्र, रवीन्द्रनाथ टाकुर एव शरत् चन्द्र आदि के साहित्य का विशेष प्रभाव था। उस समय बगाली साहित्य का भी पुनर्जागरण हो रहा था। इस वातावरण का डी पी के व्यक्तित्व पर विशेष प्रभाव पडा। डी पी पर सगीत, राजनीति, चित्रकला, साहित्य और विज्ञान आदि का इतना अधिक प्रभाव पडा कि आपने समाज और अर्थशास्त्र के अतिरिक्त अनेक विषयो पर अधिकार के साथ काफी कुछ लिखा। डी पी को सगीत से सम्बन्धित अच्छा ज्ञान था। आप अक्सर उस्तादो के साथ बैठा करते थे और राग रागनियों की आपको अच्छी पहचान व पकड थी। आपने भारतीय सगीत के परिचय के सम्बन्ध मे बाद मे सन् 1945 मे एक पुस्तक 'इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन म्यूजिक' लिखी। बाद मे आपने मार्क्सवाद का गहन अध्ययन किया। आपके विचारो पर समस्याओ के अध्ययन, निवारण आदि के सन्दर्भ मे मार्क्सवाद का प्रभाव देखने को मिलता है। आपके लिए राजनैतिक आन्दोलन और इसकी दशा और दिशा मात्र सामाजिक परिवर्तन के अग थे। आपके ज्ञान का लाभ एकीकरण को प्राप्त करने मे सहायक रहा। डी पी जो कुछ कहते, लिखते अथवा करते वह बहुत प्रभावशाली होता था।

आपने अपना अध्यापक जीवन अपने निवास स्थान के बगवासी कॉलेज से प्रारम्भ किया। यहाँ से आप सन् 1922 मे लखनऊ विश्वविद्यालय मे व्याख्याता बने। यहाँ आपने अर्थशास्त्र एव समाजशास्त्र के व्याख्याता पद पर कार्य आरम्भ किया तथा इस विख्यात विश्वविद्यालय मे 32 वर्षों तक खूब पढा, पढाया, सीखा और सिखाया। इस कार्य काल मे आपने अपने शिष्यो को पढाया जो आगे चलकर भारत के राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के समाजशास्त्री के रूप मे सामने आए। आपने इस विश्वविद्यालय की शैक्षणिक व्यवस्था एव सगठन के निर्माण मे अद्वितीय योगदान दिया। यद्यपि आपके शिक्षण का कार्यकाल लखनऊ विश्वविद्यालय मे व्यतीत हुआ किन्तु बीच-बीच मे आप अन्यत्र भी जाते रहे। आपने प्रथम उत्तरप्रदेश सरकार के समय मे 1937 से 1940 तक विभिन्न पदो पर कार्य किया। जब काग्रेस सत्ता मे आई तो आप सूचना-विभाग के निदेशक बने। इस काल मे आपने जन-सम्पर्क को बौद्धिक दृष्टिकोण से पुनर्गठित किया। डी पी ने "अर्थशास्त्र और साख्यिकी ब्यूरो" की स्थापना की और उसके द्वारा आपने समाज के अनेक महत्त्वपूर्ण विभिन्न पक्षो से सम्बन्धित सूचनाओ और तथ्यो को एकत्र करने, वर्गीकृत करने तथा विश्लेषित करने का कार्य प्रारम्भ किया। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को प्रारम्भ करने का श्रेय आपको ही जाता है। आप इस क्षेत्र मे और भी कार्य करते लेकिन उत्तरप्रदेश की काग्रेस सरकार द्वारा अग्रेजो के साथ द्वितीय महायुद्ध की समस्या पर मतभेद होने के कारण त्याग-पत्र दे दिया गया जिसके परिणामस्वरूप डी पी मुखर्जी लखनऊ विश्वविद्यालय मे व्याख्याता के पद पर लौट आये।

सन् 1947 मे डी पी को उत्तरप्रदेश जाँच समिति का सदस्य नियुक्त किया गया। इस समिति के सदस्य के नाते आपने अपने ज्ञान के आधार पर अमूल्य सुझाव देकर बहुमूल्य योगदान दिया।

सन् 1951 मे आपको लखनऊ विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर बनाया गया। एम सी राव (M Chalapathi Rav) ने अपने लेख 'डी पी मुखर्जी : ए पोर्ट्रेट' (D P Mukherjee A

Portrait) में लिखा है कि आपको प्रोफेसर बहुत पहले ही बना देना चाहिए था लेकिन डी. पी. को पदों के प्रति कोई रुचि नहीं थी। प्रोफेसर नहीं बनने का उन्हें कभी दुःख नहीं हुआ और बनने से कोई खुशी भी नहीं हुई।

सन् 1953 में लखनऊ विश्वविद्यालय से सेवा निवृत्ति के एक वर्ष पूर्व अलीगढ़ विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष पद के लिए आपको निमत्रण प्राप्त हुआ जिसे आपने स्वीकार किया तथा वहाँ 5 वर्षों तक कार्यरत रहे। बाद में पूर्ण रूप से स्वस्थ न रहने के कारण वे कार्य नहीं कर सके। इसके उपरांत भी अलीगढ़ विश्वविद्यालय ने आपसे पद पर बने रहने का आग्रह किया, जिससे एक प्रेरणा स्रोत व्यक्तित्व वहाँ बना रहे। लेकिन आपने इस आग्रह को अस्वीकृत कर दिया।

डी पी मुखर्जी समाजशास्त्र के 'विजिटिंग प्रोफेसर' बनकर हेग में 'इन्टरनेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशियल स्टडीज' में कार्यरत रहे। डी पी मुखर्जी 'इण्डियन सोशियोलोजिकल एसोसिएशन' के संस्थापक सदस्य थे। आप इसकी कार्यकारिणी समिति के सदस्य थे। आप इस समिति के संस्थापक मण्डल के भी सदस्य थे तथा इसकी स्थापना में आपका उल्लेखनीय योगदान रहा। इस समिति द्वारा 1955 में आपने प्रथम 'अखिल भारतीय समाजशास्त्रीय सगठन' की बैठक की अध्यक्षता की। डी पी मुखर्जी को यूनेस्को ने पेरिस में व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित किया था। आपने पेरिस में ओजस्वी व्याख्यान दिया।

डी. पी मौखिक बातचीत बहुत अधिक करते थे। आपसे बुद्धिजीवी खूब मिलते थे। आपके लेखन से अधिक महत्त्वपूर्ण व्याख्यान, वार्तालाप और विचार-विमर्श होते थे। आप धूम्रपान बहुत अधिक करते थे। वे अपने छात्रों से कहा करते थे "मेरे पास पुस्तकें लिखने को समय कहाँ है?" आप विचारों की अभिव्यक्ति में अद्वितीय थे। "संस्कृति का समाजशास्त्र" विषय के आप अधिष्ठाता थे। आपने मौखिक बातचीत के द्वारा एक पीढ़ी को प्रशिक्षित किया, सोचने के लिए तैयार किया। आप कहा करते थे, **"मानव का निर्माण करना मेरे लिए पर्याप्त है।"** जब आप हेग में थे, उस समय अधिक धूम्रपान के कारण आपके गले में कैंसर हो गया था, इसके उपचार के लिए आप ज्यूरिख गये, वहाँ शल्य चिकित्सा की गई इससे आपको कुछ आराम तो मिला लेकिन आपकी आवाज खराब हो गई। आप वापिस अलीगढ़ लौट आये तथा अपने पद पर तब तक कार्यरत रहे जब तक शरीर ने साथ दिया। शिक्षा जगत् के लोगों को आपकी आवाज के खराब होने का हार्दिक दुःख रहा। आपके वार्तालाप पर अंकुश लग गया तथा मौखिक बातचीत के द्वारा आपके ज्ञान का संचार व हस्तान्तरण प्रतिबन्धित हो गया। 5 दिसम्बर, 1962 को उन्होंने अपनी मृत्यु का स्वागत किया। इस प्रकार से कॉफी हाउस के चर्चा-जगत् का सुकरात इस संसार से उठ गया।

डी. पी. मुखर्जी की रचनाएँ
(Works of D. P. Mukherjee)

1. 'बेसिक कन्सेप्ट्स इन सोशियोलोजी'
   (Basic Concepts in Sociology) 1932
2. 'पर्सनैलिटी एण्ड द सोशियल साईंसेज'
   (Personality and the Social Sciences) 1924

3 'टैगोर : ए स्टडी' (Tagore A Study) 1943
4 'मॉडर्न इण्डियन कल्चर' (Modern Indian Culture) 1942
5 'ऑन इण्डियन हिस्ट्री' (On Indian History) 1945
6 'इन्ट्राडक्शन टु इण्डियन म्यूजिक' (Introduction to Indian Music) 1945
7 'प्रोब्लम्स ऑफ इण्डियन यूथ' (Problems of Indian Youth) 1946
8 'व्यूज एण्ड काउण्टर व्यूज' (Views and Counter-Views) 1946
9 'डाइवर्सिटीज' (Diversities) 1958
10 'सोशियोलोजी ऑफ इण्डियन कल्चर' (Sociology of Indian Culture) 1942
11 'इण्डियन ट्रेडिशन एण्ड सोशियल चेंज्ज' (Indian Tradition and Social Change)

'भारतीय परम्परा और सामाजिक परिवर्तन' विषय पर आपने 'इण्डियन सोशियोलाजिकल कॉन्फ्रेन्स', देहरादून, 1955 के अधिवेशन मे अध्यक्षीय भाषण दिया। इसके अतिरिक्त आपके तीन उपन्यास प्रकाशित हुए। आपने एक कहानी सकलन भी प्रकाशित कराया। रवीन्द्रनाथ टैगोर के साथ आपने एक संगीत की पुस्तक लिखी और एक पुस्तक सगीत में ही अलग से भी लिखी। आपके बंगाली भाषा में लिखे निबन्धो के दो खण्ड भी प्रकाशित हुए।

डी. पी. मुखर्जी के सामाजिक विचार
(D. P. Mukherjee's Social Views)

डी. पी मुखर्जी ने अनेक विषयो से सम्बन्धित महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं। आपके सामाजिक विचार समाजशास्त्र, इतिहास और अर्थशास्त्र में विशेष रूप से अध्ययन किये जाते हैं। कला, सगीत और साहित्य से सम्बन्धित लेखो एव विचारो को सम्बन्धित विषय में सम्मान की दृष्टि से पढा जाता है। यहाँ उनके उन सामाजिक विचारो का उल्लेख किया जायेगा जिनका समाजशास्त्र में विशेष महत्व है।

सम्पूर्णवादी दृष्टिकोण

डी पी मुखर्जी का मत है कि विभिन्न विज्ञान, जैसे—समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र व इतिहास आदि परस्पर घनिष्टतया सम्बन्धित हैं। इन विज्ञानो की सामग्री के आदान-प्रदान को आप आवश्यक मानते हैं। डी. पी का मत है कि चूँकि अर्थशास्त्र की जड़ सामाजिक वास्तविकता मे विद्यमान होती हैं इसलिए अर्थशास्त्र की प्रकृति समाजशास्त्रीय है। आप यह भी कहते हैं कि सम्पूर्णवादी दृष्टिकोण ही समाज विज्ञान की व्याख्या का आधार होना चाहिए। आप लिखते हैं कि *व्यक्ति, वैयक्तिकता और समाजीकरण का समन्वय है।* वैसे आपका कहना है कि व्यक्तित्व पूर्ण एकता है और ज्ञान इस एकीकृत पूर्णता का आधार है। इसलिए सामाजिक विज्ञानो को

अध्ययन वस्तु को अलग अलग दृष्टिकोण से नहीं देखा जाना चाहिए। आपका कहना है कि आज ज्ञान का विभाजन हो गया है। वह कई शाखाओं व उप-शाखाओं में बँट गया है अत: उसकी पूर्णता समाप्त हो गई है। व्यक्तित्व के विभिन्न पक्ष होते हैं, डी. पी. के अनुसार इन विभिन्न पक्षों को एक पूर्णता मानकर अध्ययन करना चाहिए। आपने निष्कर्ष दिया है कि ज्ञान के विभिन्न पक्ष अवश्य होते हैं लेकिन समाज विज्ञान की पूर्णता एवं एकीकरण आवश्यक है और अगर हम समाजशास्त्र विषय का विकास करना चाहते हैं तो हमें सम्पूर्णवादी दृष्टिकोण को अपनाना चाहिए।

डी. पी. मुखर्जी ने 'व्यूज एण्ड काउण्टर व्यूज' में लिखा है, "इस विषय को ज्ञान से काट दिया गया है, ज्ञान को जीवन से पृथक् कर दिया गया है और जीवन, जीवित सामाजिक दशाओं से अलग कर दिया गया है।" आपने यह कथन समाजशास्त्र की बिखरी सामग्री के सम्बन्ध में कहा है। आप सामाजिक जीवन को पृथक्-पृथक् खण्डों में अध्ययन करने के विरुद्ध थे तथा सम्पूर्णतावादी दृष्टिकोण के समर्थक थे।

पद्धतिशास्त्र
(Methodology)

डी. पी. मुखर्जी की अध्ययन की पद्धति के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा जा सकता है। डी. पी. को मुख्यतया समाजशास्त्री माना जाता है, लेकिन आप अर्थशास्त्र, इतिहास, संगीत, चित्रकला व साहित्य आदि में भी अधिकार के साथ लिखते थे इसलिए आपकी अध्ययन-पद्धति ऐतिहासिक रही है। इसके अतिरिक्त किन्हीं विषयों के अध्ययन को आपने मनो-समाजशास्त्रीय एवं दार्शनिक पद्धति का भी समर्थन किया है।

1. द्वन्द्वात्मक-पद्धति (Dialectical Method)—भारतीय समाज के अध्ययन के लिए आपने ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया। आपने भारत की परम्पराओं के इतिहास में कालक्रमिक अध्ययन पर जोर दिया। इसमें आपने द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण के आधार पर भारतीय परम्पराओं के संघर्ष के अध्ययन को प्रस्तुत किया है। आपने लिखा है कि भारतीय समाज में परम्पराओं का संघर्ष **(द्वन्द्व)** वृहद्स्तर और लघुस्तर की परम्पराओं में होता है। वृहद्स्तर की परम्पराएँ संस्कृत भाषा में मिलती हैं तथा लघुस्तर की परम्पराएँ स्थानीय भाषाओं में मिलती हैं। इसके अतिरिक्त आपने भारतीय परम्पराओं का संघर्ष बाहर से आई इस्लामी एवं पश्चिमी समाजों की परम्पराओं में भी बताया है। डी. पी. ने भारतीय समाज के सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन की पद्धति हीगल और मार्क्स के द्वन्द्ववाद को संशोधित करके प्रस्तुत की है जिसे भारतीय समाजशास्त्र में **'डी. पी. मुखर्जी के द्वन्द्वात्मक उपागम'** (D. P. Mukherjee's Dialectical Approach) के नाम से जाना जाता है।

2. मनो-समाजशास्त्रीय पद्धति (Psycho-Sociological Method)—आपने वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति पर भी यथास्थान मत व्यक्त किया है, आप सत्य को जानने के लिए विभिन्न मार्गों के पक्षधर थे। आपने समाजशास्त्रीय अवधारणा का तत्त्व—व्यक्तित्व बताया है तथा विभिन्न प्रकार से इस तथ्य को सिद्ध करने का प्रयास भी किया है। आप लिखते हैं कि "व्यक्तित्व पूर्ण एकता है तथा ज्ञान इस पूर्णता का आधार है।" आप ज्ञान को व्यक्तित्व के विकास का प्रमुख

साधन मानते हैं। डी पी मुखर्जी का दृष्टिकोण सम्पूर्णतावादी है, उसी के अनुसार आपकी अध्ययन पद्धति व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों का पूर्णता में देखती है। चूँकि आप व्यक्तित्व पर अधिक जोर देते हैं, इसलिए आपकी अध्ययन पद्धति मनो समाजशास्त्रीय है।

3. दार्शनिक-पद्धति (Philosophical Method)—डी पी मुखर्जी दार्शनिक पद्धति के भी समर्थक रहे हैं। डी पी की दार्शनिक प्रवृत्ति का आधार तर्क और विवेक है। आपकी दार्शनिक पद्धति का मूल बिन्दु बुद्धिवाद और व्यावहारिक तर्क है। आप एक ओर तर्क या विवेक को घटनाओं के अध्ययन का यन्त्र मानते हैं तो दूसरी ओर तर्क या विवेक को व्यक्तित्व के विकास का साधन भी मानते हैं।

4 विभिन्न विज्ञानों में सम्बन्ध (Relationship Between Various Sciences)—डी पी मुखर्जी क्योंकि सम्पूर्णतावादी दृष्टिकोण के समर्थक थे इसलिए आप अर्थशास्त्र, इतिहास और समाजशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्धों और ज्ञान के आदान प्रदान को आवश्यक मानते हैं। आपने समाजशास्त्र की प्रकृति को ऐतिहासिक बताते हुए लिखा है कि समाजशास्त्र में सांस्कृतिक विशिष्टताओं का विशेष महत्त्व होता है इसलिए समाजशास्त्र की प्रकृति ऐतिहासिक है। आपने लिखा है कि अर्थशास्त्र की जड़े सामाजिक वास्तविकता में हैं। इस कारण इसकी प्रकृति समाजशास्त्रीय है। आपने इतिहास की प्रकृति को दार्शनिक बताया है। इस मत को स्पष्ट करते हुए आप लिखते हैं, "इतिहास मात्र अतीत की घटनाओं का ही अध्ययन नहीं है, बल्कि अतीत की घटनाओं के अध्ययन के आधार पर इतिहास, समाज के भविष्य का अनुमान भी लगाता है इसलिए इतिहास की प्रकृति दार्शनिक है।"

निष्कर्षत: डी पी मुखर्जी के सामाजिक विचार—व्यक्तित्व का अध्ययन, सम्पूर्णतावादी दृष्टिकोण, मनो-समाजशास्त्रीय अध्ययन पद्धति, दार्शनिक पद्धति, हीगल के द्वन्द्ववाद व मार्क्सवादी विचारधारा आदि के समर्थक और पोषक थे।

भारतीय समाजशास्त्र में योगदान
(Contribution to Indian Sociology)

डी पी मुखर्जी ने 'भारत के लिए समाजशास्त्र' में भारतीय समाजशास्त्र की विषय वस्तु, भारतीय समाजशास्त्र की अध्ययन-पद्धति, अवधारणाएँ व सिद्धान्त आदि से सम्बन्धित निम्नलिखित विचार व्यक्त किये हैं—

1. भारतीय समाजशास्त्र की विषय-वस्तु (Subject-Matter of Indian Sociology)—डी पी मुखर्जी ने भारतीय समाजशास्त्र की अध्ययन सामग्री को भारतीय परम्पराओं का अध्ययन बताया है। आपने कहा कि भारतीय संस्कृति का विकास विभिन्न प्रजातियों एवं संस्कृतियों की चुनौतियों एवं संश्लेषण का परिणाम है। आपने हिन्दू सिद्धान्त की व्याख्या करने के लिए भी परम्पराओं के अध्ययन को आवश्यक बताया। आपने भारतीय समाज की अध्ययन सामग्री के अन्तर्गत परम्पराओं में आन्तरिक और बाह्य दबाव से उत्पन्न परिवर्तनों के अध्ययन को भी सम्मिलित करने पर जोर दिया है। मानव तथा समाज के हिन्दू सिद्धान्त की व्याख्या के लिए

परम्पराओं का अध्ययन महत्त्वपूर्ण बताया है। आपका कहना है कि भारतीय परम्पराओं मे परिवर्तन की समाजवादी व्याख्या के लिए भी भारतीय परम्पराओं का अध्ययन करना आवश्यक है। डी पी मुखर्जी ने भारतीय समाजशास्त्र की विषय सामग्री भारतीय परम्पराओं को बताते हुए यहाँ तक लिखा है कि भारतीय समाजशास्त्री का प्रथम कर्त्तव्य इनका अध्ययन करना है।

2. भारतीय समाजशास्त्र के लिए व्याख्यात्मक पद्धति (Explanatory Method for Indian Sociology)—डी पी मुखर्जी ने भारतीय समाजशास्त्र की वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति के सम्बन्ध मे काफी लिखा है। आपने कहा कि भारत का समाजशास्त्र अभी इस अवस्था मे नहीं पहुँचा है कि वह आनुभविक तथ्यों को एकत्र करके अनुसंधान कर। आपने सन् 1955 मे भारतीय समाजशास्त्र तथा उसके अनुस्थापन के विषय पर अपने विचार निम्न शब्दों मे व्यक्त किए हैं।

''एक भारतीय के रूप मे तथाकथित शोध प्रबन्धों के जगल मे कोई भी जीवन-अर्थ खोज निकालना असम्भव पाता हूँ। भारतीय समाजशास्त्र ... केवल व्याख्यात्मक ही हो सकता है जिसमे अधिकतर निर्भरता अन्तर्दृष्टि की पद्धति पर है जो 19वीं शताब्दी के विज्ञान की अपेक्षा सामाजिक क्रिया की भारतीय प्रणाली मे भाग लेने से उत्पन्न होती है। अन्वेषण तो सदैव ही किया जायेगा, किन्तु इसे प्रेक्षित वस्तुओं की भावना के आधार पर करना होगा।''

आपने लिखा है कि भारतीय समाजशास्त्र आगे आने वाले कुछ वर्षों तक केवल व्याख्यात्मक ही हो सकता है।

3. पाश्चात्य वैज्ञानिक तकनीक का विरोध (Opposition of Western Scientific Technology)—डी पी. मुखर्जी ने लिखा है कि भारतीय समाज पश्चिम के समाजों से भिन्न है। पश्चिम के समाज काफी विशृंखलित हो चुके हैं। भारतीय समाज परिवर्तित तो हो रहा है लेकिन यह कम विशृंखलित है इसलिए पाश्चात्य वैज्ञानिक तकनीक, अवधारणाओं एवं सिद्धान्तों के द्वारा भारतीय समाजशास्त्री भारतीय समाज को भली-भाँति नहीं समझ सकते। आप पश्चिमी परम्परा के आदर्श पर भारतीय समाजशास्त्र को विकसित करने के पक्ष मे नहीं हैं। आपने मत व्यक्त किया है कि हमें भारत की सामाजिक घटनाओं की विशिष्ट रूप से व्याख्या करनी चाहिए तथा पश्चिम के अध्ययन के प्ररूप, अवधारणाओं, सिद्धान्तों व तकनीक आदि को नहीं अपनाना चाहिए। पश्चिम में जो वैज्ञानिक तकनीक विकसित एवं निर्मित की गई है, वह अन्य समाजों तथा संस्कृतियों को ध्यान मे रखकर की गई है, उनके द्वारा भारतीय-समाज तथा संस्कृति के तत्त्वों व स्वरूपों को नहीं समझा जा सकता। आप भारतीय समाजशास्त्र को पश्चिम के समाजशास्त्र की अनुकृति बनाने के विरोधी हैं। आपने मत व्यक्त किया है कि भारतीय समाजशास्त्रियों ने प्रगति, समानता और सामाजिक नियन्त्रण आदि का अध्ययन पश्चिमी दृष्टिकोण की सहायता से किया है। यह भारतीय समाज के सन्दर्भ में बिल्कुल अनुपयुक्त है। भारतीय समाज को समझने के लिए आपने सुझाव दिया कि भारत के समाजशास्त्रियों को अपने समाज की संरचना, व्यवस्था, परम्परा और समस्याओं आदि को समझने के लिए उपयुक्त अवधारणाएँ, अध्ययन-पद्धति दृष्टिकोण व सिद्धान्त आदि निर्मित करने चाहिए।

4. मार्क्स के द्वन्द्ववाद के पक्षधर (Follower of Marx s Dialecticism)—डी पी मुखर्जी मार्क्स के द्वन्द्ववाद के पक्षधर हैं। आपने कहा कि भारत के सामाजिक सन्दर्भ में व्यक्तित्व और संस्कृति का अध्ययन करने के लिए मार्क्स की द्वन्द्वात्मक अध्ययन पद्धति को अपनाना चाहिए। आपने कहा कि मार्क्स की द्वन्द्वात्मक पद्धति भारत के लिए उपयुक्त पद्धति है। इस पद्धति के द्वारा भारत की विशिष्ट परम्पराओं, प्रतीकों, सांस्कृतिक प्रतिमानों व सामाजिक क्रियाओं आदि का अध्ययन किया जा सकता है। आप लिखते हैं कि भारतीय समाज की वास्तविकता को मार्क्स के द्वन्द्ववाद के द्वारा ही अच्छी तरह समझा जा सकता है।

डी पी मुखर्जी के भारत के लिए समाजशास्त्र के सन्दर्भ में व्यक्त किये गये विचारों का प्रभाव भारत के अनेक समाजशास्त्रियों पर पड़ा।

5. भारतीय सामाजिक परिवर्तन में परम्पराओं का महत्त्व (Importance of Traditions in Indian Social Change)—डी पी मुखर्जी ने भारतीय परम्परा एवं सामाजिक परिवर्तन पर अपने विचार 1955 में *'अखिल भारतीय समाजशास्त्रीय सम्मेलन'*, देहरादून में अध्यक्षीय भाषण में व्यक्त किये हैं। बाद में यह भाषण आपकी कृति 'डाइवर्सिटीज' 1958 में 'इण्डियन ट्रेडीशन एण्ड सोशियल चेन्ज' में प्रकाशित हुआ। इसमें आपने भारतीय परम्परा एवं सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में इसके अध्ययन के महत्त्व परम्परा का अर्थ परम्पराओं में परिवर्तन, परिवर्तन के सिद्धान्त, परम्परा और आधुनिकता में सम्बन्ध, आधुनिकीकरण की परिभाषा एवं गाँधीजी द्वारा प्रस्तावित आर्थिक पुनर्निर्माण की योजना आदि से सम्बन्धित विचार प्रकट किये हैं, जो इस प्रकार हैं—

5.1 परम्परा का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Tradition)—डी पी मुखर्जी ने 'परम्परा' शब्द की व्याख्या ऐतिहासिक दृष्टिकोण से करते हुए इस शब्द की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला है। डी पी ने लिखा है कि अंग्रेजी शब्द 'ट्रेडिशन' (Tradition) की उत्पत्ति 'ट्रेडर' (Tradere) शब्द से हुई है। 'ट्रेडर' शब्द का अर्थ है—हस्तान्तरण करना। संस्कृत भाषा में अंग्रेजी के ट्रेडिशन का समानार्थक शब्द 'परम्परा' है। 'परम्परा' शब्द का अर्थ है—'उत्तराधिकार या 'ऐतिह'—जिसका अर्थ 'इतिहास' है। रोमन कानून के अनुसार 'ट्रेडर' शब्द का अर्थ मूल्यवान वस्तुओं को जमा करना तथा सुरक्षित रखना है। उसके अनुसार नागरिक का यह नैतिक और कानूनी कर्त्तव्य है कि वह बहुमूल्य वस्तुओं को सुरक्षित रखे।

ब्राह्मणों को संस्कृत साहित्य में परम्पराओं का संरक्षक माना गया है। जाति प्रथा भी एक प्रकार से परम्परा है *जिसके संरक्षक ब्राह्मण हैं।* *ब्राह्मण परम्पराओं को धार्मिक पुस्तकों द्वारा* सुरक्षित रखते हैं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करते हैं। डी पी के अनुसार, ब्राह्मण परम्परा को सामाजिक संरचना के रूप में बनाये रखते हैं। आपने भारतीय समाज की निरन्तरता का बना रहना भी परम्पराओं के कारण बताया। आपने लिखा है कि परम्पराएँ भारतीय समाज का इतिहास हैं।

5.2 भारतीय समाजशास्त्र में परम्परा का अध्ययन (Study of Tradition in Indian Sociology)—डी पी मुखर्जी ने विस्तार से यह स्थापना की है कि भारतीय समाजशास्त्र के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु परम्पराओं का अध्ययन है। आप भारतीय समाजशास्त्रियों का प्रथम

कर्त्तव्य 'भारतीय परम्पराओं का अध्ययन' मानते हैं। सन् 1955 में अखिल भारतीय समाजशास्त्री सम्मेलन में आपने अपने अध्यक्षीय भाषण में भारत के समाजशास्त्रियों को भारत की सामाजिक परम्पराओं का अध्ययन करने की सलाह दी। आपने कहा कि हमारा जन्म भारतीय परम्पराओं मे हुआ है, हमारा अस्तित्व भी इन्हीं में निहित है। हम अपनी परम्पराओं से भाग नहीं सकते। भारत की समाज-व्यवस्था में समूह की क्रियाओं को महत्त्वपूर्ण माना गया है। समूह की क्रियाएँ, मत, सम्प्रदाय व जाति आदि के रूप में होती हैं, इसलिए हमें पहले भारतीय होना चाहिए, अपनी समाज व्यवस्था को समझने के लिए भारतीय समाजशास्त्री को अपनी जनरीतियों, रूढ़ियों, प्रथाओं और परम्पराओं मे भाग लेना चाहिए। निष्कर्षतः डी. पी. मुखर्जी का मत, आग्रह एवं सलाह है कि भारत का समाजशास्त्र विशिष्ट विज्ञान तभी हो सकता है जब वह भारत की परम्पराओं का अध्ययन करे।

5.3 संस्कृत भाषा एवं स्थानीय भाषा का ज्ञान आवश्यक है (Knowledge of Sanskrit and Local Dialects is Necessary)—डी. पी. मुखर्जी ने मत व्यक्त किया है कि भारतीय समाजशास्त्री के लिए संस्कृत भाषा तथा स्थानीय भाषा का ज्ञान होना आवश्यक है। आप लिखते हैं कि अपनी समाज व्यवस्था का अध्ययन करने एवं समझने के लिए उसे जन-रीतियों, प्रथाओं, रूढ़ियों एवं परम्पराओं आदि में भाग लेना होगा। उसे भारत की निम्न तथा उच्च विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करना होगा। भारतीय समाजशास्त्री उच्च अथवा वृहद्-स्तरीय परम्पराओं का ज्ञान तभी प्राप्त कर सकता है जब उसे संस्कृत भाषा का ज्ञान हो, क्योंकि यह ज्ञान संस्कृत साहित्य मे ही उपलब्ध है। लघु-स्तरीय विद्याओं के ज्ञान के लिए समाजशास्त्री को स्थानीय भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए। आपने कहा है कि जिन भाषाओं में परम्पराएँ प्रतीकों के रूप में मूर्तिमान हैं उनके ज्ञान के बिना भारतीय परम्पराओं का अध्ययन एवं परिवर्तन का विश्लेषण सम्भव नहीं है। अब तक भारत मे अध्ययन पश्चिम के अनुकरण द्वारा हो रहा है। इस सम्बन्ध में डी. पी. मुखर्जी ने अग्र शब्दों में दुःख प्रकट किया है।

"मुझे यह देखकर दुःख होता है कि किस प्रकार हमारे भारतीय विद्वान उन आधुनिक (वैज्ञानिकों की) तकनीकों के आकर्षण के सामने बिना किसी प्रतिरोध अथवा सम्मान के झुक जाते हैं जिन्हें बाहर से प्राविधिक सहायता या क्रियात्मक ज्ञान के अंग के रूप में आगाह किया जाता है। बौद्धिक लेन-देन में जो कुछ चल रहा है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे पास प्रस्तुत करने की न तो कुछ शर्तें हैं और न खड़े होने के लिए आधार ही।"

5.4 परम्पराओं के परिवर्तन के तत्त्व (Elements of Changes of Tradition)—डी. पी. मुखर्जी ने परम्पराओं के परिवर्तन के प्रमुख तीन तत्त्व बताये हैं— (1) श्रुति, (2) स्मृति, और (3) अनुभव। अनुभव को परिवर्तन का कारण माना जाता है, अनुभव दो प्रकार का है—(1) व्यक्तिगत और (2) सामूहिक। व्यक्तिगत अनुभव ही परिवर्तन का मूल कारण है किन्तु वह शीघ्र ही सामूहिक अनुभव का रूप ले लेता है। सामान्य अनुभव सदैव ही परिवर्तन का कारण रहा है। उदाहरण के लिए विभिन्न सम्प्रदायों और धार्मिक ग्रन्थों की उत्पत्ति बड़े-बड़े सन्तों के व्यक्तिगत अनुभव से हुई है और कालान्तर में वे सामूहिक अनुभव के रूप में फैल गये। परम्पराएँ भी उच्च

और निम्न दोनो ही प्रकार की होती हैं। उच्च परम्पराएँ—प्रमुखतया बौद्धिक थीं जो श्रुतियो और स्मृतियो मे केन्द्रित थीं जिनमें तर्क-वितर्क, वाद विवाद व परिवर्तन होता था। जिसका कारण बुद्धि-विचार था। बुद्धि-विचार अनुभव से उच्च परिवर्तन का साधन है, अनुभव को निम्न माना गया है। इन उच्च और निम्न बौद्धिक परम्पराओ मे जब सघर्ष होता है तो अमूर्त विचार एवं भावनाएँ उन्हे समीप लाने का प्रयास करती हैं।

6. आधुनिकता एव आधुनिकीकरण (Modernity and Modernization)—डी पी मुखर्जी ने आधुनिकता एव आधुनिकीकरण के सम्बन्ध म अपने विचार, अपने लेख 'इण्डियन ट्रेडिशन एण्ड सोशियल चेञ्ज' मे व्यक्त किये हैं। आपने कहा कि भारत के सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन तभी पूर्ण माना जायेगा जब भारतीय परम्पराओ एव आधुनिकता के द्वन्द्व या सघर्ष एव इनके परिणामो का अध्ययन किया जायेगा। आपने यह भी लिखा है कि आधुनिकीकरण एक ऐतिहासिक एव गत्यात्मक अवधारणा हैं। परम्परा एव आधुनिकीकरण परस्पर सापेक्ष अवधारणाएँ हैं। इसलिए परम्परा के ज्ञान के अभाव मे आधुनिकीकरण का अध्ययन नहीं किया जा सकता। आप यह भी लिखते हैं कि हम भारत के वर्तमान (आधुनिकीकरण) को अतीत (परम्परा) के सन्दर्भ में ही समझ सकते हैं। आपने इस तथ्य पर भी जोर दिया कि आधुनिकीकरण व परम्परा समय-सापेक्ष अवधारणाएँ हैं। परम्पराएँ अतीत से सम्बन्धित हैं और आधुनिकीकरण वर्तमान से सम्बन्धित है। आपने आधुनिकीकरण को समझाते हुए लिखा है कि परम्परा और आधुनिकता के अन्तर्खेल (Inter Play) से परम्परागत मूल्यो और सास्कृतिक प्रतिमानों मे जो विस्तार और परिमार्जन होता हैं, वह आधुनिकीकरण है। आपकी मान्यता है कि आधुनिकता और परम्परा दोनो गत्यात्मक अवधारणाएँ हैं। आपके अनुसार परम्पराएँ ही आधुनिकीकरण को प्रेरित करती हैं। परम्पराएँ अनेक विकल्पो मे से उपयुक्त विकल्प को चुनने का अवसर प्रदान करती हैं। आधुनिकता मे नवीन मूल्य और सस्थाएँ होती हैं जिनकी उत्पत्ति का आधार परम्पराएँ प्रदान करती हैं। आप द्वन्द्ववाद के पक्षधर हैं इसलिए आपने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की परिभाषा भी द्वन्द्व या सघर्ष के आधार पर दी है। आप लिखते हैं कि परम्परा और आधुनिकता में टकराव होता है, परम्परा वाद है, आधुनिकता प्रतिवाद है, इन दोनो के सघर्ष से जो संशोधित अथवा समन्वित स्थिति उत्पन्न होती है वह आधुनिकीकरण है जिसे समवाद के रूप में देखा जा सकता है।

7. भारत का विकास (Development of India)—डी पी मुखर्जी एक बहुमुखी प्रतिभावान समाजशास्त्री रहे हैं। आपने भारत की प्रगति तथा विकास के सम्बन्ध मे भी विचार व्यक्त किये है। आपके ये विचार एव सुझाव सामाजिक एव आर्थिक दृष्टिकोण से अपना विशेष महत्त्व एव स्थान रखते हैं। भारत की प्रगति के लिए योजनाओ के निर्माण मे आपका यह आग्रह रहा है कि योजनाओ का आधार भारत की सांस्कृतिक परम्पराएँ होनी चाहिए। इसी सन्दर्भ मे आपने गाँधीजी के विचारो का अध्ययन करने का सुझाव दिया और कहा कि विकास की योजनाएँ बनाने से पहले गाँधीजी द्वारा सुझाए गए बिन्दुओ का ध्यान रखा जाना चाहिए। डी पी ने कहा कि गाँधीजी के सुझावो का अन्धानुकरण नहीं किया जाना चाहिए क्योकि गाँधी जी ने भारतीय परम्पराओ के

साथ परिनमीकरण के समन्वय के सम्बन्ध में व्यावहारिक एवं उपयोगी बातें नहीं बताईं। डी पी ने भारत के विकास के सन्दर्भ में गाँधीजी के कुछ विचारों का विरोध भी किया है। आपने एक ओर गाँधीजी के रामराज्य की कल्पना को इतिहास-विरोधी बताया है तो दूसरी ओर उनके परम्परावादी दृष्टिकोण का समर्थन किया है। अगर हम पश्चिम के समाजों की बुराइयों से बचना चाहते हैं तो भारतीय परम्पराएँ ही हमें उनकी बुराइयों से सुरक्षित रख सकती हैं। डी. पी. मुखर्जी ने भारत की विकास की योजनाओं के लिए परम्पराओं को महत्वपूर्ण बताया है तथा आपने लिखा है कि परम्पराओं का विकास द्वन्द्व एवं संघर्ष के द्वारा होता है। आपने परम्पराओं के द्वन्द्व पर विस्तार से लिखा है जो भारतीय समाजशास्त्र में महान् योगदान माना जाता है।

डी. पी. मुखर्जी : परम्पराओं का द्वन्द्व

(D. P. Mukherjee : Dialectic of Traditions)

डी. पी. मुखर्जी का '**भारत के समाजशास्त्र में परम्पराओं का द्वन्द्व**' से सम्बन्धित विचार महत्त्वपूर्ण है। आपने भारत में सामाजिक परिवर्तन के संरचनात्मक परिवर्तन के अध्ययन के लिए द्वन्द्वात्मक-उपागम का प्रयोग किया है। डी. पी. ने कहा कि भारत के समाजशास्त्रियों को परम्पराओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन करना चाहिए। आपने परम्पराओं के अध्ययन के महत्त्व, उपागम, पद्धति, व्याख्या एवं विश्लेषण आदि पर प्रकाश डाला है, जो निम्न प्रकार है—

परम्पराओं के द्वन्द्व के अध्ययन का महत्त्व (*Importance of Study of Dialectic of Tradition*)—डी. पी. मुखर्जी ने अपने विभिन्न भाषणों, वार्तालापों, लेखों एवं पुस्तकों में परम्परा एवं परम्परा के द्वन्द्व के अध्ययन पर जोर दिया है। आपकी मान्यता है कि यदि हम भारतीय समाज एवं उसमें होने वाले परिवर्तनों को समझना चाहते हैं तो हमें पहले परम्पराओं को समझना होगा। डी. पी. ने परम्पराओं के अध्ययन के लिए द्वन्द्वात्मक-पद्धति का सुझाव दिया। आपका कहना है कि परम्पराओं में द्वन्द्व या संघर्ष होता है। ये द्वन्द्व भारत की वृहद्-स्तरीय परम्पराओं तथा लघु-स्तरीय परम्पराओं के मध्य होता है। इनमें परस्पर अनुकूलन भी हो सकता है। भारत की आन्तरिक परम्पराओं एवं बाह्य परम्पराओं में भी संघर्ष, द्वन्द्व, टकराव, अनुकूलन व समन्वय आदि होता है। इस प्रक्रिया के द्वारा ये भारत की सामाजिक संरचना को परिवर्तित करती हैं। डी. पी. मुखर्जी ने इसी संदर्भ में परम्पराओं के अध्ययन के महत्त्व को बताते हुए लिखा है कि भारतीय संस्कृति का विकास अनेक प्रजातियों एवं संस्कृतियों की क्रमागत चुनौतियों एवं उनके संश्लेषण के परिणामस्वरूप हुआ है। इसको समझने के लिए आपने परम्पराओं के अध्ययन का समर्थन किया है और लिखा है कि भारतीय समाजशास्त्री व्याख्यात्मक पद्धति से परम्पराओं के द्वन्द्वात्मक उपागम से अध्ययन कर सकता है।

परम्परा का अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताएँ (*Meaning, Definition and Characteristics of Tradition*)—डी. पी. मुखर्जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण एवं लेख, 'इण्डियन ट्रेडिशन एण्ड सोशियल चेन्ज' जो 'डाइवर्सिटीज' कृति में प्रकाशित हुआ है, में परम्परा के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला है। आपने 'परम्परा' शब्द का शाब्दिक अर्थ उत्पत्ति

व परिभाषा ऐतिहासिक दृष्टि से दी है जिसकी चर्चा पूर्व मे की जा चुकी है। मुखर्जी के अनुसार परम्परा से तात्पर्य हस्तातरण करना, कीमती वस्तुओ को सुरक्षित रखना उत्तराधिकार व इतिहास आदि से है। डी पी ने लिखा है कि परम्परा का लोग आदर सम्मान करते हैं ओर इनका समाज मे लम्बे समय से प्रचलन चल रहा होता है। परम्पराएँ भारतीय समाज-व्यवस्था का इतिहास होती हैं जिनके द्वारा भारतीय समाज की निरन्तरता बनी रहती है। परम्पराएँ समाज मे सन्तुलन व दृढता बनाये रखती हैं। इस प्रकार परम्पराएँ उन स्रोतो से समुत्पन्न हैं जिनके पीछे ऋषियो की कल्पना की गई है। साराशत: ये परम्पराएँ अनुदान क्रियाओ की सूचक होती हैं।

परम्पराओं का द्वन्द्व (Dialectic of Traditions)—डी पी मुखर्जी ने 'परम्पराओ का द्वन्द्व' उपागम के द्वारा भारतीय समाज के सामाजिक परिवर्तन की विवेचना की है। इसको आपने अपने अध्यक्षीय भाषण 'इण्डियन ट्रेडिशन इन सोशियल चेञ्ज' व 'वेस्टर्न इन्फ्लूएस ऑन इण्डियन कल्चर' ('न्यू डेमोक्रेट, 1948'), 'मैन एण्ड प्लान इन इण्डिया', 'इकोनोमिक वीकली, बॉम्बे, 1953' आदि मे प्रस्तुत किया है।

डी पी मुखर्जी ने विचार व्यक्त किया है कि भारतीय समाजशास्त्री परम्पराओ के अध्ययन के द्वारा विभिन्न सामाजिक विज्ञानो के मध्य पाये जाने वाले सम्बन्धो का पता लगा सकते हैं। आपने परम्पराओ के अध्ययन के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि भारतीय समाजशास्त्रियों को निम्न कारणो से परम्पराओ के अध्ययन की ओर ध्यान देना चाहिए। आपका आग्रह है कि भारतीय समाजशास्त्री को उन सामाजिक परम्पराओ का अध्ययन करना चाहिए जिनके बीच उसने जन्म लिया है, पला है, बडा हुआ है और आज भी रह रहा है। डी पी का कहना है कि इन परम्पराओ का अध्ययन करना हमारे लिए आवश्यक तथा लाभदायक है। भारतीय समाजशास्त्री को पहले भारतीय होना चाहिए, उसके बाद उसे अपनी जनरीतियो, लोकाचारो, प्रथाओ तथा परम्पराओ मे भाग लेना चाहिए तथा अपनी सामाजिक व्यवस्था को सही रूप मे समझना चाहिए। भारतीय समाजशास्त्री के लिए केवल समाजशास्त्री होना पर्याप्त नहीं है बल्कि उसे भारतीय जनरीतियो को ठीक तरह से समझना भी चाहिए। आपने यह भी लिखा है कि भारतीय समाजशास्त्री को परम्पराओ मे आन्तरिक एव बाह्य दबावो (द्वन्द्व) से जो परिवर्तन हो रहे हैं, उनका अध्ययन करना चाहिए। डी. पी की मान्यता है कि भारतीय परम्परा का संघर्ष आदिकाल से लेकर अब तक अनेक परम्पराओ— आन्तरिक एव बाह्य, उच्च जनरीतियो एव स्थानीय परम्पराओ मे होता रहा है। आपने निष्कर्ष दिया कि भारतीय परम्पराओ के इतिहास से स्पष्ट होता है कि इनमें अवरोध एव समावेषण की अपूर्व क्षमता है। भारतीय परम्पराओ मे अनुकूलन की विशेष क्षमता है, जिसके कारण वह आज भी बनी हुई हैं।

मुखर्जी ने अपने भाषण मे स्पष्ट रूप से कहा कि आज भी धर्म से सम्बन्धित परम्पराएँ अपनी निरन्तरता बनाये हुए हैं। धार्मिक परम्पराओ का द्वन्द्व या सघर्ष नगरीय मध्यम वर्ग की नूतन परम्पराओ के साथ हो रहा है। आपका सुझाव है कि भारतीय समाजशास्त्रियों को इन परम्पराओ का विकास सघर्ष या द्वन्द्व के दृष्टिकोण से करना चाहिए। मुखर्जी लिखते हैं कि जब भारत के समाजो मे स्वेच्छावाद या व्यक्तिवाद नहीं पनपा था, तब भारतीय किसान तथा परिवार के मुखिया

आदि की आकांक्षाओं का स्तर निम्न था। भारतीयों के जीवन में निराशा तथा कुण्ठाओं का अभाव था। आपने कहा है कि आकांक्षाओं के स्तर का निर्धारण परम्पराएँ करती हैं। इसी सन्दर्भ में आपने यह भी लिखा है कि भारत की प्राचीन परम्पराओं में मनुष्य की अवधारणा पुरुष है, व्यक्ति नहीं है। इसलिए भारतीय समाजशास्त्रियों को अपने अध्ययन की इकाई समूह को चुनना होगा जिनके आचरणों और व्यवहारों को परम्परा नियन्त्रित, निर्देशित और संचालित करती है। इसी सन्दर्भ में डी. पी. ने परम्परा की परिभाषा देते हुए लिखा कि "परम्परा वास्तव में आचरण या व्यवहार का नियम है।"

परम्पराओं के द्वन्द्वात्मक अध्ययन के प्रारूप
(Typologies of Dialectical Study of Tradition)

डी. पी. मुखर्जी ने भारतीय समाज की परम्पराओं का अध्ययन किया और आपने कहा कि यदि समाजशास्त्रियों को भारतीय समाज को समझना है तो इसकी परम्पराओं का द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण से विभिन्न कालों में अध्ययन करना चाहिए। आपने भारतीय समाज की परम्पराओं के द्वन्द्व के आधार, प्रकार एवं रूप सुझाये हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

1. लघु एवं वृहद् परम्परा में संघर्ष (Dialect of Great and Little Tradi-tion)— सर्वप्रथम आपने यह कहा कि भारतीय संस्कृति के अन्दर ही आन्तरिक दबावों के फलस्वरूप वृहद्-परम्परा और लघु-परम्परा में संघर्ष होता है। ऐसा लगता है कि हीगल ने द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के सम्बन्ध में लिखा है कि जो वाद होता है उसके विरोध के तत्त्व उसी में से उत्पन्न होते हैं; इसी प्रकार भारतीय संस्कृति की वृहद्-परम्परा में विरोध लघु-परम्परा के रूप में इसके विरोध में उत्पन्न हुए हैं। समय-समय पर भारतीय संस्कृति की परम्पराओं के विरुद्ध भारतीय समाज में ही विरोध उत्पन्न हुए हैं। भक्तिकाल में चैतन्य, कबीर, दादू, नानक व विस्ती आदि ने परम्पराओं के विरुद्ध सुधारात्मक प्रयास किये। इसी प्रकार 19वीं शताब्दी में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन आदि ने परम्पराओं के विरुद्ध सुधारात्मक आन्दोलन किये जो उस काल में विद्यमान परम्पराओं के विरुद्ध थे।

2. पुनर्जागरण की शृंखलाएँ (Series of Renaissance)— डी. पी. मुखर्जी ने एक स्थान पर लिखा है कि भारतीय परम्पराओं का अध्ययन हमें पुनर्जागरण के रूप में भी करना चाहिए। आप ही के शब्दों में, ":: 19वीं शताब्दी का पुनर्जागरण केवल एक है, जो कि भारत में पुनर्जागरण की शृंखला की अन्तिम कड़ी है। हम कम-से-कम पहले के पाँच प्रमुख कालों को जानते हैं जिसमें परिवर्तन हुए हैं और सभी में नवजीवन के लक्षण मिलते हैं।" इन पंक्तियों के बाद आपने भारतीय परम्पराओं के संघर्ष के आधार पर निम्न पाँच प्रमुख कालों का उल्लेख किया है। छठे ब्रितानिया काल का आपने उल्लेख बाद में किया है—

1. वैदिक-आर्यकाल
2. बुद्ध-काल
3. गुप्त-काल

4. हर्ष एव विक्रमादित्य काल

5 मुस्लिम काल (भक्ति काल)

6 ब्रितानिया काल

इन कालो मे परम्परा के सम्बन्ध मे जो सघर्ष, अनुकूलन और परिवर्तन आदि मिले उसका उल्लेख आपने किया है।

3. उच्च एवं निम्न आरोही व अवरोही प्रक्रियाएँ (Ascending and Descending Processes)—मुखर्जी ने परम्पराओ के अध्ययन के सम्बन्ध मे टर्नर (Turnner) के वर्गीकरण का अनुकरण किया है। इनके अनुसार परम्पराएँ दो भागो मे बाँटी गई हैं, जो निम्न हैं—

(1) उच्च (High)

(2) निम्न (Low)

आपने इस वर्गीकरण के अनुसार परम्पराओ के द्वन्द्व के अध्ययन की योजना का उल्लेख किया है जिसमे गुरविच (Gurvitch) के विचारो का भी समावेश किया है। आपने कहा है कि मुख्य बात यह है कि समाजशास्त्र को सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन की प्रक्रिया का विश्लेषण करना चाहिए जिसमे सम्बन्धित क्रियाएँ शिखर से नीचे की ओर जाती हैं और धरातल से शिखर की ओर जाती हैं, जिनको आपने निम्न शब्दो मे व्यक्त किया है—(1) नीचे गहराई मे जाना (Descent to the Deeps), और (2) ऊपर ऊँचाई की ओर जाना (Ascent to the Heights)। इसको हम परम्पराओं की आरोही एवं अवरोही प्रक्रिया कह सकते हैं जिसमें परस्पर सघर्ष, अनुकूलन, सामंजस्य व समन्वय होता है। आपने लिखा कि " ... और मैं ये सोचता हूँ कि भारतीय समाज एवं भारतीय समाजशास्त्र—हमारे सभी शास्त्र समाजशास्त्रीय हैं। ..." इस कथन को आपने इस सन्दर्भ में कहा है कि भारतीय समाज के सम्बन्ध मे बहुमूल्य समाजशास्त्रीय ज्ञान हमारे शास्त्रो में देखा जा सकता है।

4. आन्तरिक एवं बाह्य परम्पराओं में द्वन्द्व (Dialectic in Endogenous and Exogenous Traditions)—डी पी मुखर्जी ने भारतीय समाज की परम्पराओ के द्वन्द्व का वर्णन करते हुए लिखा है कि भारतीय परम्पराओ का टकराव समय-समय पर बाहर से आई परम्पराओ से होता रहा है, इनमे मुख्य रूप से इस्लाम एव पश्चिमी बाह्य परम्पराएँ हैं। इन बाह्य परम्पराओ के कारण भारतीय परम्पराओ मे काफी परिवर्तन आया है। पश्चिम की परम्पराओ का विश्लेषण आपने अपने लेख 'वैस्टर्न इन्फ्लूएस ऑन इण्डियन कल्चर डाइवर्सिटीज' मे किया है।

5. परम्परा एवं आधुनिकता में द्वन्द्व (Dialectic in Tradition and Modernity)—डी पी. ने लिखा है कि परम्परा और आधुनिकता मे टकराव होता है, इसको आपने द्वन्द्ववाद के रूप में प्रस्तुत किया है। आपने एक प्रकार से परम्परा को वाद और आधुनिकता को प्रतिवाद माना है। इन दोनो के द्वन्द्व से जो सशोधित एवं समन्वित परिणाम निकलता है, उसी को आपने आधुनिकता कहा है। इसे अग्र प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

वाद ⟵⟶ प्रतिवाद = समवाद

परम्परा ⟵⟶ आधुनिकता = आधुनिकीकरण

डी पी मुखर्जी ने लिखा है कि वर्तमान का अध्ययन अतीत के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है। इसलिए आधुनिकीकरण को समझने के लिए परम्परा को समझना आवश्यक है। परम्परा और आधुनिकता के अन्तर्खेल से परम्परागत मूल्यों और सांस्कृतिक प्रतिमानों में जो विस्तार और परिमार्जन होता है, वही आधुनिकीकरण है।

भारतीय परम्पराओं का द्वन्द्वात्मक अध्ययन

(Dialectical Study of Indian Traditions)

डी. पी मुखर्जी ने भारतीय परम्पराओं का जो द्वन्द्वात्मक विवेचन किया है उसे संक्षिप्त रूप में निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है।

आपने परम्पराओं के दो प्रकार के द्वन्द्व बताए हैं—(1) आन्तरिक द्वन्द्व और (2) बाह्य द्वन्द्व। इन्हें निम्न क्रम में प्रस्तुत किया जा सकता है।

परम्पराओं के द्वन्द्वात्मक अध्ययन के प्रारूप

आन्तरिक	बाह्य
1 वृहद् परम्परा एवं लघु परम्परा	1 इस्लाम काल
2. पुनर्जागरण की शृंखलाएँ	2 ब्रितानिया काल
3. वैदिक-आर्य काल	3. 19 वीं शताब्दी का पुनर्जागरण
4 बौद्ध काल	4. आधुनिकता
5. गुप्त काल	
6 हर्ष व विक्रमादित्य काल एवं	
7. भक्ति काल	

1. आन्तरिक परम्पराओं का द्वन्द्व (Dialectic of Endogenous Traditions)— डी पी. मुखर्जी ने परम्पराओं के द्वन्द्व का प्रमुख प्रकार आन्तरिक द्वन्द्व का स्वरूप बताया है। इसमें आपने भारतीय समाज और संस्कृति में जितने भी प्रकार के परम्पराओं के द्वन्द्व हुए हैं, उन सभी को इसमें समाहित किया है। आपने भारत के इतिहास में द्वन्द्व की प्रक्रिया को काल-क्रमिक दृष्टिकोण से वर्णित करते हुए लिखा कि परम्पराओं का द्वन्द्व वैदिक—आर्य काल, बुद्धकाल, गुप्तकाल, हर्षवर्धन तथा विक्रम काल और भक्ति काल में हुआ है। इन सभी कालों में विद्यमान परम्पराओं का समाज के प्रमुख लोगों ने विरोध किया और सुधार के रूप में कुछ-न-कुछ परिणाम सामने आए। डी. पी. भारतीय इतिहास में मात्र 19वीं शताब्दी को ही पुनर्जागरण नहीं मानते बल्कि आप विभिन्न कालों को भारत में पुनर्जागरण की शृंखलाएँ मानते हैं। जिसकी अन्तिम कड़ी उन्नीसवीं शताब्दी का पुनर्जागरण है। आपने मुस्लिम काल को भी पुनर्जागरण की शृंखला की एक कड़ी माना, जिसमें भक्ति काल में परम्पराओं का संघर्ष अधिक स्पष्ट प्रकट हुआ।

2. बाह्य परम्पराओं से द्वन्द्व (Dialectic with Exogenous Traditions)— डी पी मुखर्जी ने लिखा है कि वैसे तो भारत मे समय समय पर बाहर से अनेक प्रजातियाँ और संस्कृतियाँ आई लेकिन भारतीय परम्परा पर सबसे अधिक बाहर से आई इस्लामी और पश्चिमी ब्रितानिया परम्परा का प्रभाव पड़ा। इस्लामी परम्परा भारत मे बाहर से आए मुसलमानो के साथ आई। डी पी ने लिखा कि पन्द्रहवीं व सोलहवीं शताब्दी मे इस्लाम ने हिन्दूवाद पर पूर्ण रूप से प्रहार किया। इसके द्वारा हिन्दूवाद मे परिवर्तन आया।

डी पी मुखर्जी ने अपने लेख 'वेस्टर्न इन्फ्लूएंस ऑन इण्डियन कल्चर' अर्थात् 'भारतीय संस्कृति पर पश्चिम के प्रभाव' की बहुत विस्तार से विवेचना की है। आपने लिखा है कि भारतीय समाज पर पश्चिम के प्रभाव को परम्पराओ के द्वन्द्व मे बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। जो प्रभाव मुस्लिम शासन से प्रारम्भ हुए थे, ब्रितानिया साम्राज्य ने उसमे व्यवधान डाला। डी पी ने अंग्रेजो द्वारा भारत मे नवीन आर्थिकी, राजनीति, न्यायिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओ व सस्थाओ को परिवर्तन का कारण माना है। आपका यह भी कहना है कि 19वीं शताब्दी मे राष्ट्रवाद का विस्तार हुआ। इस काल मे पुनर्जागरण की प्रक्रिया एवं समाज-सुधार आन्दोलन को डी पी पश्चिमी प्रभाव मानते हैं। आपने व्यक्तिवाद का उदय, स्वतन्त्रता की भावना व बाह्य सत्ता से मुक्ति आदि का कारण पश्चिम का प्रभाव माना है। इसी काल में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज व रामकृष्ण समिति आदि ने भी समाज सुधार के प्रयास किए जो एक प्रकार से भारतीय परम्परा के विरुद्ध थे। ये सभी नवीन धार्मिक आन्दोलन पुरातन-समाज द्वारा अपने में समाहित कर लिए गए। डी. पी ने भारतीय परम्पराओ पर पश्चिम के प्रभावों का विस्तार से उल्लेख किया है, जिसे हम अलग से निम्न प्रकार से प्रस्तुत कर रहे हैं—

भारतीय संस्कृति पर पश्चिम का प्रभाव
(Western Influence on Indian Culture)

डी पी मुखर्जी ने अपने इसी शीर्षक के लेख में भारतीय परम्परा, संस्कृति और समाज पर बाह्य परम्परा अर्थात् पश्चिम के प्रभाव का विश्लेषण किया है। इसमे आपने भारत की अर्थव्यवस्था में परिवर्तन, आर्थिक कारकों का प्रभाव, शिक्षा, राष्ट्रीयता के लिए सघर्ष व ईसाई मिशनरियो का प्रचार, पुनर्जागरण आदि पर प्रकाश डाला है।

डी पी. मुखर्जी ने मार्क्स के विचारो का उल्लेख करते हुए लिखा है कि भारत वर्ष मे आधुनिकीकरण (पश्चिमीकरण) की प्रक्रिया ब्रितानिया प्रशासन के द्वारा प्रारम्भ हुई। एक प्रकार से अंग्रेजों ने ही भारतवर्ष मे बहुमुखी परिवर्तनो की प्रक्रिया का श्रीगणेश किया, ऐसा डी. पी और मार्क्स का मानना है। आपने लिखा है कि बाहर से अनेक प्रजातियाँ एवं संस्कृतियाँ भारत मे आईं और यहीं बस गईं, लेकिन अंग्रेज यहाँ पर बसने के उद्देश्य से नहीं आए। डी पी ने लिखा कि पश्चिम के प्रभाव की समस्या स्वीकृति या अस्वीकृति की नहीं है, बल्कि इसको भारतीय परम्पराओ के सन्दर्भ में समझने की है। अंग्रेजों का उद्देश्य लाभ कमाना था। उन्होने अर्थव्यवस्था के परिवर्तन पर विशेष बल दिया। डी पी ने लिखा भी है कि किसी समाज की परम्परा को सबसे अधिक

धक्का आर्थिक व्यवस्था में आमूल चूल परिवर्तन होने का पड़ता है। अंग्रेजों ने भारत में अनेक नवीन परिवर्तन किए। ब्रिटानिया प्रशासन ने भारत की ग्रामीण आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था को विखंडित कर दिया। भू-व्यवस्था के अनेक नये कानून बनाकर उसे नवीन रूप दिया। भारत की अर्थव्यवस्था ग्राम, नगर, महानगर से होती हुई विश्व अर्थव्यवस्था में जुड़ गई और इस प्रकार से आत्मनिर्भरता पारम्परिक निर्भरता में बदल गई। यहाँ से कच्चा माल विदेश जाने लगा और उत्पादित वस्तुएँ यहाँ बिकने लगीं।

डी पी तथा अनेक विद्वानों का कहना है कि भारत में राष्ट्रीयवाद की भावना व राष्ट्रीयता की लहर पश्चिम के प्रभावों का परिणाम है। शिक्षित भारतीयों में स्वतन्त्रता, समानता एवं राष्ट्रीयता के मूल्य विकसित हुए। ये लोग मानवतावाद के प्रति जागरूक हो गए। अब तक जो पुनर्जागरण प्रजातियों एवं संस्कृतियों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप चल रहा था, वह ब्रिटानिया सरकार के कारण बहुत गत्यात्मक हो गया। ब्रिटानिया साम्राज्य के साथ-साथ भारत में ईसाई मिशनरियों ने ईसाई धर्म का खूब प्रचार किया। यह धर्म-प्रचार मानवतावाद पर आधारित रहा है। इन मिशनरियों ने भारतीय परम्पराओं से सम्बन्धित अन्धविश्वासों से लोगों को मुक्ति दिलाई। यहाँ के लोग अपने विकास एवं प्रगति की ओर सजग हो गए। भारतवर्ष में पश्चिम के प्रभाव का एक परिणाम यहाँ पर व्यक्तिवाद का उदय होना है। डी पी ने लिखा है कि भारतीय बुद्धिजीवी अपने स्वयं के बारे में सोचने लगे, व्यक्तियों में स्वतन्त्रता की भावना का उदय हुआ। स्त्रियाँ अपने पति व परिवार से मुक्ति की बात सोचने लगीं। सार रूप में डी. पी. मुखर्जी ने ब्रिटानिया साम्राज्य के रूप में पश्चिमी संस्कृति एवं परम्पराओं के प्रभावों का विवेचन किया। आपने यह भी लिखा कि विभिन्न क्षेत्रों में इसका प्रभाव इतना बढ़ गया कि भारतीय लोग इस बाह्य सत्ता (ब्रिटिश शासन) से स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए प्रयास करने लगे।

डी. पी. मुखर्जी ने यह भी बताया कि भारतवर्ष में जाति-प्रथा ने कभी वर्गों को विकसित नहीं होने दिया लेकिन पश्चिम के प्रभाव के कारण वर्ग के लक्षण उभरे और एक बड़े मध्यम वर्ग का उदय हुआ।

भारतीय साहित्य का समाजशास्त्र
(Sociology of Indian Literature)

डी पी. मुखर्जी ने 'भारतीय साहित्य का समाजशास्त्र' को अपने लेख 'सोशियोलोजी ऑफ इण्डियन लिटरेचर' में वर्णित किया है। आपने लिखा है कि अगर हम भारतीय साहित्य का सामान्य सर्वेक्षण करें तो पायेंगे कि इस साहित्य में निम्नलिखित समाजशास्त्रीय विशेषताएँ हैं। इन्होंने कहा कि साहित्य में संस्कृति और समाज का गत्यात्मक वर्णन मिलता है जो एक प्रकार से समाजशास्त्रीय है। *आपके अनुसार भारतीय साहित्य की परम्पराएँ—साहित्य के इतिहास और साहित्य—दोनों में ही विषय-वस्तु के रूप में विद्यमान होती हैं।* डी. पी. का मत है कि सांस्कृतिक परम्पराएँ एवं प्रयोग सामाजिक क्रियाओं को प्रभावित करते हैं और सामाजिक क्रियाएँ सांस्कृतिक परम्पराओं को प्रभावित करती हैं अर्थात् ये दोनों परस्पर घनिष्ठतया सम्बन्धित, अन्योन्याश्रित व संगुम्फित हैं। आपने निष्कर्ष निकालते हुए लिखा कि समाज के साहित्य की प्रकृति का समाज की

सस्कृति और सामाजिक प्रक्रिया से सीधा, प्रत्यक्ष और घनिष्ठ रूप से सम्बन्ध होता है। आपने पाद-टिप्पणी में लिखा कि अब तक जो साहित्य प्रकाशित हुआ है, उसमे निम्न कमियाँ मिलती है —

1 समाजशास्त्रीय पद्धतियो एव सिद्धान्तो से अपरिचितता।
2 मार्क्सवादी व्याख्या का अति-सरलीकरण, और
3 लेखक की अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त अन्य साहित्यो मे होने वाली घटनाओ के प्रति तटस्थता।

डी पी ने आगे लिखा है कि उपर्युक्त वर्णित प्रथम दो कमियो को तो समाजशास्त्र के ज्ञान के विस्तार के द्वारा हल किया जा सकता है लेकिन तीसरी कमी को समाप्त करने के लिए ऐसी अन्वेषण योजनाओ का सचालन करना होगा जिनमे विभिन्न भारतीय साहित्य के प्रतिनिधियो को एक साथ एकत्र किया जा सके और इस आधार पर अखिल भारतीय दृष्टिकोण एव यथार्थ परीक्षण के द्वारा सामाजिक एव साहित्यिक निष्कर्ष निकाले जा सके। आपने कहा कि भारतीय साहित्य के विकास की उस समग्रता का अन्वेषण करना होगा जो भारत के सास्कृतिक परिवर्तन के सामान्य रूप को प्रकट करे, इतना ही नहीं, आगे चलकर वह सम्पूर्ण सामाजिक प्रक्रिया की व्याख्या करने मे योगदान करे।

(1) साहित्य का विकास
(Development of Literature)

डी पी मुखर्जी ने संस्कृत को भारतीय सस्कृति एवं परम्परा का मुख्य स्रोत माना है। इसलिए भारतीय साहित्य एवं कला के विकास का अध्ययन प्राचीनकाल मे संस्कृत साहित्य से शुरू होना चाहिए। प्राचीनकाल मे सस्कृत ही समाज की परम्पराओ, प्रथाओ, रूढियों, संगठन, सामाजिक एकता, मूल्यो, आदर्शों एवं नियमों का आधार थी। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारतीय साहित्य पर इस्लाम का प्रभाव पड़ा। उसके बाद भक्तिकाल का प्रभाव पड़ा और बाद में पश्चिम के अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव पडा। डी पी द्वारा इन कालो मे भारतीय साहित्य के विकास को इन्हीं शीर्षको के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जायेगा।

1. संस्कृत साहित्य (Sanskrit Literature)—डी पी मुखर्जी ने लिखा है कि विभिन्न साहित्य के स्वरूपो का स्रोत सस्कृत साहित्य रहा है जिसका निर्माण सम्भ्रान्त-वर्ग के द्वारा हुआ। जो भिन्नताएँ थीं, उनका कारण लोक कथाएँ, गीत, कविताएँ आदि था जो जन-सामान्य मे विद्यमान थीं। संस्कृत भाषा ने इन भिन्नताओं को अपने में समाहित किया और एकीकृत साहित्य का निर्माण किया जो शताब्दियो तक बना रहा। सम्भ्रान्त वर्ग मे जो जीवन की सामान्य सामाजिक परम्पराएँ थीं वे साहित्य के स्वरूपो की निरन्तरता के लिए प्रमुख रूप से उत्तरदायी थीं। ये लोग अपने को जनसाधारण के साहित्य से अलग रखते थे। साहित्य के न्यून परिवर्तन का कारण विभिन्न जनजातियो एवं लोगो को राजनैतिक विकेन्द्रीकरण के रूप मे अलग-अलग लेकिन संगठित रूप से जीवन व्यतीत करना था। वे लोग अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्र रूप से पास पास रहते थे। उनकी

आर्थिकी आत्मनिर्भर थी तथा संचार के साधन कम विकसित थे इसलिए साहित्य पर नगरीय जीवन का प्रभाव कम पड़ा।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य में स्वरूप एवं अन्तर्वस्तु में विनिमय हुआ। स्वरूप एवं अन्तर्वस्तु को संस्कृत साहित्य ने अपने में समाहित कर लिया। भारत के सौन्दर्य-शास्त्रियों की कविताओं में स्थानीय विशेषताएँ मिलती हैं। 16वीं शताब्दी तक संस्कृत भाषा प्रभावशाली थी। एक बंगाली लेखक ने अपनी रचना का संस्कृत भाषा में अनुवाद किया, जिससे उसे भारतीय लोग समझ सकें।

2. इस्लाम का प्रभाव (Impact of Islam)—मुस्लिम शासन जो ब्रितानिया शासन की तुलना में भारत में बहुत लम्बे समय तक रहा, उसने भारतीय संस्कृति और साहित्य के किसी भी क्षेत्र को अछूता नहीं छोड़ा। मुस्लिम शासन काल में सांस्कृतिक समन्वय हुआ। भारतीय साहित्य में उर्दू भाषा की उत्पत्ति एवं विकास हुआ। डॉ. पी. ने कहा, **"उर्दू निश्चय ही भारतीय भाषा है।"** यह भाषा कस्बों तथा उत्तर भारत के बड़े क्षेत्रों एवं दक्षिण के कुछ क्षेत्रों में फैली। मुस्लिम शासन काल में न्यायालयों की भाषा उर्दू होने के कारण धीरे-धीरे सुदूर क्षेत्रों में भी यह फैल गई। भारतीय साहित्य में हिन्दुस्तानी और उर्दू भाषा में अन्तर करना मुश्किल होगा। राजनीति के कारण हिन्दू-मुसलमान अलग हो गये। उर्दू भाषा अधिक फारसी हो गई और हिन्दी भाषा अधिक संस्कृतमय हो गई। अदालतों की भाषा होने के कारण उर्दू अन्तर्क्षेत्रीय भाषा बन गई।

3. भक्ति एवं साहित्य पर प्रभाव (Impact on Devotion and Literature)—क्षेत्रीय भाषाओं के पुनर्जागरण तथा भक्ति का साहित्यिक महत्त्व बढ़ने से भारतीय साहित्य के विकास पर प्रभाव पड़ा। वाल्मीकि की संस्कृत रामायण के राम और सीता भी तुलसीदास के राम-सीता से भिन्न थे। वैदिक काल के साहित्य एवं आध्यात्मिक साहित्य के कारण मुस्लिम शासनकाल में भारतीय साहित्य में एकता में भिन्नता बनी रही। सम्भ्रान्त वर्ग में संस्कृत साहित्य व्याप्त रहा और अदालतों के सम्पर्क वालों में उर्दू भाषा व्याप्त रही। जब भारतीय पृथ्वी पर पश्चिम का प्रभाव आया उस समय तक भारतीय समाज, भारतीय संस्कृति और भारतीय साहित्य समृद्ध एवं स्थिर और औपचारिक भी था। भारतीय साहित्य पर इस्लाम की तुलना में पश्चिम का प्रभाव अधिक पड़ा।

4. पाश्चात्य प्रभाव (Western Influence) –मुसलमानों के बाद भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी आई जिसने यहाँ के स्थानीय उद्योग एवं व्यापारों को हानि पहुँचाई। इस कम्पनी के स्थापित होते ही उन्होंने यहाँ की पंचायतों को समाप्त किया, सामन्तवादी सम्बन्धों को बनाये रखा व अंग्रेजी साहित्य की शिक्षा को ऐसे वर्ग के निर्माण के लिए प्रारम्भ किया, जो सरकार की सहायता कर सके। इन भूमिपतियों (सामन्तों) और अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोगों से मध्यम वर्ग का निर्माण हुआ। मुखर्जी ने व्यंग्य करते हुए लिखा कि ये पश्चिम के बुर्जुआओं से भिन्न थे तथा ये वर्ग अपने समाज से टूट गये और 'त्रिशंकु' की स्थिति में आ गये। "They were an Uprooted class who were kept hanging in mid air." इसके साथ-साथ इस वर्ग की महत्त्वपूर्ण भूमिका

पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "**लेकिन इन अंग्रेजी प्रशिक्षित मध्यम वर्गों ने पश्चिमी संस्कृति के हस्तान्तरण के माध्यम के रूप मे कार्य किया।**" राजा राममोहन राय ने दोनो संस्कृतियो को देखा और योजनाबद्ध तरीके से पश्चिम आह्वान को स्वीकार किया। पश्चिम के सम्पर्क का सर्वोत्तम उदाहरण उनका नया साहित्य था। भारत मे ब्रितानिया काल मे भारतीय साहित्य नई दिशा मे विकसित होने लगा। सस्कृत साहित्य के स्वरूप का प्रभाव अन्ततोगत्वा कमजोर पड गया। यद्यपि पश्चिम के साहित्य का सम्पर्क भारतीय जनता के एक वर्ग से ही था।

(2) भारतीय साहित्य में सामान्य तत्त्वों का विकास

(Development of General Features in Indian Literature)

डी पी मुखर्जी ने भारतीय साहित्य के विकास के इतिहास का सक्षिप्त वर्णन किया और उसके आधार पर आपने भारत के अनेक नवीन साहित्य मे समय के साथ साथ सामान्य लक्षणो का वर्णन किया, जिनका उस समय विकास हुआ था। आपने साहित्य मे विकसित निम्न चार प्रमुख लक्षणो की विवेचना की है—

1 क्षेत्र का विकास
2 नूतन मूल्यों का उत्तरोत्तर अधिग्रहण
3 नये वर्ग की उत्पत्ति
4 उद्योग एव तकनीक का प्रभाव

1. क्षेत्र का विकास (Enlargement of Scope)—डी पी मुखर्जी ने लिखा है कि मुद्रण सुविधा, पुस्तकालीन शिक्षा के विस्तार से साहित्य में विकास हुआ। इसके विकास पर अंग्रेजी साहित्य के राजनैतिक दार्शनिकों का प्रभाव पडा। अब जो नया साहित्य विकसित हुआ उसमें उपन्यास, नाटक, यात्रा-वर्णन, निबन्ध, डायरी, कहानी, काव्य एव महाकाव्य आदि की रचना हुई। पौराणिक नाटक लिखे जाने लगे तथा मंच पर खेले जाने लगे। उपन्यासो मे ऐतिहासिक घटनाओ का वर्णन किया जाने लगा। बंगाल में महाकाव्य यूरोपीय नमूनो के अनुसार लिखे जाने लगे।

2. नूतन मूल्यों का उत्तरोत्तर अधिग्रहण (Gradual Acquisition of New Values)—भारतीय साहित्य में अनेक नये मूल्यो का स्थान रातो-रात पश्चिम के मूल्यो ने ले लिया। मुखर्जी ने स्पष्ट किया है कि स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व, राष्ट्रीयतावाद, विज्ञान तथा तर्कपूर्ण विचार व विशेष रूप से नये मूल्य भारतीय साहित्य मे आये। ये मूल्य राजनीतिक समस्या व नागरिक स्वतन्त्रता से सम्बन्धित थे लेकिन जो धार्मिक सुधारवादी आन्दोलन थे, उन्होंने सामाजिक मामलों मे इनके द्वारा हस्तक्षेप किया। तर्कपूर्ण विचारो का विकास विज्ञान और तकनीकी शिक्षा के अभाव के कारण तिरस्कृत हो गया। पश्चिम के ईसाई धर्म ने भौतिक समृद्धि को बढ़ावा दिया। भारतीय साहित्य मे अनुकरण, संघर्ष, व्यवस्था, सामंजस्य और आत्मसात् आदि सभी सांस्कृतिक प्रक्रियाएँ विकसित हो गईं। इस नये साहित्य मे समाजवाद, जिसमें प्रेम, स्नेह, धैर्य, तार्किक विचार व अन्वेषण की भावना आदि का विकास हुआ।

3. नये वर्ग की उत्पत्ति (Origin of a New Class)—डी. पी. मुखर्जी ने कहा कि जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में आई और ब्रितानिया शासन की स्थापना यहाँ हो गई तो उन्होंने भारत के सामन्तो, जागीरदारों व भूमिपतियों को संरक्षण दिया। अपने प्रशासन को चलाने के लिए यहाँ के लोगों को अंग्रेजी भाषा सिखाई। इन दोनों ही प्रकार के लोगों—सामन्तों तथा अंग्रेजी-प्रशिक्षित लोगों का डी. पी. मुखर्जी के अनुसार भारत में एक विशिष्ट वर्ग बन गया जिसे आपने बुर्जुआ-वर्ग कहा है, लेकिन ये पश्चिम के बुर्जुआ-वर्ग से भिन्न विशेषताओं वाला वर्ग है। अंग्रेजी-प्रशिक्षित इन सम्भ्रान्त लोगों ने भारत में अंग्रेजी साहित्य का विकास व विस्तार किया। ये एक प्रकार से भारत और पश्चिम के साहित्य को जोड़ने वाले माध्यम बन गये। इन लोगों ने पश्चिम के साहित्य का अनुकरण किया, अपनाया और उसी प्रकार के साहित्य का निर्माण किया। भारत में यह सामाजिक व सांस्कृतिक द्वन्द्व की परिस्थिति अंग्रेजी साहित्य के स्वरूप, विश्वास और दृष्टिकोण में मिलती है।

4. उद्योग एवं तकनीकी का प्रभाव (The Effects of Industrialism and Technology)—डी. पी. ने बताया कि भारतीय साहित्य में उद्योगवाद को प्रथम महायुद्ध के बाद पहचाना गया। द्वितीय महायुद्ध के बाद प्रविधि को भी माना जाने लगा, पूर्व के काल में इन दोनों कारकों ने अंग्रेजी भाषा में आर्थिक साहित्य में सामाजिक परिवर्तन किया था, जिसमें भारत की धन-सम्पत्ति का बहाव ब्रिटेन की ओर रहा। उस काल के दो भारतीय अर्थशास्त्रियों ने ऐतिहासिक उपन्यासों का इतिहास लिखा, जबकि पहले उपन्यास प्राय: भौतिक सफलता एवं विकास के सम्बन्ध में ही लिखे जाते थे। प्रथम महायुद्ध के बाद भारतीय साहित्य में भारतीय समाज पर पूँजीवाद की घटनाओं का वर्णन किया जाने लगा। ग्रामीण रोमांचवाद से शास्त्रीय मार्क्सवाद तक सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन साहित्य में मिलने लगा। मार्क्सवादी विचारधारा में सामाजिक न्याय सम्बन्धी बातें साहित्य की अन्तर्वस्तु में आने लगीं।

(3) मिथ्या-व्यक्तिवाद का विस्तार
(Spread of Pseudo-Individualism)

ब्रितानिया सरकार के अनेक प्रभावों के फलस्वरूप भारतीय समाज के अंग्रेजी शिक्षित वर्ग में व्यक्तिवाद की उत्पत्ति और विकास हुआ। मध्यम वर्ग जो कि अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त था, वह अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना चाहता था क्योंकि उसकी स्थिति समाज में उखड़े वर्ग जैसी थी। डी. पी. ने लिखा कि इन लोगों की स्थिति में मिथ्यावाद पनपा जो बंगाली साहित्य से भारत के अन्य भागों में फैला तथा बंगाली साहित्य का प्रभाव अन्य भारतीय साहित्य पर पड़ा। रोमांचकारी व्यक्तिवाद ने एक प्रकार से सुखकर सामाजिक शक्ति का कार्य किया। इसके प्रभाव को बताते हुए डी. पी. ने लिखा कि पुरुषों ने महिलाओं का, जमींदारों ने किसानों का, उच्च वर्ग ने निम्न-मध्यम वर्ग का तथा मालिकों ने श्रमिकों का शोषण किया। इनका वर्णन भी भारतीय साहित्य में अभिव्यक्त होने लगा। आपने निष्कर्ष रूप में लिखा कि यह भी सत्य है कि क्षेत्रीय साहित्य अभी भी एक-दूसरे से भिन्न था जिसके पर्यावरण सम्बन्धी कारणों के अतिरिक्त अन्य कारण भी थे,

जो निम्नलिखित हैं— 1 अंग्रेजी भाषा द्वारा शिक्षा तथा प्रारम्भ के यूरोप के वाणिज्य का ऐतिहासिक प्रभाव। 2 वाणिज्य के केन्द्र और कच्चे माल के निर्यात के बदरगाहो का प्रभुत्व। 3 औद्योगिक क्षेत्रो एवं नगरो का विकास—इन दोनो ने ग्राम नगर संस्कृति के प्रसार की दिशा तय की। 4 विद्यमान साहित्य मे सस्कृत अथवा फारसी परम्पराओ का न्यूनाधिक वर्चस्व—सस्कृत और उर्दू के इस वर्चस्व को भारत के सुदूर क्षेत्रो के हिन्दी साहित्य तथा दिल्ली, लखनऊ तथा हैदराबाद की अदालतो के केन्द्रीय क्षेत्रो मे देखा जा सकता है। 5 अन्तिम कारण आपने विशेष रूप से सचार एवं मुद्रण के प्रसार को बताया है। इन भिन्नताओ के विद्यमान होने के उपरान्त तथा ब्रितानिया शासन के विकास के प्रभाव के कारण भारत मे एक अखिल भारतीय साहित्य को पहचाना जा सकता है। आधुनिक भारतीय सस्कृति का विस्तार तो हुआ लेकिन यह मध्यम वर्गों के मूल्यो से आगे विस्तृत नहीं हो सकी।

(4) भारतीय साहित्य में सामान्य सामाजिक विश्वास

(General Social Faiths in Indian Literature)

डी पी मुखर्जी ने कहा कि उपर्युक्त वर्णित सामान्य सामाजिक और सास्कृतिक प्रक्रियाओ के फलस्वरूप निम्नलिखित सामान्य सामाजिक विश्वास देखे गये हैं जिन्होने भारतीय साहित्य के विश्वासो और दृष्टिकोणो को प्रभावित किया है—

1 प्रगति मे विश्वास

2 व्यक्ति में विश्वास

3 तर्क मे विश्वास

इन तीनो सामाजिक विश्वासो की व्याख्या डी पी ने इस प्रकार प्रस्तुत की है—

1. प्रगति में विश्वास (Faith in Progress)—डी पी. मुखर्जी ने भारतीय साहित्य के विकास से सम्बन्धित उन तत्त्वों पर प्रकाश डाला है जो सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के फलस्वरूप हुए हैं। आपका कहना है कि भारतीय साहित्य मे प्रगति के प्रति विश्वास पश्चिम ने पैदा किया। प्रगति मे विश्वास लगभग सार्वभौमिक था। ऐसा मानना है कि भारत के साहित्य मे 'प्रगति मे विश्वास' के तत्त्व का सन्देश भारत मे पश्चिम ने पहुँचाया, अन्यथा यह विशेषता शायद ही भारत में पनप पाती। वैसे तो साहित्य मे मुख्य रूप से विज्ञान ही इस विशेषता को लाता। भारत मे ब्रितानिया सरकार ने लोगो के लिए सभी कार्यों को करने की जिम्मेदारी ली थी, इसी के परिणामस्वरूप अनेक क्षेत्रों मे पश्चिमीकरण हुआ, जिसका साहित्य की रचनाओ पर भी प्रभाव पड़ा।

2. व्यक्ति मे विश्वास (Faith in the Individual)—डी पी मुखर्जी ने लिखा है कि भारतीय साहित्य मे व्यक्ति के प्रति विश्वास का अध्ययन हमें भारतीय व्यक्तिवाद के आधार पर करना चाहिए। आपने भारतीय व्यक्तिवाद को —(1) आदि-भारतीय व्यक्तिवाद और (2) नव-भारतीय व्यक्तिवाद के रूप मे बाँटा है।

आदि-भारतीय व्यक्तिवाद से आपका तात्पर्य प्राचीन साहित्य में विद्यमान वैष्णव पदावली और सन्तों के गीतों में विद्यमान व्यक्तिवाद से है। इन गीतों और पदावलियों में व्यक्ति अन्त में अपने को भगवान को समर्पित करता है। **नूतन व्यक्तिवाद** से तात्पर्य जाति, परिवार और राजनैतिक सत्ताओं के विरुद्ध नकारात्मक कार्यों से है तथा व्यक्ति में अधिकारों के प्रति सकारात्मक रुख से है। इस प्रकार के वातावरण में धीरे धीरे स्वाभाविक रूप से अराजकता का वातावरण पनपा। राष्ट्रीय आन्दोलन के गाँधी-युग में जो साहित्य लिखा गया वह भी इस अराजकता की विचारधारा से बाहर नहीं आ सका। समाजवादी विचारधारा के अन्तर्गत जो साहित्य लिखा गया उसमें भी इसी प्रकार के व्यक्तिवाद की झलक मिलती है।

3. तर्क में विश्वास (Faith in Reason)—डी पी मुखर्जी ने कहा कि तर्क एक प्रकार के नहीं थे। भारतीय साहित्य में तर्क वितर्क थे, लेकिन वे लोगों की पुस्तकों तक ही सीमित थे। तर्कों का उत्तम उपयोग पुराने लेखों, अभिलेखों तथा वर्णनों की आलोचनात्मक व्याख्या करने के लिए किया जाता था। तर्क-विश्लेषण द्वारा उत्तम बौद्धिक साहित्य रचे गये। लेकिन यह ऐतिहासिक तर्क नहीं था। या तो यह वैज्ञानिक तर्क था या भारत की संस्कृति के गुण-गान करने के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए तर्क था। कुल मिलाकर भारतीय साहित्य में तर्क अनिरन्तर तथा छोटे-छोटे खण्डों में मिलता था। यह सल्तनतों व राजनीति से सम्बन्धित था। दार्शनिक साहित्य में भी तार्किक विचार मिलते हैं। इस प्रकार तार्किक उपागम अनेक धार्मिक अन्धविश्वासों और सामाजिक विश्वासों के विरुद्ध मिलता है।

(5) साहित्यिक विश्वासों का विकास
(Development of Literary Beliefs)

डी. पी. मुखर्जी ने इस लेख के अन्त में विस्तार से अनेक विश्वासों और मूल्यों के विकास का कालक्रमिक विवेचन किया है। आपने लिखा है कि प्रारम्भ के इतिहास में आचार से सम्बन्धित मूल्यों पर अधिक जोर दिया जाता था। पश्चिम के साहित्य में अनैतिकता क्षमा करने योग्य थी जबकि भारत में यह क्षम्य नहीं थी। संस्कृत अथवा वैष्णव साहित्य में विद्यमान प्रेम-सम्बन्धी तथा कामुक तत्त्व धीरे-धीरे भुला दिये गये अथवा धार्मिक प्रतीकात्मक रूप से वर्णित किये जाने लगे। इस प्रकार बहुत ही न्यून औपचारिक आलोचनाएँ की जाती थीं। यह सब नये साहित्यिक विश्वासों को व्यक्त करता है। अब कला, कला के लिए थी। साहित्यिक प्रतिबन्धों को कुछ छुटकारा भी दिया गया जो प्रभावशाली भी था। इससे नये सामाजिक दृष्टिकोण विकसित हुए। सुधारवादियों ने साहित्य में पत्नियों का पतियों का तथा सासों के विरुद्ध बहुओं का, पुत्रों का पिताओं के विरुद्ध, युवाओं का वृद्धों के विरुद्ध, उत्पीड़ितों का उत्पीड़कों के विरुद्ध, दलितों का अत्याचारियों के विरुद्ध अथवा शोषितों का शोषकों के विरुद्ध परिस्थितियों का वर्णन किया। प्रथम महायुद्ध के बाद साहित्यिक मूल्यों में और परिवर्तन आया। जिन लोगों ने कभी कालिदास अथवा भवभूति के विषय में नहीं सुना था वे भी अब इनके विषय में जानने लगे। विभिन्न साहित्यों का यह प्रभाव पड़ा कि भारत के साहित्य में मानवतावाद का प्रसार हुआ। 19वीं शताब्दी के तीसरे

दशक मे मूल्यो के इस रुझान में दिशा एव अ तर्वस्तु स्पष्ट रूप से विकसित हो गई। भारतीय साहित्य के मूल्यो पर रूप भी 17वीं शताब्दी का भी प्रभाव पड़ा। इस वृति से भारत तथा अन्य उपनिवेशो मे मार्क्सवाद का अध्ययन किया जाने लगा, जिसने साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रक्रिया शुरू की तथा समाजवादी राष्ट्रवाद का स्वरूप ग्रहण किया। धीरे धीरे भारत मे लोक-साहित्य की भी खोज की जाने लगी, चेतन या अचेतन रूप से सस्कृति का प्रसार हुआ और एक सामान्य आधार विकसित हुआ। इस साहित्य मे स्त्रियो, बच्चो, अनुसूचित जातियो, निर्धन कृषको औद्योगिक श्रमिको श्वेत-वस्त्रधारी बाबुओं तथा दलितो की आकाक्षाओ के लिए आवाज उठाई गई। इस प्रकार से डी पी मुखर्जी ने भारतीय साहित्य के इतिहास का वर्णन करने के उपरान्त लिखा कि सामाजिक कार्यों तथा साहित्य के प्रभाव को पहले की तुलना म अब अधिक व्यापक एव गहन रूप से समझा जाने लगा।

कला का विकास

(Development of Art)

भारतीय कला का विकास विविध परम्पराओ से निर्मित एव समन्वित होकर हुआ है। कला के विकास का अध्ययन करने से पूर्व इसका अर्थ और अध्ययन के कुछ आधार निश्चित करना श्रेयस्कर होगा। विद्वानो ने लिखा है कि "ललित कला का आकलन ही कला है।" भगवतशरण उपाध्याय ने कला की परिभाषा देते हुए लिखा है, "अभिराम अकन चाहे भोग-विलास के क्षेत्र में हो, चाहे रेखाओ मे, चाहे वास्तुशिल्प मे हो, वह कला ही है।" सार रूप मे यह कहा जा सकता है कि, "कला अपनी दृष्टि से प्रकृति को देखती है। कलाकार कला को दृष्टि से दृश्य मे पैठकर और प्रायः उससे अपने आपको एकीभाव करके देखता है, समझता है तथा अपनी तूलिका, छैनी अथवा लेखनी से सवार देता है, इसी को कला कहते हैं।" इस प्रकार कला के विभिन्न रूप—चित्रकला, सगीतकला, मूर्तिकला व स्थापत्य कला आदि अनेक रूप हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भारतीय कला का विकास लगभग सिंधु सभ्यता के बाद से देखा जा सकता है। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के बाद वैदिक उदासीनता के कारण भारतीय कला की प्रगति टूट गई थी और उस सभ्यता तथा मौर्य काल की कला के बीच 1500 वर्षों का दीर्घ कालान्तर पड़ गया था। मौर्य युग से जो कला का विकास प्रारम्भ होता है, वह निरन्तर चलता रहा है। कला के विभिन्न क्षेत्रा, रूपो, प्रकारो और अभिप्रायो पर विदेशी सस्कृति के प्रभाव पडते रहे। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि भारतीय कला मुख्यतः हिन्दुओ से ही सम्बन्धित रही हो क्योकि इस पर समय समय पर प्रभाव पड़ते रहे।

कला के अनेक रूप हैं, इनको मुख्यतया स्थापत्य कला, मूर्ति कला, चित्रकला सगीत व रंगमच आदि में वर्गीकृत किया जा सकता है। भारतीय कला के विकास के अध्ययन मे स्थापत्य कला का सर्वाधिक अध्ययन हुआ है। भारतीय कला और उसके दृष्टिकोण के विरुद्ध कुछ भारतीय विद्रोही हुए हैं, उनकी दृष्टि में भारतीय कला कमजोर, ऊबाने वाली, गीतात्मक, अभौतिक और उद्योग के लिए अनुपयुक्त है। डी पी ने यह भी लिखा है कि भारत मे कुछ ऐसे कलाकार भी

हैं जो पाश्चात्य तरीके से कला के सृजन में लगे हुए हैं। दूसरे कुछ ऐसे लोग भी हैं जो भारतीय कला के केवल प्रशंसक हैं। आपका कहना है कि भारतवासी मूलत: एक आध्यात्मिक प्रजाति के रूप में रहे हैं। यही कारण है कि भारतीय कला आध्यात्मिक मूल्यों की खान रही है। भारतवासी सदैव ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अपनी प्रारम्भिक परम्पराओं, पौराणिक कथाओं तथा प्रतीकों के प्रति जागरूक व विशेष रुचि लेते रहे हैं। दुःख की बात है कि आज मध्यम वर्ग के भारतवासी महाभारत के कथानकों से भी अपरिचित रहे हैं। लेकिन वर्तमान सन्दर्भ में दूरदर्शन के रामायण, महाभारत व चाणक्य आदि धारावाहिकों के द्वारा अनेक भारतवासी इनसे परिचित हुए हैं। अनेक समाजशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों ने भी लिखा है कि अनेक मांगलिक उत्सवों में सामूहिक पूजा के लिए सम्पूर्ण भारत में मिट्टी की प्रतिमाएँ बनाई जाती हैं। ये प्रतिमाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की मिट्टी से बनाई जाती हैं। इन प्रतिमाओं की विशेषता ये है कि भारत के विभिन्न क्षेत्रों में उनकी परम्पराओं के अनुसार इनका निर्माण किया जाता है। बंगाल में दुर्गा माता की हजारों प्रतिमाएँ बनाई जाती हैं। दक्षिण भारत के केरल ग्राम में विभिन्न उत्सवों पर विशेष जातियों द्वारा उच्च कोटि के नृत्य एवं नाटक प्रदर्शित किये जाते हैं।

भारत में कला के विकास एवं महत्त्व को क्षेत्रों के आधार पर ग्राम और नगर में बाँटा जा सकता है तथा काल के आधार पर प्राचीन एवं नवीन कला के रूप में बाँटा जा सकता है। डी पी ने कहा है कि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भारत में कला को जितना महत्त्व पहले दिया जाता था उतना आज नहीं दिया जाता है। ग्राम और नगर के सन्दर्भ में कला का महत्त्व नगरों की तुलना में ग्रामों में अधिक है। नगरीय समाजों में मध्यमवर्गीय लोग कला के प्रति अधिक उदासीन पाये जाते हैं।

कला के विकास के दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर यह तथ्य सामने आता है कि लोगों में पहले की तुलना में अब कला के प्रति रुचि अधिक बढ़ी है। इसका प्रभाव कलात्मक उत्पादन तथा बिक्री पर पड़ा है, इसे सामाजिक प्रक्रिया के रूप में विकास की दिशा में एक आन्दोलन कहा जा सकता है। कला के प्रशंसक—गाँव और नगरों—दोनों में ही काफी हैं। कला के क्षेत्र में प्रतिभाशाली कलाकारों का अभाव नहीं है। जैसे-जैसे भारत का विभिन्न क्षेत्रों में विकास हुआ है उसका प्रभाव कला के विकास पर भी पड़ा है। डी. पी. ने लिखा है कि कलात्मक वस्तुओं व चित्रों का उत्पादन बढ़ा है और इसमें खरीददारों की संख्या भी बढ़ी है।

आधुनिक सिनेमा या चलचित्रों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी विषय-वस्तु अधिकांशत: पौराणिक है। चल-चित्रों में बुद्ध, अशोक, चैतन्य एवं अन्य सन्तों तथा कवियों के सम्बन्ध में जानकारी दी जाती है। चल-चित्रों में अनेक लोकप्रिय उपन्यास, नाटक, निबन्ध, कहानियों का भी चित्रण किया गया है, जैसे—शाकुन्तलम्, मेघदूत, जातक कथा, रामायण, महाभारत, उमर खैयाम आदि चलचित्रों के द्वारा भारतीय समाज की विभिन्न समस्याओं, ऐतिहासिक घटनाओं, साहित्यिक रचनाओं, कृषकों का शोषण, स्त्रियों की समस्याओं व अस्पृश्यता आदि का चित्रण मिलता है।

भारतीय कला विविध परम्पराओ से प्रभावित हुई है, लेकिन चित्रकला पर प्रधानत, हिन्दुओ का वर्चस्व रहा है क्योंकि इस्लाम अधिकाशत चित्रकला के विरुद्ध रहा है। भारतीय चित्रकला मे प्राकृतिक दृश्यो के चित्र प्रसिद्ध रहे हैं। यहाँ राग-रागनियो को भी चित्रो द्वारा दर्शाया गया है। विगत वर्षों मे रागिनी चित्रो के नीचे दोहे लिखने की प्रथा भी रही है। बगाल में चित्रा पर टैगोर की कविताएँ लिखी हुई मिलती हैं।

भारत मे सभी प्रकार की कलाओ मे वास्तुकला सबसे अधिक सामाजिक रही है। नृत्य कला की दृष्टि से भारत मे यह कला विभिन्न क्षेत्रो मे रही है लेकिन पिछले वर्षों में इसके प्रति लोगो मे आकर्षण बढा है। नृत्य के क्षेत्र मे विभिन्न क्षेत्रीय शैलियाँ भी मिलती हैं। इन क्षेत्रीय शैलियो ने नृत्य के विकास मे उल्लेखनीय योगदान दिया है। ग्रामो या कस्बों मे नृत्य मण्डलियो के अभिनय को स्थानीय लोग उत्साह एव रुचि के साथ देखते हैं। गुजरात मे 'गर्बा नृत्य' बहुत प्रसिद्ध है। नृत्य कला मे स्त्री-पुरुष दोनो ही समान रूप से भाग लेते हैं। क्षेत्रीय आधार पर 'भरत नाट्यम' मणिपुरी व कथकली आदि क्षेत्रीय शैलियो के नृत्य हैं जिनका देश-विदेश मे योजनाबद्ध रूप मे प्रदर्शन किया जाता है।

भारत में लोक नृत्यो की भी अधिकता है। इन नृत्यो मे कलाकार हाथो मे तलवार, डडियाँ, प्रत्यचा, लेजियम, मजीरे आदि लेकर नृत्य करते हैं। भारत मे जनजातियो एव ग्रामीण क्षेत्रो मे त्योहारो के अवसर पर लोक-नृत्यों का आयोजन किया जाता है। होली के अवसर पर भी विशेष प्रकार के नृत्य का आयोजन किया जाता है और नृत्य के दौरान ही विवाह भी सम्पन्न किये जाते हैं। लोक-नृत्यो की मुख्य विशेषता यह है कि सभी लोग नृत्यो मे भाग लेते हैं और नर्तक और दर्शक का भेद नहीं होता है। भारत मे लोक नृत्य और उनकी शैली अपना विशेष स्थान रखती है।

कलाकारो तथा कला के विकास के लिए अनेक योजनाएँ कार्यान्वित की गयी हैं। कलाकारो को समाज मे सम्मान प्रदान किया गया है। इनको समाज मे प्रस्थिति एव प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। स्टूडियो की स्थापना के फलस्वरूप कलाकारो को स्टूडियो मे उच्च पदो पर नियुक्तियाँ दी जाती हैं, कला के विकास के क्षेत्र में कला केन्द्रो द्वारा विभिन्न कार्यक्रम एव प्रतियोगिताएँ आयोजित की जाती हैं, कलाकारो को सम्मान, पुरस्कार व प्रदर्शन के सम्मान मे प्रीति-भोज दिये जाते हैं। एक प्रकार से भारत मे विभिन्न कलाओ के विकास में इनकी अहं भूमिका है। विगत् वर्षों मे भारत मे चित्रकला, सगीत कला, नृत्य कला आदि सामाजिक वास्तविकता के निकट आती जा रही हैं। अनेक सामाजिक समस्याओ के समाधान के लिए विभिन्न कलाओ के द्वारा सुझाव एवं समाधान प्रस्तुत किये जाते हैं।

डी. पी. मुखर्जी ने अपने लेख 'उपन्यास' मे सामाजिक समस्याओ के अन्त में कला से सम्बन्धित निम्नलिखित निष्कर्ष दिये हैं।

1 कलाकार स्वरूप को मुश्किल से ही अन्तर्वस्तु पर आरोपित करता है।

2 अन्तर्वस्तु सदैव सामाजिक होती है।

3 अन्तर्वस्तु और स्वरूप दोनों ही सामाजिक प्रक्रियाओं को प्रतिबिम्बित करते हैं, समाज को प्रतिबिम्बित नहीं करते।

4. सामाजिक प्रक्रियाएँ द्वन्द्वात्मक होती हैं। इसमें विरोध के द्वारा प्रत्येक चरण पर समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

5. समस्याएँ सम्पूर्ण सामग्री होती हैं और उनका समाधान सम्पूर्ण काल्पनिक साहित्य द्वारा होता है।

6. समाधान समझ या ज्ञान के द्वारा होता है न कि विशिष्ट संकाय के द्वारा।

7. डाउने (Downay) लिखते हैं कि "**प्रमाणित सृजनात्मक निर्माण का विकास वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि से होता है।**"

8 कला और दस्तकारी में परस्पर बहुत कम अन्तर होता है। उनमें अन्तर्भाग समान होता है। तकनीकी कठिनाइयों की समस्याओं का समाधान तथा वस्तुओं के विरोध पर विजय पाना—कला और कला-वस्तु—दोनों में समान रूप से मिलता है। कला में जो वस्तु विरोध करती है, वह कला का आदि-रूप है, जिसको निश्चित एवं प्रमाणित समाज का आदि-स्वरूप करता है।

इस प्रकार से डी. पी. मुखर्जी ने भारत में समाजशास्त्रीय चिन्तन के विकास में अनेक प्रकार से योगदान किया है। ❒

अध्याय-17

आर. के. मुखर्जी का योगदान

(Contribution of R. K. Mukherjee)

(1889-1968)

भारत में समाजशास्त्र और सामाजिक विचारधारा के विकास में जिन भारतीय विद्वानों ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, उनमें राधाकमल मुखर्जी का नाम सदैव स्मरणीय रहेगा। समाजशास्त्र में उनका महत्त्व सामाजिक मूल्यों से सम्बन्धित विचारों के कारण है। उनके विचार उनकी कृति "**इन्स्टीट्यूशनल थ्योरी ऑफ इकोनोमिक्स इन सोशियोलोजी**" में निहित हैं। उन्होंने अपने विचार "**ए जनरल थ्योरी ऑफ सोसाइटी**" में दिए हैं, जिसमें उन्होंने सामाजिक मूल्यों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इसके विषय में बोगार्डस ने अपनी कृति "**दा डवलपमेण्ट ऑफ सोशियल थॉट**" में कहा है कि "मुखर्जी ने सामाजिक मूल्यों का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह केवल—पूर्व और पश्चिम—दोनों का ही समन्वय नहीं करता, अपितु सार्वभौमिक सामाजिक अन्त:क्रिया के सन्दर्भ में पूर्वीय तथा पाश्चात्य सामाजिक विचारधारा के एक समन्वय का परिणाम है।" पूर्व और पश्चिम की विचारधाराओं को समन्वित करने की योग्यता प्राप्त करने का कारण यह था कि मुखर्जी शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से यूरोप में रहे हैं।

जीवन चित्रण एवं रचनाएँ

(Life-Sketch and Works)

राधाकमल मुखर्जी का जन्म 7 दिसम्बर सन् 1889 को पश्चिमी बंगाल के बरहामपुर (मुर्शिदाबाद) जिले में हुआ था। उनके पिता गोपालचन्द्र मुखर्जी एक सुविख्यात वकील थे। उनका परिवार बौद्धिक दृष्टि से सम्पन्न था, बड़े भाई की रुचि पूर्व और पश्चिम के साहित्य के अध्ययन में विशेष थी, घर में पुस्तकों का बाहुल्य था, इसका प्रभाव यह हुआ कि मुखर्जी को भी भारतीय दर्शन के सम्बन्ध में अपने ज्ञान की वृद्धि का अवसर पर्याप्त रूप से मिल सका। उन्होंने इतिहास का भी अध्ययन रुचिपूर्वक किया। मुखर्जी की शिक्षा प्रेसीडेंसी कॉलेज, कलकत्ता में हुई। सन् 1910 में आप बहरामपुर के कृष्णनाथ कॉलेज में अर्थशास्त्र के प्राध्यापक बन गये और पाँच वर्ष तक उसी पद पर रहे। इस काल के दौरान उन्होंने अर्थशास्त्र से सम्बन्धित कई शोध कार्य किये, जिनके आधार पर सन् 1916 में आपकी प्रथम कृति "दा फाउन्डेशन ऑफ इण्डियन इकोनोमिक्स" का प्रकाशन हुआ।

सन् 1915 मे उन्हें बंगाल में सहकारिता आन्दोलन पर सामाजिक सर्वेक्षण व शोध कार्य के लिए 'प्रेमचन्द्र-रामचन्द्र छात्रवृत्ति' प्रदान की गई।

सन् 1916 मे मुखर्जी की नियुक्ति लाहौर (पंजाब) के सनातन धर्म कॉलेज में एक वर्ष के लिए प्राचार्य पद पर हुई। सन् 1917 मे उन्होने 10 व्याख्यान "भारतीय अर्थशास्त्र के सिद्धान्त" विषय पर पंजाब विश्वविद्यालय मे दिए। सन् 1917 से 1921 तक पाँच वर्ष तक आपने कलकत्ता विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और राजनैतिक दर्शनशास्त्र विषय का अध्यापन किया। सन् 1920 में कलकत्ता विश्वविद्यालय मे ही उन्होंने "भारतीय ग्रामीण समुदाय में सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन" विषय पर डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। सन् 1921 से 1952 तक आप लखनऊ विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र एव समाजशास्त्र विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष पद पर कार्यरत रहे। वहाँ पर उन्होंने अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के शोध-कार्य और अध्ययन-कार्य में भी समन्वित दृष्टिकोण और पद्धतिशास्त्र का शुभारम्भ किया। उन्होने ग्रामीण अर्थशास्त्र, श्रमिक अर्थशास्त्र, सामाजिक परिस्थितिशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान एवं सामाजिक दर्शनशास्त्र से सम्बन्धित अनेक लेखों एवं अध्ययन-प्रतिवेदनों का भी प्रकाशन कराया। इन विषयों को उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान कराया, जिनको कि उस समय तक उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था।

सन् 1945 से 1947 तक आप ग्वालियर सरकार के आर्थिक सलाहकार के रूप में कार्यरत रहे। मुखर्जी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के अनेक सरकारी व शैक्षिक संगठनों के चेयरमैन व सदस्य भी रहे। 1946 में आप एफ. ए. ओ. के अर्थशास्त्र एवं सांख्यिकी कमीशन के अध्यक्ष चुने गए। सन् 1955 से 1958 की अवधि में उन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति का पद भार सम्भाला। उस पद से अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त वे उसी विश्वविद्यालय के "जे. के. इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशियोलोजी एण्ड ह्यूमन रिलेशन्स" के डाइरेक्टर के रूप में चयनित किये गये और इस पद पर कार्य करते हुए आप सन् 1968 में दिवंगत हो गए।

रचनाएँ (Works)—मुखर्जी ने अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, परिस्थितिकीशास्त्र, दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, संस्कृति, कला, धर्म, रहस्यवाद, प्रतीकों व मूल्यों का समाजशास्त्र व आचार जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर लेखन कार्य किया। जीवन के अन्तिम वर्षों में आपका रूझान अध्यात्मवाद की ओर हो गया था। उन्होंने "भागवद् गीता" पर एक विस्तृत टीका लिखी जो उनकी मृत्यु के उपरान्त "दा सोंग ऑफ दा सैल्फ सुप्रीम" नाम से प्रकाशित हुई।

आपकी कुछ प्रमुख कृतियाँ निम्नलिखित हैं—

1. 'दा फाउन्डेशन्स ऑफ इण्डियन इकोनोमिक्स' (1916)
2. 'दा प्रिंसिपल्स ऑफ कम्पेरेटिव इकोनोमिक्स' (1922)
3. 'डेमोक्रेसीज ऑफ द ईस्ट' (1923)
4. 'बॉर्डरलेण्ड्स ऑफ इकोनोमिक्स' (1925)
5. 'रीजनल सोशियोलोजी' (1926)
6. 'माइण्ड इन सोशियोलोजी : इन्ट्रोडोक्शन टू सोशियल साइकोलोजी' (1928)

7 'दा थ्योरी एण्ड आर्ट ऑफ द मिस्टिसिज्म' (1937)
8 'मैन एण्ड हिज हेबिटेशन' (1940)
9 'सोशियल इकोलोजी' (1945)
10 'दा सोशियल फक्शन ऑफ आर्ट' (1948)
11 'दा सोशियल स्ट्रक्चर ऑफ वैल्यूज' (1949)
12 'दा इण्डियन स्कीम ऑफ लाइफ' (1949)
13. 'दा डाइनेमिक्स ऑफ मोरल्स' (1951)
14 'ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन सिविलाइजेशन' (1956)
15 'दा हॉरिजन ऑफ मैरेज' (1956)
16 'दा कल्चर एण्ड ऑर्ट ऑफ इण्डिया' (1959)
17. 'दा फिलोसोफी ऑफ सोशियल साइन्स' (1960)
18 'दा फिलोसोफी ऑफ पर्सनेलिटी' (1963)
19. 'दा डाइमेन्शन्स ऑफ ह्यूमन इवोल्यूशन' (1964)
20 'दा डाइमेन्शन्स ऑफ वैल्यूज' (1964)
21 'दा डेन्सिटी ऑफ सिविलाइजेशन' (1964)
22 'वननेस ऑफ मैनकाइण्ड' (1968)
23 'दा कॉस्मिक ऑर्ट ऑफ इण्डिया' (1968)
24 'दा कम्यूनिटी ऑफ कम्यूनिटीज' (1966)
25 'दा फिलोसोफी ऑफ मैन' (1966)
26. 'दा सोग ऑफ दा सैल्फ सुप्रीम' (1971)

राधाकमल मुखर्जी के प्रमुख समाजशास्त्रीय योगदानो की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है।

सामाजिक विज्ञान का सिद्धान्त
(Theory of Social Science)

मुखर्जी के मत मे समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, सामाजिक मानवशास्त्र और मानव परिस्थिति शास्त्र मे हुई प्रगतियो के आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि अब सामाजिक विज्ञानो का एक घनिष्ठ एकीकरण होने और समाज के एक सामान्य सिद्धान्त के निर्माण करने का समय आ गया है। समाज का यही सामान्य सिद्धान्त सामाजिक सम्बन्धो और संरचनाओ के सम्बन्ध मे सभी समाज-विज्ञानो से प्राप्त सिद्धान्तो, नियमो व व्याख्याओ का सग्रह ही है। यह एक समग्ररूप मे समाज से सम्बन्धित एकीकृत और समन्वित ज्ञान का समूह है। मुखर्जी का कहना है कि "यदि विभिन्न सामाजिक विज्ञानो के बीच पाई जाने वाली खाई को पाटा नहीं जायेगा और यदि अलग अलग सामाजिक विज्ञान सामाजिक जीवन के उस पक्ष से ही अपने को सम्बन्धित रखेंगे, तो समाज का एक समग्र रूप और समाज का एक सामान्य विज्ञान कभी भी उभरकर सामने नहीं आयेगा।

क्योंकि समाज अन्त:सम्बन्धित वास्तविकताओं की समग्रता है। समाज इसीलिए विभाजन के योग्य नहीं है और समाज के विषय में कोई वास्तविक बोध तभी सम्भव हो सकता है, जब एक समग्रता के रूप में समाज की आदतों, मूल्यों और प्रतीकों का अध्ययन किया जाए।''

मुखर्जी के मत में समाज के सामान्य सिद्धान्त के निर्माण के लिए यह आवश्यक है, कि सामाजिक तथ्यों, सामाजिक सम्बन्धों और अनुभवों की सामान्यता को अमूर्त औपचारिक प्रतिमान के रूप में तर्कयुक्त क्रमबद्धता में प्रस्तुत किया जाए।'' मुखर्जी के मत में इसका कारण यह है कि ''सामाजिक जीवन में कोई शुद्ध, प्राणिशास्त्रीय इच्छाएँ एवं संवेग नहीं होते, बल्कि इनका समीकरण, समन्वय व रूपान्तरण अर्थों, मूल्यों और प्रतीकों के रूप में हो जाता है। मुखर्जी के मत में समाज का सामान्य सिद्धान्त दो बातों पर निर्भर है—एक तो यह कि सामाजिक तथ्यों और अनुभवों की बहु-विमितीय प्रकृति को स्पष्ट स्वीकार किया जाए और दूसरा यह कि सामाजिक तथ्यों के समन्वित स्वरूप को मूल्यों तथा प्रतीकों के सन्दर्भ में समझने व विश्लेषित करने का प्रयास किया जाए। इसके लिये प्राकृतिक विज्ञानों एवं समाज-विज्ञानों की सहायता ली जा सकती है।''

महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं की परिभाषाएँ
(Definitions of Important Concepts)

मुखर्जी के मत में समाज के सामान्य सिद्धान्त में मूल्यों का महत्वपूर्ण स्थान होता है क्योंकि ''समस्त मानव-सम्बन्ध और व्यवहार अपनी ही प्रकृति के कारण मूल्य हैं।'' इन मूल्यों को मानव में, मानव से और मानव के लिए ही खोजा जाता है। समाज मूल्यों का ही संगठन और संकलन है अत: समाज के सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन मूल्यों के सन्दर्भ में ही सम्भव है और समाज के सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के दौरान कई समाजशास्त्रीय अवधारणाओं, जैसे—संस्था, संस्कृति, सामाजिक सम्बन्ध, समूह व समाज आदि को भी मुखर्जी ने परिभाषित किया जो निम्नलिखित है—

1. संस्था (Institution)—संस्था को उन अधिक संगठित, औपचारिक तथा सुस्थिर सामाजिक सम्बन्धों व व्यवहारों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो मनुष्यों के कतिपय सामान्य व स्थाई लक्ष्यों एवं मूल्यों की पूर्ति करते हैं।

2. संस्कृति (Culture)—संस्कृति एक समाज के सदस्यों के विश्वासों, मूल्यों तथा व्यवहारों का पूर्णयोग अथवा समष्टि है, तथा उन प्रतीकों की समष्टि है, जो इन विश्वासों, मूल्यों और व्यवहारों को संचालित करते हैं।

3. सामाजिक सम्बन्धों (Social Relations)—इनको परिभाषित करते हुए मुखर्जी ने लिखा है कि सामाजिक सम्बन्धों को मनुष्यों की एक-दूसरे के प्रति अभिव्यक्त उन मनोवृत्तियों तथा व्यवहारों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो उनके सामान्य लक्ष्यों तथा मूल्यों के द्वारा प्रस्तुत व निर्देशित होते हैं।

4. समूह (Group)—समूह सहयोगी व्यक्तियों का वह क्रमबद्ध सामाजिक सम्बन्ध व व्यवहार है, जिनका उद्‌भव उनके सामान्य लक्ष्यों तथा मूल्यों के समन्वय तथा आपूर्ति के कारण होता है।''

5. समाज (Society)—समाज को परिभाषित करते हुए मुखर्जी का कहना है कि समाज सामाजिक सरचनाओ और प्रकार्यों का वह योग है जो लोकाचारो, विश्वासो सम्बन्धो और व्यवहारो के एक व्यवस्थित व क्रमबद्ध प्रतिमान को प्रस्थापित रक्षा तथा सचारित करता है।''

समाज का सामान्य सिद्धान्त

(General Theory of Society)

मुखर्जी ने समाज का सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित करने स पूर्व समाज की विभिन्न दृष्टिकोणो से परिभाषाएँ दी हैं, जो अग्र प्रकार हैं—

1. परिस्थितिशास्त्र—परिस्थितिशास्त्र के दृष्टिकोण से समाज एक प्रदेश है।

2. अर्थशास्त्र—अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से समाज एक वर्ग है।

3. नीतिशास्त्र—नीतिशास्त्रीय दृष्टिकोण से समाज चरित्र निर्माण के लिए सहभागिता अथवा समागम है।

4. समाजशास्त्र—समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समाज एक संस्था है।

निष्कर्ष—मुखर्जी का कहना है कि समाज के सामान्य सिद्धान्त मे इन सभी आधारभूत पक्षो—प्रदेश, वर्ग, सहभागिता और सस्था को समाविष्ट करना आवश्यक है।

समाज : एक मुक्त-व्यवस्था

(Society . An Open System)

मुखर्जी का समाज के सम्बन्ध मे यह सामान्य सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि समाज एक मुक्त-व्यवस्था (Open System) है। जबकि इससे पूर्व के विद्वानो के मत मे समाज को एक बन्द-व्यवस्था के रूप मे माना जाता था। मुखर्जी के मतानुसार समाज के सामान्य विज्ञान मे मुक्त-व्यवस्था के सिद्धान्त को इस प्रकार प्रतिपादित करना होगा कि उसके द्वारा जीवन-निर्वाह, प्रस्थिति, जीवनस्तर व्यवस्था एव चरित्र की वह गतिशीलता प्रकट हो जिसके द्वारा सामाजिक-सम्बन्धो को आगे बढाया जा सके, जिससे वे अधिकाधिक उद्देश्यपूर्ण बने।

समाज का महाविज्ञान

(Master-Science of Society)

मुखर्जी की कल्पना समाज का एक महाविज्ञान बनाने की थी जिसमे मानव परिस्थितिशास्त्र (Human Ecological), समाजशास्त्रीय सिद्धान्त और मूल्यो व प्रतीको के सिद्धान्त सम्मिलित होगे। इन तीनो का पृथक्-पृथक् अस्तित्व भी रहेगा और परस्पर आदान-प्रदान के घनिष्ठ सम्बन्ध भी होगे। इस आदान-प्रदान से सभी को लाभ होगा और महाविज्ञान के विकास का मार्ग भी प्रशस्त होगा, जो समग्र रूप मे समाज के सम्बन्ध मे व्यवस्थित ज्ञान दे सकेगा। इस सामान्य सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न सामाजिक विज्ञान एकता के सूत्र मे बँध जायेगे और उनके मध्य की दूरियाँ भी कम हो जायेगी। इस दृष्टि से यह महाविज्ञान स्वयं समाजशास्त्र से ज्यादा विस्तृत एक विज्ञान होगा। मुखर्जी ने अपनी कृति 'ए जनरल थ्योरी ऑफ सोसाइटी' मे समाजशास्त्र

को इस रूप में परिभाषित किया है—समाजशास्त्र समाज के सामान्य सिद्धान्त का एक ऐसा पक्ष है, जिसका सम्बन्ध संस्थाओ की संरचना के अन्तर्गत संचार और प्रस्थिति के सामाजिक सम्बन्धों में है।'' समाजशास्त्र के अध्ययन की वस्तु व्यक्तियों के मध्य पाए जाने वाले पारस्परिक प्रस्थिति-सम्बन्ध हैं, जैसे—नातेदारी, प्रतिस्पर्द्धा, सहयोग व आधिपत्य आदि। समाजशास्त्र का प्रकार्य सामाजिक मूल्यों का वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से अध्ययन करना है। अर्थात् पुराने व नए मूल्यों का मूल्यांकन करना और पनपते हुए मूल्यों की प्रवृत्तियों को सामाजिक परिस्थिति आवश्यकता और अनुभव के सन्दर्भ मे समझने का प्रयास करना है।

मुखर्जी के मतानुसार मानवीय सम्बन्धों के वास्तविक अध्ययन के लिए यह अनिवार्य है कि सभी सामाजिक विज्ञानों में एकता हो और यह कार्य समाज का महाविज्ञान ही कर सकता है। मानवीय सम्बन्धो के ये विविध स्वरूप—सामाजिक आविष्कारो, जीवन की विविध अभिव्यक्तियों, उच्चतर मूल्य अनुभव की प्राप्ति के लिए किए गये प्रयासों तथा मानव-जीवन के स्पष्ट अर्थ को ढूँढने मे प्रकट होते हैं।

मुखर्जी के अनुसार आज समाज को एक ऐसे समाज विज्ञान के सिद्धान्त की आवश्यकता है, जिसके द्वारा सामाजिक मूल्यों को मापा जा सके, साथ ही ऐसे महाविज्ञान की भी आवश्यकता है जो मानव-जाति से सम्बन्धित व अभी तक न खोजे गए प्रश्नो के उत्तर दे सकेगा। यह विज्ञान समाजशास्त्र से भी विस्तृत होगा। यद्यपि आज समाजशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र काफी बढ रहा है। समाज की अनेक शाखाएँ, जैसे—मूल्यों का समाजशास्त्र, प्रतीकों का समाजशास्त्र, कलाओ का समाजशास्त्र तथा धर्म का समाजशास्त्र आदि मिलकर कार्य कर रही हैं, फिर भी यह महाविज्ञान और भी उच्चतर आदर्श की ओर अग्रसर होगा।

मुखर्जी के मत में समाज के इस महाविज्ञान का दृष्टिकोण विश्वव्यापी होगा, जो विश्व-समुदाय की समस्याओं को सुलझायेगा और मानव-जाति के समान मूल्यों का समादर करेगा, चाहे वे मूल्य विभिन्न देशों व समाजों के ही क्यों न हों। यह महाविज्ञान एक ऐसे दर्शन को भी अपनाएगा जो विभिन्न सामाजिक विज्ञानों मे पाए जाने वाले पूर्वानुमानों का परीक्षण एवं पुनर्निर्माण, परिवर्तित हो रहे सामाजिक—पर्यावरण सम्बन्धी सम्बन्धों व मूल्यों के सन्दर्भ में करेगा तथा स्वयं को सुधारने की पद्धति को भी अपनाएगा।

मुखर्जी का मानना है कि समाज का यह महाविज्ञान उन समस्याओ का भी समाधान खोजेगा कि समाज मे एकता, व्यवस्था, सुरक्षा, स्वतन्त्रता एवं सहभागिता किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है। यह मानव सम्बन्धों के सामाजिक और नैतिक पक्षों के पारस्परिक सम्बन्धो को भी स्पष्ट करेगा। यह उन प्रक्रियाओं की भी परिभाषा करेगा, जिनके द्वारा एक संस्कृति विशेष के आदर्श-मूल्यों को प्रौद्योगिकी द्वारा नवीन स्वरूप प्रदान होता है, अथवा वे समाप्त हो जाते हैं। यह महाविज्ञान ईश्वर को परिपूर्णता और पवित्रता के साथ-साथ सौन्दर्य और सदाचार के समन्वित प्रतीक के रूप में मान्यता प्रदान करेगा और यह स्वीकार करेगा कि ईश्वर सभी प्राणियो के हृदय में निवास करते हैं और वे धीरे-धीरे किन्तु लगातार मानवता को सार्वभौम स्वतन्त्रता और पूर्णता की ओर ले जाते हैं।

सामाजिक मूल्य
(Social Values)

राधाकमल मुखर्जी ने मूल्य सम्बन्धी विचारो का जो सिद्धान्त विकसित किया है उसके कारण उनकी ख्याति देश व विदेश मे पर्याप्त रूप से हुई है। मूल्यो के सम्बन्ध मे उनके विचार "द सोशियल स्ट्रक्चर ऑफ वैल्यूज" एव "दा डायमेन्शज ऑफ वैल्यूज" मे व्यक्त किए गए है। "दा सोशियल स्ट्रक्चर ऑफ वैल्यूज" नामक कृति मे आपने मूल्यो के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जिसमे मूल्यो की उत्पत्ति एव विकास, मूल्यो के मनोवैज्ञानिक नियमो एव मूल्यो की सुरक्षा आदि पर प्रकाश डाला गया है। दूसरी कृति "दा डाइमेन्शन्स ऑफ वैल्यूज" मे मूल्यो के विभिन्न आयामो का उल्लेख किया गया है जिसमे मनोविज्ञान, जीवविज्ञान, दर्शनशास्त्र व तत्त्व मीमांसा आदि मे पाये जाने वाले मूल्यो की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। मूल्यो के सम्बन्ध मे आपका मानना है कि मूल्यो का एक सामाजिक सास्कृतिक आधार होता है इसी कारण प्रत्येक समाज के मूल्यो मे एक भिन्नता दिखाई पडती है। आपका मत है कि मूल्यो के बारे मे जब तक कोई सार्वभौम सिद्धान्त विकसित नहीं किया जाता, तब तक मानव जाति की वास्तविक प्रगति नहीं हो सकती।

सामाजिक मूल्यों का अर्थ एवं परिभाषा *(Meaning and Definition of Social Values)*

मुखर्जी ने मूल्यो को परिभाषित करते हुए कहा है, *"मूल्य समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त इच्छाएँ अथवा लक्ष्य हैं, जिनका अन्तरीकरण सीखने अथवा सामाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है तथा जो व्यक्तिनिष्ठ अधिमान, मानक तथा अभिलाषाएँ बन जाते हैं।"* मुखर्जी के मत मे मूल्य मानव-समूहों और व्यक्तियो के द्वारा प्राकृतिक और सामाजिक ससार से सामजस्य करने के उपकरण हैं। ये ऐसे प्रतिमान हैं जो मनुष्य की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु मार्गदर्शन करते हैं। इन्हे सामाजिक अस्तित्व का केन्द्रीय तत्त्व कहा जा सकता है जिनकी रक्षा के लिए समूह के सदस्य हर सम्भव त्याग करने को तत्पर रहते हैं। मूल्यो के प्रति सदस्यो की स्वाभाविक आस्था होती है अर्थात् मुखर्जी के मत मे मूल्य "समाज द्वारा स्वीकृति प्राप्त आकाक्षाएँ और लक्ष्य" हैं। इसे इस रूप मे स्पष्ट किया जा सकता है—मूल्य समाज के नियम, कानून, प्रथा, नीति, प्रतीक एव सस्थाओ मे व्याप्त होते हैं—जिसे समाज उचित मानता है वही मूल्य होते हैं। मुखर्जी का कहना है कि मनुष्य को मूल्य अपने जीवन से, अपने पर्यावरण से, अपने आप से, समाज और सस्कृति से ही नही, अपितु मानव अस्तित्व व अनुभव से प्राप्त होते हैं। मनुष्य को अपने परिस्थितिगत पर्यावरण से सन्तुलन बनाए रखने की आवश्यकता होती है, अपने भरण-पोषण एव जीवन-निर्वाह के लिए अनेक समस्याओ का सामना करना पडता है, अपने समाज एव समूह के लोगो के साथ सम्बन्ध बनाए रखने पडते हैं, अपनी सस्कृति के मध्य आदान-प्रदान को प्रक्रिया मे भागीदार होना पड़ता है। इन सबके कारण समाज के सदस्यो के लिए समाज द्वारा अधिमान व मानदण्ड निर्धारित करने आवश्यक होते हैं जिन्हे व्यक्ति सामाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान अपने व्यक्तित्व में सम्मिलित कर लेता है अर्थात् मूल्य समाज के सदस्यो के बीच होने वाली अन्तः क्रियाओ के फलस्वरूप धीरे-धीरे उत्पन्न होते हैं।

मूल्यों एवं नैतिकता के उद्विकास के आयाम

उद्विकास क्रम	मूल्य	सामाजिक संकुल	नैतिकता प्रतिमान	व्यवस्था के गुण
1 जैविकीय परिस्थितिकीय	रक्षण, प्रभुत्व एवं सातत्य	हित समूह	पारस्पर्य	व्यवहार-वुद्धि
2 सामाजिक	प्रस्थिति	समुदाय	न्याय	निष्ठा
3 लोकातीत	व्यक्तित्व और चरित्र	सम्पूर्ण मानव समुदाय	प्रेम	श्रद्धा

उपर्युक्त तालिका को इस रूप में समझा जा सकता है। नैतिकता के मूल्यों की उत्पत्ति अहं की सीमा को पार करने पर होती है। दूसरों के साथ सम्बन्ध और पारस्पर्य से मूल्यों का विकास होने लगता है। परा-अहं के मूल्य अन्तःकरण और निष्ठा से उत्पन्न होते हैं। व्यक्ति का सम्बन्ध जैसे-जैसे अपने से विस्तृत सामाजिक क्षेत्र से जुड़ता जाता है, उसके मूल्य भी उद्विकसित होने लगते हैं। मुखर्जी ने सामाजिक संकुल और मूल्यों का श्रेणीक्रम स्थापित करते हुए **हित-समूह, समुदाय और सम्पूर्ण मानव-समुदाय के तीन स्तर बताए हैं।**

1. हित-समूह (Interest-Group)—हित-समूह में भीड़ की तुलना में स्थायित्व अधिक होता है। राजनैतिक-दल व समिति आदि इसके उदाहरण हैं—मानव के निजी हित बिना पारस्पर्य के पूरे नहीं हो सकते अतः सहयोग, सहानुभूति और दूसरों के हितों को ध्यान में रखने से न्यूनतम मूल्य उत्पन्न होते हैं और अपने सीमित हितों की पूर्ति के लिए सहयोग व संघर्ष आदि करते रहते हैं। इस समूह का प्रमुख गुण **'व्यावहारिक बुद्धि'** है।

2. समुदाय (Community)—समुदाय अथवा समाज के अन्तर्गत हित पूरे समुदाय के सहयोगात्मक जीवन से जुड़ जाते हैं। ये हित-समूह की अपेक्षा अधिक व्यापक होते हैं। इस संगठन का प्रमुख गुण **'निष्ठा'** है।

3. सम्पूर्ण मानव समाज (Total Human Society)—जब मानव का तादात्म्य सम्पूर्णता से हो जाता है तो मूल्य सार्वलौकिक हो जाते हैं। प्रेम, समानता, बन्धुत्व आदि ऐसे उच्च गुण हैं जिनके पालन में व्यक्ति को त्याग व तपस्या करनी होती है। इस समूह का प्रमुख गुण **'श्रद्धा'** है।

मुखर्जी स्पष्ट रूप से मानते हैं कि मनुष्य के नैतिक मूल्यों का उद्विकास हित-समूह के माध्यम से 'आदर्श समाज' अथवा संसार के मुक्त समाज की ओर हो रहा है। व्यक्ति मूल्य और परम्परा के स्तरों पर पक्ष और प्रतिपक्ष में जो द्वन्द्व होता है, उससे सत्य का संश्लेषित रूप सामने आता है। मुखर्जी के मत में यही उद्विकास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है।

मुखर्जी मूल्यों को दो वर्गों में विभाजित करते हैं— (i) साध्य मूल्य, एवं (ii) साधन मूल्य।

साध्य मूल्य (Intrinsic Values)—वे लक्ष्य तथा सन्तोष (Goals and Satisfactions) हैं जिन्हें मनुष्य और समाज जीवन और मस्तिष्क के विकास के लिए स्वीकार करते हैं, जो व्यक्ति के व्यवहार में अन्तर्निहित होते हैं और जो स्वयं साध्य होते हैं।

साधन मूल्य (Instrumental Values)—ये वे मूल्य हैं जिन्हें मनुष्य और समाज प्रथम प्रकार के अर्थात् साध्य मूल्यों को प्राप्त करने के लिए व उन्हें उन्नत बनाने के लिए साधन के रूप मे मानते हैं। स्वास्थ्य सम्पत्ति, सुरक्षा, सत्ता एव प्रस्थिति आदि से सम्बन्धित मूल्य 'साधन मूल्य' हैं जिनका उपयोग किन्हीं लक्ष्यों व सन्तोषों की प्राप्ति के साधन के रूप म किया जाता है। मुखर्जी साध्य मूल्यों का अमूर्त अथवा लोकातीत (Transcendent) मूल्य और साधन मूल्यों को विशिष्ठ (Specific) अथवा अस्तित्वात्मक (Existential) मूल्य भी कहते हैं क्योंकि साध्य लोकातीत या अमूर्त मूल्य समाज एव व्यक्ति के जीवन के उच्चतम लक्ष्यों म सम्बन्धित होते हैं जबकि साधन, विशिष्ठ अथवा अस्तित्वात्मक मूल्यों को लौकिक लक्ष्यों की पूर्ति के साधन के रूप मे प्रयुक्त किया जाता है। साधन मूल्यों के बुद्धिमत्तापूर्ण उपयोग के बिना साध्य मूल्य पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकते। मनुष्य का सम्बन्ध भी साध्य मूल्यों की तुलना म साधन मूल्यों से ज्यादा होता है। इसी कारण साधन व मूल्यों की विवेचना सामाजिक विज्ञानों द्वारा अधिक की जाती है।

मूल्यों का सोपान एवं संस्तरण

(The Scale and Hierarchy of Values)

मुखर्जी ने मूल्यों के तीन आयाम बताए हैं—(i) जैविक (Biological) (ii) सामाजिक (Social), तथा (iii) आध्यात्मिक (Spiritual)।

1. जैविक मूल्य (Biological Values)—जैविक मूल्य स्वास्थ्य कुशलता व सुरक्षा आदि से सम्बन्धित होते हैं। मानव जीवन जैविक आधार पर ही निर्भर है। जब शरीर स्वस्थ व उपयुक्त होगा तभी वह जीवन निर्वाह करने मे सक्षम होगा, इसलिए मूल्यों के संस्तरण मे सर्वप्रथम जैविक मूल्यों का स्थान है।

2. सामाजिक मूल्य (Social Values)—जैविक जीवन समाज की सहायता के बिना सम्भव नहीं हो सकता। इस कारण जैविक मूल्यों के पश्चात् सामाजिक मूल्यों का स्थान है। सामाजिक मूल्यों मे सम्पत्ति, प्रेम, न्याय आदि को लिया जाता है।

3. आध्यात्मिक मूल्य (Spiritual Values)—जैविक और सामाजिक मूल्यों की वास्तविकता 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की प्राप्ति मे निहित है जिसे जैविक और सामाजिक स्तर से गुजरते हुए ही प्राप्त किया जा सकता है। इसी कारण आध्यात्मिक मूल्य सबसे उच्च स्तर के होते हैं—सत्य, सुसगति, सुन्दरता तथा पवित्रता से सम्बन्धित होते हैं—इन्हे साध्य अन्तर्निष्ठ अथवा लोकातीत मूल्य कहा जाता है। आध्यात्मिक मूल्यों को सर्वोच्च मूल्य कहा जाता है, सामाजिक और जैविक मूल्यों का स्थान इनके उपरान्त है, जिनका उद्देश्य सामाजिक सगठन और सुव्यवस्था को बनाये रखना है इसीलिये ये साधन मूल्य, बाह्य मूल्य अथवा क्रियात्मक मूल्य कहलाते हैं। जैविक मूल्यों को जीवन को बनाये रखने के लिये आवश्यक माना जाता है ये भी साधन मूल्य ही हैं।

उपर्युक्त विवेचन के क्रम मे मुखर्जी ने निम्नलिखित सामान्यीकरण प्रस्तुत किया है—

(1) साध्य मूल्य साधन-मूल्यों की तुलना मे श्रेष्ठ होते हैं क्योंकि साध्य मूल्य ही मानव जीवन को सार्थकता प्रदान करते हैं।

(2) साध्य-मूल्य और साधन मूल्य परस्पर घुलते-मिलते एवं एक-दूसरे मे व्याप्त होते रहते हैं। साधन-मूल्य साध्य मूल्यों के साथ संयुक्त रहकर अपना क्रियारूप बनाए रखते हैं।

(3) व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे मूल्यों की द्वन्द्वात्मक गति होती है।

(4) वास्तविकता मे जैविक मूल्यो से उच्चतर मूल्यो को कुछ सीमा तक तो प्राप्त किया जा सकता है किन्तु व्यक्ति उन श्रेष्ठ मूल्यों को प्राप्त करने का प्रयास करता रहता है।

(5) उच्चतर अथवा आत्म लोकातीकरण मूल्यों का कार्य जीवन को बनाए रखने के कार्य से उच्च श्रेणी का है।

(6) सार्वभौम मूल्य वे आदर्श-नियम हैं जो कि मूल्यों की संस्तरणात्मक व्यवस्था को नियंत्रित एवं निर्देशित करते हैं।

मूल्य के नियम
(Laws of Values)

मुखर्जी ने अपनी कृति "दा सोशियल स्ट्रक्चर ऑफ वैल्यूज" मे मूल्यों के कुछ नियमो का उल्लेख किया है, जो निम्नलिखित हैं—

(1) समाज के नियंत्रण अथवा अनुमोदन के कारण समस्त मानवीय अभिप्रेरणाएँ मूल्यों मे रूपान्तरित हो जाती हैं। समाज इन प्रेरणाओं को ढालता है, और उनकी अभिव्यक्ति के साधनों को निश्चित करता है।

(2) आधारभूत अथवा मौलिक मूल्यों की सन्तुष्टि हो जाने पर उन मूल्यों के प्रति उदासीनता उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति में समाज और संस्कृति द्वारा नवीन लक्ष्य एवं साधन प्रस्तुत किये जाते हैं जिनके कारण पुनः नये मूल्यों का जन्म होता है। इसे 'मूल्यों के चक्र का नियम' (Law of the Cycle of Values) कहा जाता है।

(3) मूल्य परस्पर घुलमिल जाते हैं और उनके सम्मिलन से निरन्तर बदलाव दिखाई देता है। यह सम्मिलन कभी सन्तुलित और कभी असन्तुलित रूप में देखने को मिलता है।

(4) विभिन्न मूल्यों में आपस में प्रतिस्पर्द्धा चलती रहती है, इससे मूल्यों में एक संस्तरण विकसित हो जाता है जिसके अन्तर्गत साध्य-मूल्यों को साधन-मूल्यों की तुलना में उच्चतर स्तर प्रदान किया जाता है।

(5) समाज अथवा संस्कृति व्यक्ति को मूल्यों के मौलिक प्रतिमान प्रदान करती है। मानवीय मूल्य मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों के द्योतक हैं। यह संस्कृति, परम्परा व प्रशिक्षण ही हैं जो उन मौलिक मूल्यों का निर्माण करते हैं।

(6) मनुष्य का विवेक एवं निर्णय और समाज का अनुभव मूल्यों के एक सोपान का निर्माण करते हैं जिसमे उत्तम, मध्यम और अधम मूल्यों के बीच भेद पैदा हो जाता है।

(7) मूल्यों में वैयक्तिकता, विभिन्नता एवं अनोरापन पाया जाता है। व्यक्ति अपनी बुद्धि, आदत, आवश्यकता और क्षमता के आधार पर उनका चयन करता है।

(8) अनेक मूल्य परस्पर सघर्ष करते है। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति अपनी शिक्षा, अनुभव और आदर्श नियमो के आधार पर उपयुक्त मूल्यो का चयन करता है।

(9) सामाजिक पर्यावरण समूह सस्थागत सम्बन्ध एव अनुभव की सामाजिक परिस्थिति मे ही मूल्यो मे गुणात्मक सुधार घटित होता है। जसे जैसे एकात्मकता से सामूहिकता की ओर आगे बढा जाता है वैसे वैसे मूल्य भी अधिकाधिक सम्पूर्ण आत्मनिर्भर और स्थाई होते जाते हैं।

(10) प्रत्येक समूह और सस्था व्यक्ति के अपने स्वार्थ के कारण एक प्रकार की **द्वैतीयकता** को प्राप्त कर लेते है जिसके माध्यम से व्यक्ति एक उद्देश्य को प्राप्त कर एक आदर्श तक पहुँच जाता है।

(11) कला, सगीत, साहित्य एव धर्म से सम्बन्धित अन्तर्दृष्टि और सहानुभूति के गुण महान् व्यक्तियों मे बहुतायत से होते है जिसके कारण उनके मौलिक मूल्यो को जाना जा सकता है और उन्हे अन्य व्यक्तियो तक प्रभावशाली ढँग से सप्रेषित किया जा सकता है।

(12) व्यक्ति का आदर्श मूल्य, उसकी अर्न्तदृष्टि सौन्दर्यात्मक एव धार्मिक बोध, उसका व्यावहारिक आविष्कार एव उत्साह आदि का प्रमुख स्रोत सामाजिक सस्कृति होती है जो व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करती है।

मूल्य और व्यक्तित्व
(Value and Personality)

मुखर्जी का मानना है कि मूल्यो का विशेष महत्त्व व्यक्तित्व का निर्माण करने मे है। व्यक्ति का व्यक्तित्व जितना अधिक आदर्श मूल्यो को अपनाता है, उतना ही अधिक व्यक्ति समाज से अपना समजन कर पाता है। प्रत्येक समाज के लिए भी यह आवश्यक है कि वह व्यक्तित्व के सर्वोच्च मूल्यों का निर्माण करे क्योकि यदि किसी समाज के मूल्य व्यवस्थित, नियमित एव श्रेष्ठ नहीं होगे, तो वह समाज जीवित नहीं रह पाएगा और उसके अभाव मे उसकी सभ्यता का भी शीघ्र अन्त हो जायेगा क्योकि सभ्यताओ का उत्थान पतन उनके द्वारा व्यक्ति के विकास पर दिए जाने वाले यत्न पर ही सम्भव होता है। अत: मुखर्जी का मानना है कि किसी समाज को जीवित रहने के लिए नियमित रूप से व्यक्तित्व के सर्वोच्च मूल्यो की पूर्णता का प्रयास करनी चाहिए।

सामाजिक मूल्यों का महत्त्व या कार्य
(Importance or Functions of Values)

मुखर्जी के मत मे समाज और व्यक्ति के जीवन मे मूल्यो का अत्यधिक महत्त्व है। उनके अनुसार भौतिकशास्त्र के लिए गति और गुरुत्वाकर्षण का जो महत्त्व है व शरीर विज्ञान के लिए पाचन-प्रक्रिया और रक्त-सचार का जो महत्त्व है, वही महत्त्व सामाजिक विज्ञानो के लिए मूल्यो का है। मूल्यो को समाज से पृथक् नहीं किया जा सकता। मुखर्जी कहते हैं, **"समाज मूल्यो का एक संगठन एवं संकलन है।"** सामाजिक क्रिया मे सामूहिक अनुभव होते हैं, जिनका निर्माण—व्यक्तिगत एव सामाजिक—दोनो ही प्रकार की मनोवृत्तियो और प्रत्युत्तरो द्वारा होता है। ये मूल्य समाजो का निर्माण करते हैं और सामाजिक सम्बन्धो को सगठित भी करते हैं।

मुखर्जी का मत है कि यदि कोई समाज अपने अस्तित्व को बचाए रखना चाहता है, तो उसे व्यक्तित्व के सर्वोच्च मूल्यों की पूर्ति अवश्य करनी चाहिये। मानव कल्याण के लिए भी मूल्यों का पालन एवं संरक्षण अत्यावश्यक है। समाज में एकता, संगठन एवं नियन्त्रण भी मूल्यों द्वारा ही सम्भव होता है। मूल्यों के अभाव में समाज का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। मुखर्जी के मतानुसार मूल्यों का महत्त्व अथवा कार्य निम्नलिखित हैं—

(1) व्यक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण (Important for the Individual)—व्यक्ति के जीवन में मूल्यों का अत्यधिक महत्त्व है। मुखर्जी का कहना है कि मूल्य मनुष्य के सामाजिक जीवन के अनुरूप स्थिर और संगतपूर्ण तरीके से उसके आवेगों एवं इच्छाओं को संगठित करके, व्यक्ति के उद्विकास और चयन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य की स्वकेन्द्रित, तात्कालिक तथा अस्थिर आवश्यकताओं को एक स्थाई मानसिक समूहों में रूपान्तरित किया जाता है। हॉब्स के शब्दों में जिसके बिना जीवन घिनावना, पशुवत् एवं संक्षिप्त बन जायेगा। व्यक्ति मूल्यों के आधार पर ही अपनी सामाजिक परिस्थितियों से सरलता से अनुकूलन कर लेता है। मूल्यों के कारण ही व्यक्ति समूह के अंग के रूप में स्वयं को मानने लगता है। इस प्रकार व्यक्ति को जीवन-मूल्यों के कारण ही अर्थपूर्ण माना जा सकता है। व्यक्तित्व के निर्माण तथा संगठन में भी मूल्यों का अत्यधिक महत्त्व है।

(2) समाज में एकरूपता उत्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण (Important in bringing Unanimity in the Society)—व्यक्ति समाज में प्रचलित मूल्यों के अनुसार ही आचरण करते हैं इसके परिणामस्वरूप सभी के व्यवहारों में एकरूपता आ जाती है। इस प्रकार मूल्य समाज में एकरूपता को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं।

(3) समाज के आदर्श विचारों व व्यवहारों के निर्धारक (Determinant of Ideal Values and Behaviour for the Society)—मूल्य समाज के विचारों व व्यवहारों का निर्धारण करते हैं क्योंकि सामाजिक मूल्यों में आदर्श निहित होते हैं। इन्हें सामाजिक स्वीकृति व मान्यता प्राप्त होती है, इसलिए सामाजिक मूल्यों को आदर्श विचारों व व्यवहारों का प्रतीक माना गया है।

(4) व्यक्तित्व के निर्माण तथा संगठन में सहायक (Helpful in the Devecopment and Organisation of the Personality)—सामाजिक मूल्य व्यक्तित्व के निर्माण और संगठन के लिए भी महत्त्वपूर्ण हैं। मुखर्जी के मतानुसार मूल्य व्यवस्था व्यक्तित्व की संरचना को परिभाषित एवं नियन्त्रित करती है और इसके बदले में व्यक्ति अपने आचरणों द्वारा मूल्यों की परिशुद्धि और उनका परिमार्जन करता है। इस प्रकार दोनों के आपसी सम्बन्ध के कारण ही मूल्यों में परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं परिमार्जन होता रहता है।

(5) भौतिक संस्कृति के महत्त्व को बढ़ाने वाले (Increas the inportance of the Material Culture)—सामाजिक मूल्य भौतिक संस्कृति, जैसे—कार, मकान, टेलीफोन व टेलीविजन आदि के लिए भी महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि इनसे सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है। सामाजिक मूल्य इन भौतिक वस्तुओं को उपयोगी एवं प्रतिष्ठासूचक मानते हैं।

(6) सामाजिक क्षमता का मूल्याकन (Evaluation of Social Potentiality)—मूल्य ही समूह और व्यक्ति की क्षमता का मूल्याँकन करते है। इन मूल्यो क आधार पर ही व्यक्ति यह जानने म सक्षम होते हे कि दूसरे लोग उन्हे किस दृष्टि से देखते हें अथवा सस्तरण मे वे कहाँ स्थित हे।

(7) सामाजिक नियन्त्रक (Social Controller)—मुखर्जी का मत है कि सामाजिक मूल्य सामाजिक नियन्त्रण मे सहायक होते हे। मूल्यो म आदेश सूचक और अनिवार्यता के तत्त्व होते हैं जिन्हे समाज मे प्रचलित जनरीतियो प्रथाओ और नैतिक नियमो के कारण बल मिलता रहता है। परिणामस्वरूप समाज द्वारा विपरीत आचरण करने वालो को दण्ड एव समाज के अनुरूप आचरण करने वालो को पुरस्कार की व्यवस्था की जाती है।

(8) अनुरूपता और विपथगमन को स्पष्ट करते है (Specify unanimity and Devpation)—जो व्यवहार सामाजिक मूल्यो के अनुकूल होते हैं, उन्हे अनुरूपता और इनके विपरीत व्यवहारो को विपथगमन कहा जाता है। सामाजिक मूल्य, सामाजिक अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं और कोई भी समाज इनके उल्लघन की आज्ञा नहीं देता, ऐसा करने वाले को दण्डित किया जाता है। इस प्रकार सामाजिक मूल्य सामाजिक विघटन को रोकने के लिए और सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए आवश्यक हैं।

(9) सामाजिक संगठन और एकीकरण के लिए महत्त्वपूर्ण (Important for Social organisation and Integration)—सामाजिक मूल्य समाज मे सगठन और एकीकरण को जन्म देते हैं। व्यक्ति समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहारो के अनुसार आचरण करते हैं तो उससे समाज मे एकीकरण व सगठन बना रहता है—समाज मे समान आदर्शों, व्यवहारो एव मूल्यो को स्वीकार करने के कारण सामुदायिक भावना का जन्म होता है। समान मूल्यो को स्वीकार करने वाले अपने आपको निकट का मानते हैं अत: परस्पर सहयोग करते हैं उससे समाज मे भी सगठन बना रहता है।

मुखर्जी का मानना है कि सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षो से सम्बन्धित मूल्यों मे एक प्रकार्यात्मक सम्बन्ध होता है, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक सम्बन्धो मे तालमेल बना रहता है और समाज मे व्यवस्था और सन्तुलन बना रहता है। उदाहरणार्थ—परिस्थितिगत स्तर पर प्राकृतिक साधनो के उपयोग सम्बन्धी मूल्य होते हैं, आर्थिक स्तर पर—आय का वितरण, समाज कल्याण व जीवन-स्तर से सम्बन्धित मूल्य होते हैं, राजनैतिक स्तर पर समानता, सत्ता व स्वतन्त्रता आदि से सम्बन्धित मूल्य होते हैं, वैधानिक स्तर पर न्याय, समानता, स्वतन्त्रता व सुरक्षा आदि से सम्बन्धित मूल्य होते हैं। उसी भाँति सामाजिक स्तर पर सामाजिक सगठन एव व्यवस्था से सम्बन्धित मूल्य होते हैं। नैतिक स्तर पर सहयोग, सहानुभूति, प्रेम व न्याय आदि से सम्बन्धित मूल्य होते हैं—*इस प्रकार मुखर्जी के मत मे सुसस्कृत समाज का प्रथम लक्षण सर्वश्रेष्ठ मूल्य ही* होते हैं। मूल्यो के साथ सामाजिक विज्ञानो के प्रकार्यात्मक सम्बन्ध को निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

सामाजिक विज्ञानों के प्रकार्य और मूल्य

क्र सं	सामाजिक विज्ञान	प्रकार्य	संस्थानिक मूल्य
1	मानवीय परिस्थितिकी	प्रभुत्व, आरक्षण, मातत्य	उपयुक्तता
2	मनोविज्ञान	व्यवहार	समग्रता
3	समाज विज्ञान	सम्प्रेषण और प्रस्थिति	संगठनात्मक एकता
4	अर्थशास्त्र	विकल्प चयन	जनकल्याण
5	राजनैतिकशास्त्र	स्वतन्त्रता एव नियन्त्रण	समानता
6	न्यायशास्त्र	सुरक्षा, सामाजिक सम्बन्ध	सुरक्षा
7	नीतिशास्त्र	नैतिक मूल्यों का उत्थान	निःस्वार्थता

मुखर्जी ने व्यक्ति, समाज और मूल्य में पाए जाने वाले पारस्परिक सम्बन्धों को दर्शाने के लिए दीपक की बत्ती, तेल और ज्योति का उदाहरण प्रस्तुत किया है। जिसमें व्यक्ति को बत्ती, समाज को तेल और मूल्यो को ज्योति कहा गया है। तेल (समाज) के बिना बत्ती (व्यक्ति) अधूरी है, और ज्योति (मूल्यों) के बिना बत्ती और तेल (व्यक्ति और समाज) निरर्थक हैं। अर्थात् मूल्य ही अन्ततोगत्वा व्यक्ति और समाज के जीवन में ज्योति लाते हैं। मुखर्जी का कहना है कि *"मनुष्य और समाज—तैरती हुई बत्ती और गहरे तेल के बीच चलने वाले अनन्त आदान-प्रदान से मूल्य अनुभव की उजली, स्थिर ज्योति पनपती है, जो कि हमारे नीरस और निरानन्द विश्व को निरन्तर प्रकाशित करती रहती है।"*

मुखर्जी के मतानुसार यदि समाज अपने अस्तित्व को बनाए रखना चाहता है तो यह आवश्यक है कि वह सर्वोच्च मूल्यों की नियमित पूर्ति करता रहे। व्यक्तित्व की सर्वोत्तम खोज सुन्दरता, अच्छाई और प्रेम के उच्चतर आध्यात्मिक मूल्य (Higher Spiritual Values of Beauty, Goodness and Love) हैं। इन्हीं के आधार पर संस्थाओं की सृष्टि और पुनःसृष्टि होती है। अतः सम्पूर्ण मानव-समाज और मानव-कल्याण के लिए मूल्य अति महत्वपूर्ण हैं।

मूल्य और विमूल्य
(Values and Disvalues)

राधाकमल मुखर्जी ने मूल्यों के साथ-साथ विमूल्यों का भी उल्लेख किया है। आपने नकारात्मक मूल्यों को ही विमूल्य या अपमूल्य कहा है—मुखर्जी का कहना है कि सामाजिक व्यवहार के सभी आयामों में मूल्यों के साथ विमूल्य भी उपस्थित रहते हैं। सामाजिक मान्यताओं की अवमानना

करना अथवा सामाजिक मूल्यो का उल्लघन करना ही विमूल्य कहलाता है। अपराध, भ्रष्टाचार, द्वेष, हिसा, विघटन व शोषण आदि विमूल्य ही हैं। विमूल्यो की उत्पत्ति सामाजिक जीवन मे बुराइयो के फलस्वरूप होती है।

मूल्य और विमूल्य मे अन्तर स्पष्ट करते हुए मुखर्जी का मानना है कि 'सत्य की सदा विजय होती है' यह एक श्रेष्ठतम मूल्य का उदाहरण है, किन्तु 'राजनीति मे कुछ भी अनुचित नहीं होता है' यह विमूल्य का उदाहरण है। 'क्षमा कर देना ही सबसे बड़ी मजा है' यह मूल्य है किन्तु 'खून का बदला खून' यह विमूल्य है। 'परिश्रम का फल मीठा होता है' यह एक उच्चतर मूल्य है, किन्तु 'जिओ और जीने दो' यह विमूल्य का उदाहरण है। इस प्रकार व्यक्ति मूल्यों की अवहेलना करके विमूल्यों को स्वीकार कर लेता है। वैयक्तिक स्तर पर बेईमानी, हिसा, घृणा व अवहेलना आदि विमूल्यो के उदाहरण हैं। "अपने पडोसी से प्रेम करो" सामाजिक मूल्य है, जबकि "दुष्ट के साथ दुष्टता का व्यवहार करो" विमूल्य का उदाहरण है। इसी प्रकार हिसा, शोषण, साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद, भाषावाद और राजद्रोही गतिविधियाँ आदि विमूल्यो के उदाहरण हैं। विमूल्य उन सस्थाओ या व्यवहारो के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं, जो कानून और सामाजिक सहिताओ की अवमानना करते हैं।

मुखर्जी के मतानुसार विमूल्यो की उत्पत्ति तीन कारणो से होती है—

(1) शारीरिक अथवा जैविकीय आवश्यकताएँ (Physical or Biological Necessities)—विमूल्यो की उत्पत्ति का प्रथम कारण जैविकीय है। जब व्यक्ति अपनी आवश्यक आवश्यकताओ, जैसे—भोजन, आवास और वस्त्र आदि की भी पूर्ति नहीं कर पाता अर्थात् शारीरिक कष्ट, कुपोषण, सुविधाओ का अभाव, अभिवृद्धि मे बाधा, वस्त्र व आवास की अपर्याप्तता, बीमारी व सुरक्षा का अभाव आदि असुविधाएँ उसे सताती हैं तो विमूल्यो की उत्पत्ति होती है।

(2) मानसिक आवश्यकतायें (Mental Necessities)—मानसिक आवश्यकताओ की समुचित पूर्ति न होने पर भी विमूल्यो की उत्पत्ति होती है। जब व्यक्ति की प्रेम, प्रतिष्ठा, प्रस्थिति एव सुरक्षा विषयक मौलिक आवश्यकताओ की पूर्ति मे बाधा उत्पन्न होती है, तो उस स्थिति मे वह मानसिक तनावो एवं सघर्षों का शिकार हो जाता है। क्योंकि मनोवैज्ञानिक आधार पर आत्मसन्तोष के लिए इनकी पूर्ति आवश्यक होती है—इसके अभाव मे व्यक्ति में कृत्रिम एव विकृत मूल्य विकसित हो जाते हैं, जो उसकी इच्छाओ और आकाक्षाओ को पथभ्रष्ट तरीको से पूर्ति करते हैं—यही विमूल्य होते हैं।

(3) सामाजिक आवश्यकतायें (Social Necessities)—सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति न होने पर भी विमूल्यो की उत्पत्ति हो जाती है। जब व्यक्ति के समक्ष सघर्षात्मक स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं तो वह उनको सहन करने अथवा भुलाने के लिए गलत रास्ते अपनाता है। शराब पीना, पारिवारिक सन्तुलन मे बाधा डालना आदि स्थितियाँ समाज मे विघटन पैदा करती हैं—क्योंकि जब व्यक्ति अपने दुःख-दर्द को भुलाने के लिए अत्यधिक शराब का सेवन करता है तो इससे उसके परिवार की सुख शान्ति भंग होती है, आर्थिक कष्ट होता है और स्वास्थ्य भी

खराब हो जाता है—इन सबसे पारिवारिक और फिर सामाजिक सन्तुलन विकृत हो जाता है—उसमें उत्पन्न समस्याएँ समाज में विमूल्यों को विकसित करती हैं। इस प्रकार आवश्यकताओं का अभाव ही विमूल्यों का कारण होता है।

मुखर्जी के मत में विमूल्यों की वृद्धि से समाज में वैयक्तिक एवं सामाजिक एकीकरण की व्यवस्था की जा सकती है तथा रचनात्मक उपायों में विकृत व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों के लिए पुनर्ग्राम जैसे उपायों को लागू किया जा सकता है। इस प्रकार मूल्यों को लोगों की आकांक्षाओं के अनुरूप बनाना आवश्यक है।

सुधारात्मक उपायों में विचलित व्यवहार वाले व्यक्तियों के लिए सामाजिक एकीकरण की व्यवस्था की जा सकती है तथा रचनात्मक उपायों में विकृत व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों के लिए पुनर्ग्राम जैसे उपायों को लागू किया जा सकता है। इस प्रकार मूल्यों को लोगों की आकांक्षाओं के अनुरूप बनाना आवश्यक है।

प्रादेशिक समाजशास्त्र
(Regional Sociology)

"रीजनल सोशियोलोजी" (1926) मुखर्जी की प्रसिद्ध कृति है जिसमें उन्होंने प्रादेशिकता के विषय में अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि किसी प्रदेश की प्राकृतिक विशेषताएँ वहाँ के वासियों की मनोवृत्तियों, प्रथाओं, आचारों, संस्थाओं और चरित्र को बनाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। आपने प्रादेशिक अर्थशास्त्र को ऐसे विज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसका सम्बन्ध एक भौगोलिक क्षेत्र का मानव व्यवहार और मानव जीवन के बीच पाए जाने वाले प्रकार्यात्मक सम्बन्धों के अध्ययन से है। इसमें विभिन्न प्रदेशों के लोगों के सामाजिक जीवन और उनके व्यवहारों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया जाता है। वे प्रादेशिकता को भी मानव-व्यवहार की एक विशेष अभिव्यक्ति मानते हैं जो अपने क्षेत्र विशेष की परिस्थितियों द्वारा प्रभावित, नियंत्रित और निर्देशित होती है। इस प्रकार प्रादेशिक समाजशास्त्र भी विज्ञान की एक शाखा है।

मुखर्जी प्रादेशिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत निम्नलिखित पक्षों का अध्ययन करने पर जोर देते हैं—

(i) प्रादेशिक जीवन के जाल का अध्ययन।

(ii) प्रदेश तथा प्रादेशिक समूह के सन्दर्भ में मानव परिस्थितिकी का अध्ययन।

(iii) सामाजिक प्ररूपों के प्रादेशिक आधार का अध्ययन।

(iv) आर्थिक एवं सामाजिक प्ररूपों के बीच अनुकूलन का अध्ययन।

(v) राजनैतिक सम्बन्धों पर आर्थिक परिस्थितियों के प्रभाव का अध्ययन, तथा,

(vi) प्रादेशिक समाजशास्त्र की प्रवृत्तियों का अध्ययन।

मुखर्जी के विचार में प्रत्येक प्रदेश वहाँ के निवासियों के लिए एक विशिष्ट पर्यावरण को प्रस्तुत करता है, जो समान तथा स्थिर होता है। साथ ही प्रत्येक प्रदेश स्पष्टतया पहचाने जाने

वाली विशिष्ट प्रकार की सरचनाओं को जन्म देता है, तथा विशिष्ट सामाजिक प्ररूपों को भी जन्म देता है। इस प्रकार मुखर्जी अपने इस नवीन विज्ञान मे प्रदेश के लोगो को एक साँचे के रूप मे स्वीकारते हैं।

प्रादेशिक समाजशास्त्र के सन्दर्भ म मुखर्जी तीन सिद्धान्तो को स्वीकार करते हैं।

(1) एक प्रदेश विशेष का प्रभाव सामाजिक, राजनैतिक आर्थिक एव वैधानिक सस्थाओ पर सामान्य रूप से पडता है, इस कारण प्रादेशिक समाजशास्त्र इन सभी सस्थाओ को परस्पर घुली-मिली मानता है।

(2) प्रादेशिक समाजशास्त्र का कार्य-स्थान, कार्य और जनता (Space, Work and Folk) के पारस्परिक सम्बन्धो का अध्ययन करना और उनके निष्कर्षों से नगरों और प्रदेशा म पाए जाने वाले नवीन जीवन का अध्ययन करना है।

(3) प्रादेशिक समाजशास्त्र जो सामाजिक अनुसन्धान करता है, उसका आधार सामाजिक मनोविज्ञान और सामाजिक मानवशास्त्र के ज्ञान पर निर्भर करता है।

इससे निष्कर्ष निकलता है कि मुखर्जी अपने प्रदेश के साथ मानव का मात्र प्राकृतिक ही नहीं, अपितु मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध भी मानते हैं। क्योंकि व्यक्ति को अपने जन्म-स्थान के प्रति अपनत्व एव लगाव होता है इसी कारण वह वहाँ की भाषा, रहन सहन, रीति-रिवाज, खान-पान, जीवन का तरीका, शिल्पकला व सस्कृति को सरलता से ग्रहण कर लेता है और उस जीवन से अपना समायोजन शीघ्रता से कर लेता है। व्यक्ति का जन्म-स्थल ही उसकी प्रथम पाठशाला होती है। प्रदेशो के मानव की सम्पूर्णता पर प्रभाव का अध्ययन करना प्रादेशिक समाजशास्त्र का लक्ष्य है। यद्यपि आधुनिक समय की परिस्थितियाँ मानव-जीवन को विषम बनाती जा रही हैं, फिर भी प्रदेश का प्रभाव उस पर विद्यमान है।

आर्थिक दृष्टि से देखें तो प्रत्येक प्रदेश का आर्थिक विकास और अवरोध दो कारणो से प्रभावित रहा है।

(i) उस क्षेत्र में प्राप्त प्राकृतिक सम्पदा और साधन, तथा

(ii) उस सम्पदा का उपयोग करने की मानव की क्षमता और सगठन का स्तर। कृषि अथवा उद्योग, पशुपालन आदि सभी आर्थिक विकास के साधन मानव की सामाजिक, साँस्कृतिक, आर्थिक व मानसिक गतिविधियो को प्रभावित करते हैं और मानव को अपने प्रदेश की जलवायु, पशु-पक्षी, वनस्पति व खनिज पदार्थ आदि से अनुकूलन करना पड़ता है। यद्यपि आज विज्ञान के प्रभाव व नवीन आविष्कारों ने पर्यावरण के प्रभाव को क्षीण कर दिया है जो कि कुछ समय पूर्व तक अत्यधिक रूप में था।

मुखर्जी का मानना है कि प्रदेश विशेष मे एक विशिष्ट सस्कृति जन्म लेती है जिसका कारण पर्यावरण और सामाजिक कारणो के बीच की अन्तःक्रिया होता है। प्रत्येक प्रदेश की सस्कृति अलग होती है और इसके कारण कोई भी दो प्रदेश परस्पर भिन्नता लिए हुए होते हैं। यह भिन्नता उन्हें राष्ट्र की मुख्यधारा से अलग कर देती है जिसके कारण प्रान्तवाद अथवा सकुचित प्रादेशिकता की भावना विकसित होती है। यह सकुचित प्रादेशिकता की भावना अपने प्रदेश की भाषा और

संस्कृति को श्रेष्ठ और अन्य को हीन मानती है। परिणामस्वरूप उस प्रदेश के लोग अपने लिए राजनैतिक और आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त करने का प्रयास करते हैं और राष्ट्रीय हितों को कोई महत्त्व नहीं देते। परिणाम यह होता है कि प्रादेशिक भक्ति तो बढ़ती जाती है और राष्ट्रवाद की भावना कमजोर होती जाती है।

अत: मुखर्जी की मान्यता है कि जब प्रदेशवाद की भावना बलवती हो जाती है तो वह नियंत्रण के बाहर हो जाती है और एक विद्रोह के रूप में उभरती है। ऐसी स्थिति से बचने के लिए आवश्यक है कि उसे सृजनात्मक एवं रचनात्मक कार्यों में लगाया जाए।

सामाजिक पुनर्निर्माण
(Social Reconstruction)

मुखर्जी ने सामाजिक पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में भी अपने महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किए व इसके लिए एक योजना प्रस्तुत की है। मुखर्जी का कहना है कि जब समाज में सामाजिक विघटन उत्पन्न हो जाता है, अव्यवस्था हो जाती है अथवा संघर्ष की स्थिति आ जाती है तो ऐसी समस्यात्मक स्थिति में सामाजिक पुनर्निर्माण की आवश्यकता होती है जिससे समाज को पुनः संगठित किया जा सके, किन्तु सामाजिक पुनर्निर्माण सभी समाजों पर समान रूप से लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्येक समाज की समस्याएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। आधुनिक समय में समाजों में व्याप्त पक्षपात, घृणा, सन्देह आदि के कारण समस्याओं की अधिकता हो गई है। परिणामस्वरूप असन्तुलन एवं विघटन की स्थिति उत्पन्न हो गई है। मानव में अहंवाद व आक्रामक व्यवहार की अधिकता हो गई है। इन सभी समस्याओं के निराकरण के लिए सामाजिक पुनर्निर्माण की अतीव आवश्यकता है। मुखर्जी के अनुसार सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक सभी क्षेत्रों में पुनर्निर्माण निम्नलिखित रूप से हो सकता है।

(i) सामाजिक क्षेत्रों में पुनर्निर्माण (Reconstruction in Social Field)—वर्तमान समय में औद्योगीकरण, नगरीकरण, पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव बढ़ रहा है, इसका प्रभाव यह हुआ है कि अब समाज के मूल्यों में अनेक परिवर्तन हो रहे हैं। मानव-मनोवृत्ति व आदतें भी बदल रही हैं। समाज का नियंत्रण ढीला होता जा रहा है। इसका प्रभाव परिवार व जाति प्रथा पर भी पड़ रहा है। जाति प्रथा समाप्त हो रही है। ग्रामीण-समुदायों का ह्रास हो रहा है, संयुक्त परिवार समाप्त हो चले हैं। इन सबका प्रभाव सामाजिक जीवन पर भी पड़ रहा है, सामाजिक क्षेत्रों में पुनर्निर्माण के अन्तर्गत उन कारणों की खोज करनी होगी जो सामाजिक जीवन को प्रभावित कर रहे हैं व उनमें सन्तुलन ला रहे हैं। पुनर्निर्माण के दृष्टिकोण से इन समस्याओं को सुलझाना आवश्यक है। परिवर्तन के कारण जो समस्याएँ आ गई हैं उनको दूर करके परिवार व समाज के आदर्शों, मूल्यों को विकसित करना आवश्यक है जिससे सामाजिक अनुकूलन हो सके। साथ ही ऐसे नियमों को विकसित करना आवश्यक है जो समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर कर सके।

(ii) आर्थिक क्षेत्र में पुनर्निर्माण (Reconstruction in Economic Field)— आर्थिक दृष्टिकोण से भी पुनर्निर्माण की अतीव आवश्यकता है, इसके लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किए जा सकते हैं, जैसे—ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि और उद्योगों का आधुनिकीकरण किया जाना आवश्यक

है। ग्रामीण क्षेत्रो मे शिक्षा का अधिकाधिक विकास करना आवश्यक है तथा समाज की अनेक कुरीतियो, जैसे—दहेज, बालविवाह, पर्दाप्रथा व विधवा पुनर्विवाह निषेध आदि के विरुद्ध जनमत तैयार किया जाना चाहिए। नगरो मे श्रमिक और पूँजीपतियो के सम्बन्धो मे सुधार, श्रमिको को शोषण-मुक्त कराकर उन्हे उनके अधिकारो को दिलवाना आवश्यक है। श्रमिको के लिए सामाजिक कल्याण व सुरक्षा आदि की सेवाएँ उपलब्ध कराई जानी चाहिए।

(iii) **राजनैतिक पुनर्निर्माण** (*Political Reconstruction*)—मुखर्जी राजनैतिक पुनर्निर्माण के अन्तर्गत **'मानव जाति के राष्ट्रमण्डल'** की स्थापना करने का सुझाव देते हैं जिससे विभिन्न राष्ट्रो के मध्य विवादो को निपटाने, प्रतिस्पर्द्धा को कम करने, गलतफहमियों को दूर करने और राष्ट्रो मे परस्पर भाई चारे की भावना पैदा करने का कार्य हो सके। इससे राष्ट्रो के बीच का सघर्ष कम होगा और सभी राष्ट्र समान रूप से शक्तिशाली बन सकेगे किन्तु इन सबके लिए कुछ राजनैतिक मूल्यो का विकसित करना आवश्यक है, यथा—प्रत्येक देश अपने पड़ोसी देश के अधिकारो एव कर्त्तव्यो को स्वीकारे तथा समानता, स्वतन्त्रता, न्याय, राजभक्ति और सत्ता आदि के मूल्यो को अपनाए। इससे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी सहयोग और न्याय की वृद्धि होगी व विश्वस्तर पर सबकी उन्नति होगी।

(i) **औद्योगिक पुनर्निर्माण** (Industrial Reconstruction)—मुखर्जी का मानना है कि औद्योगिक क्षेत्र मे मशीनों की सहायता से उत्पादन मे वृद्धि की जाए किन्तु श्रमिको का आर्थिक शोषण न हो, न ही उनकी छँटनी की जाए। इस प्रकार मुखर्जी मशीनो का विरोध नहीं करते किन्तु वे श्रमिक और मशीनो के मध्य ऐसा तालमेल चाहते हैं जिससे श्रमिको का शोषण भी न हो और उत्पादन मे वृद्धि हो सके। श्रमिको को उनकी सेवा का उचित भुगतान मिल सके, जिससे वे सुखी रह सके।

मुखर्जी पाश्चात्य देशो की नकल का भी विरोध करते हैं क्योकि वहाँ का पर्यावरण यहाँ से भिन्नता लिए हुए है। अतः पाश्चात्य देशो की नकल करके हम अपनी आर्थिक व सामाजिक परम्पराओ की अवहेलना ही करेंगे, जो देश की उन्नति मे बाधक होगी।

इस प्रकार मुखर्जी ने अपनी रचनाओ के माध्यम से यह कहना चाहा है कि आज जो मूल्यो का ह्रास हो रहा है, जीवन शैली मे बदलाव आ रहा है, उसमे व्यक्ति की क्या भूमिका होनी चाहिए। मुखर्जी समाज-विज्ञान के अग्रज रहे हैं, वे ऐसे समाज-विचारक रहे हैं जिनके विचारो का महत्त्व सर्वव्यापी है। वे एक दार्शनिक, विचारक, रहस्यवादी एव समाज वैज्ञानिक के रूप मे सर्वमान्य रहे हैं।

सामाजिक पारिस्थितिकी
(Social Ecology)

राधाकमल मुकर्जी ने विश्वविख्यात पुस्तक 'Social Ecology' सन् 1945 में लिखी थी। आप लखनऊ विश्वविद्यालय मे अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र विभाग के अध्यक्ष थे। मूलतः आप अर्थशास्त्री थे। आपने अर्थशास्त्र के अतिरिक्त समाजशास्त्र मे भी पुस्तकें एव अनेक लेख लिखे थे। आपकी पुस्तक Regional Sociology भी समाजशास्त्र मे एक महत्त्वपूर्ण योगदान

है। आपने अनेक पुस्तकों एवं लेखों मे समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के मतभेदों को कम करने एवं इनमें परस्पर निकटता लाने का प्रयास किया है। सामाजिक पारिस्थितिकी (Social Ecology) कृति में भी आपने इसी उद्देश्य को पूर्ण करने के साथ-साथ जीव विज्ञान, पर्यावरण, परिस्थिति विज्ञान के अनेक उदाहरण देकर इनमें परस्पर सम्बन्धों तथा निर्भरता पर भी प्रकाश डाला है। राधाकमल मुकर्जी की इस पुस्तक '**सामाजिक परिस्थितिकी**' मे कुल पन्द्रह अध्याय हैं। इसके अतिरिक्त पुस्तक में भूमिका एवं अनुक्रमणिका भी दी गई है। आपने पुस्तक की भूमिका में विस्तार से परिस्थितिकी एवं समाजशास्त्र के परस्पर सम्बन्धों, अन्तर तथा परस्पर निर्भरता पर प्रकाश डाला है। पुस्तक में जो विषय लिए गए हैं वे अध्यायवार क्रम से निम्न प्रकार हैं— अध्याय I समाज और सहजीवितता, II प्रतिस्पर्धा और विशेषीकरण की सीमाएँ, III प्रभुत्व और दूरी के प्रकार्य, IV पारिस्थितिक एवं सामाजिक पिरामिड, V मानवीय समूहन की गतिशीलता एवं परिचालन, VI जनसंख्या का पारिस्थितिक सतुलन, VII प्रस्थिति—पारिस्थितिक और सामाजिक, VIII मानव की सामाजिक और नैतिक सीमाएँ, IX पारिस्थितिक एवं सामाजिक गतिशीलता, X समय, तकनीक एवं समाज; XI सामाजिक गतिशीलता की स्वतंत्रता, XII पारिस्थितिक एव सामाजिक सगठन के सांस्कृतिक प्रतिमान, XIII आर्थिकी के पीछे पारिस्थितिकी, XIV राजनीति के पीछे पारिस्थितिकी, और XV सामाजिक सतुलन।

पुस्तक का उद्देश्य
(Aim of the Book)

राधाकमल मुकर्जी का इस पुस्तक को लिखने का उद्देश्य सामाजिक पारिस्थितिकी की अवधारणाओं का वैज्ञानिक वर्गीकरण करना, और ऐसी वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति का विकास करना रहा है जिसके द्वारा सामाजिक पारिस्थितिकी को नवीन प्रकार्यात्मक और परिमाणात्मक समाजशास्त्र का आधार बनाया जा सके। मुकर्जी ने इस कृति में प्रमुख पारिस्थितिकी-अवधारणाओं और प्रक्रियाओं को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जो समाजशास्त्र के ढाँचे को पुनःनिश्चित करने में सहायक हो सकेगा। मुकर्जी के अनुसार, समाजशास्त्र के अध्ययन की भौतिक इकाई, क्षेत्र होती है। क्षेत्र एक प्रकार से व्यक्तियों का पारिस्थितिकी समूहन है, एक आर्थिक ढाँचा और सांस्कृतिक व्यवस्था है। आपने लिखा है, "एक अर्थ में, इस पुस्तक को तुलनात्मक सामाजिक पारिस्थितिकी को लिखने का एक प्रयास माना जाए जिस पर तुलनात्मक अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र की आधारशिला स्थित है।" आपकी मान्यता है कि—प्रदेश, जनसंख्या और समाज-तीन पृथक् कारक नहीं हैं। ये परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं और एक स्वाभाविक प्राकृतिक सन्तुलन बनाते हैं। प्रत्येक को दूसरे के सन्दर्भ में समझना चाहिए।

सामाजिक पारिस्थितिकी का क्षेत्र
(Scope of Social Ecology)

राधाकमल मुकर्जी ने सामाजिक पारिस्थितिकी का क्षेत्र स्पष्ट करते हुए लिखा है, "सामाजिक पारिस्थितिकी का क्षेत्र मानव की सामाजिक संरचनाओं और कार्यों का व्यवस्थान, प्रदेश, व्यवसाय और समाज की अन्तःक्रिया की प्रक्रियाओं—पर्यावरण के प्रकार्य और जीव के समाजशास्त्रीय सम्पर्क—जिनमे सभी सामाजिक घटनाएँ उत्पन्न होती हैं का अध्ययन करना है।"

प्रमुख अवधारणाएँ
(Major Concepts)

मुकर्जी ने अपनी कृति मे सामाजिक पारिस्थितिकी तथा इससे सम्बन्धित निम्न प्रमुख अवधारणाओ की परिभाषाएँ दी है—

(1) सामाजिक पारिस्थितिकी (Social Ecology)—मुकर्जी के अनुसार, सामाजिक पारिस्थितिकी स्थान, व्यवसाय और समय व्यक्तियो और समूहो की प्रतिस्पर्धा सहयोग, संघर्ष व्यवस्थान और उत्तराधिकार की प्रक्रियाओं के सम्बन्धो का अध्ययन करती है। दूसरी ओर समाज व्यक्ति का सीमित पर्यावरण मे संख्या वृद्धि के लिए पारिस्थितिक अनुकूलन है और इसीलिए सभी मानवीय अन्तःक्रियाओ को व्याख्या पारिस्थितिकी प्रक्रिया के द्वारा की जा सकती है।

मुकर्जी ने सामाजिक पारिस्थितिकी का समाज से सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए लिखा है, "सामाजिक पारिस्थितिकी समाज को मानव की जनसख्या वृद्धि के प्रति अनुक्रिया मानती है, जो श्रम के विभाजन और सामाजिक सगठन की पहल एव सुधार करती है और उपकरणो की सम्पदा, व्यवसायो, जीवन के प्रतिमानो और परम्पराओ का संधारण करती है। प्रत्येक क्षेत्र मे समाजशास्त्र के अन्वेषण की इकाई समुदाय होती है न कि मानव, सम्बन्ध होते है न कि व्यक्ति। मानव सम्बन्ध परिस्थितियो और संस्कृति से व्यवस्थान का प्रतिनिधित्व करते हैं।

(2) मानव पारिस्थितिकी (Human Ecology)—मुकर्जी ने मानव पारिस्थितिकी के सम्बन्ध मे लिखा है, "सामाजिक पारिस्थितिकी पर्यावरण से मानव के व्यवस्थान के स्वरूप और प्रक्रिया का अध्ययन करती है।" मानव परिस्थितिकी की दो उप शाखाएँ हैं— (1) संपारिस्थितिकी और (2) स्वपारिस्थितिकी। आपने इन दो उप शाखाओ का वर्णन इस आधार पर किया है कि पारिस्थितिकी या पर्यावरण के कारक—व्यक्ति एवं समुदाय—दोनो को प्रभावित करते हैं।

2.1 संपारिस्थितिकी या सामुदायिक पारिस्थितिकी (Synecology)—मुकर्जी ने मानव पारिस्थितिकी के समुदाय पक्ष को सामुदायिक पारिस्थितिकी या सपारिस्थितिकी कहा है। इसमे पर्यावरण सम्बन्धी कारको का प्रभाव समुदाय पर तथा समुदाय की पर्यावरण के प्रति प्रतिक्रिया का क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है। मुकर्जी का कहना है, मानव पारिस्थितिकी के सामुदायिक पक्ष को भी सामुदायिक पारिस्थितिकी कह सकते है। इसके अन्तर्गत मानव जीवशास्त्र, मानव भूगोल, अर्थशास्त्र, समाज मनोविज्ञान तथा तकनीकी के साथ पारिस्थितिकी की अन्तःक्रिया के कारण प्राप्त अन्तःवैज्ञानिक दृष्टिकोण आते हैं। सामाजिक प्रगति को पारिस्थितिकी या पर्यावरण सम्बन्धी कारक प्रभावित करते हैं। इनका अध्ययन लाभकारी है।

2.2 स्वपारिस्थितिकी या वैयक्तिक पारिस्थितिकी (Autecology)—स्वपारिस्थितिकी पर्यावरण सम्बन्धी कारको के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया का अध्ययन करती है। मुकर्जी ने लिखा है कि स्वपारिस्थितिकी व्यक्ति का अध्ययन पर्यावरण, भौतिक और जैविक के सम्बन्ध में करती है।

स्वपारिस्थितिकी और संपारिस्थितिकी—दोनों परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर एवं अन्तर्सम्बन्धित हैं। मुकर्जी का मानना है कि जैसे-जैसे समाज की प्रगति होती है, वैसे-वैसे मानव मस्तिष्क का कार्य और महत्त्व बढ़ता जाता है और पारिस्थितिकी अवस्थाओं का महत्त्व व कार्य घटता जाता है, किन्तु मानव प्रगति के साथ पर्यावरण का प्रभाव समाप्त नहीं होता है बल्कि पर्यावरण और पारिस्थितिकी के कारकों का प्रभाव तो मानवीय सम्बन्धों तथा उसकी सृजन करने की क्षमता पर पड़ता ही है जो सामाजिक प्रगति को भी निर्देशित एवं नियन्त्रित करता है। इस रूप में पारिस्थितिकी—व्यक्ति और समुदाय—दोनों को प्रभावित करती है। वैयक्तिक-पारिस्थितिकी और समुदाय-पारिस्थितिकी दोनों परस्पर अन्तर्सम्बन्धित हैं और एक-दूसरे पर निर्भर हैं क्योंकि व्यक्ति पर्यावरण सम्बन्धी कारकों के प्रति जो प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, उसका प्रभाव समुदाय पर पड़ता है और समुदाय की पर्यावरण के प्रति जो प्रतिक्रिया व्यक्त की जाती है उसका प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है। व्यक्ति व समुदाय दोनों को ही कुछ सीमा तक पर्यावरण से भी अनुकूलन करना होता है—निष्कर्षतः पारिस्थितिकी के कारक—व्यक्ति और समुदाय—दोनों को ही प्रभावित करते हैं। पर्यावरण से अनुकूलन व्यक्ति और समुदाय दोनों करते हैं।

(3) व्यावहारिक पारिस्थितिकी (Applied Ecology)—यह सामाजिक पारिस्थितिकी का वह पक्ष है जो जनसंख्या, प्राकृतिक साधनों, वनस्पति एवं पशुजगत् के पारिस्थितिकी सन्तुलन के साथ कारण-प्रभाव सम्बन्धों का अध्ययन करता है। यह उपयोगी एवं व्यावहारिक पक्ष का विशेष ध्यान रखता है अर्थात् समाज के विकास के स्वरूपों के सन्दर्भ में अध्ययन करके निष्कर्ष निकालता है एवं सामान्यीकरण करता है।

(4) अध्ययन की इकाई : मानव प्रदेश (Unit of Study : Human Region)—मुकर्जी ने सामाजिक पारिस्थितिकी के अध्ययन की इकाई मानव प्रदेश बताई है। आपने इसके महत्त्व को निम्न शब्दों में स्पष्ट किया है—"मानव सम्बन्धों के अध्ययन के लिए मानव प्रदेश ही उचित इकाई है क्योंकि एक प्रदेश विशेष में ही हम एक-दूसरे के साथ अन्तःक्रिया करने वाले संस्कृति के धारक मानव समूहों तथा पौधे, पशु एवं अन्य निर्जीव पर्यावरण के बीच पाए जाने वाले जटिल अन्तर्सम्बन्धों को ठीक तरह से समझ सकते हैं। सम्भवतः मानवीय सामाजिक व्यवहारों, सामाजिक संस्थाओं तथा अनुकूलन की मानवीय समस्याओं को प्रादेशिक संकुल से पृथक् करके पूर्ण रूप से नहीं समझा जा सकता है।"

सामाजिक पारिस्थितिकी के कार्य
(Functions of Social Ecology)

राधाकमल मुकर्जी ने सामाजिक पारिस्थितिकी के तीन महत्त्वपूर्ण कार्यों का वर्णन किया है, जो निम्न प्रकार हैं—

(1) अनुकूलन (Adaptation)—मुकर्जी के अनुसार सामाजिक पारिस्थितिकी का प्रथम और महत्त्वपूर्ण कार्य मानव और मानवीय संस्थाओं का एक विशिष्ट प्रदेश के साथ अनुकूलन की प्रक्रिया का चयन करना होता है। इस अनुकूलन में—प्राकृतिक और जैविक—दोनों प्रकार

के कारको का अध्ययन किया जाता है। प्राकृतिक कारको के अन्तर्गत प्रदेश विशेष की मिट्टी जलवायु, भूमि की रचना, जैसे—पठार, पहाड दलदल क्षेत्र समतल भूमि आदि आते हैं उनके साथ अनुकूल के साथ साथ जैविक कारको जेसे—पेड-पौधे, एव पशुजगत के साथ अनुकूलन करना भी सम्मिलित है।

(2) सगठनात्मक सम्बन्ध (Integrating relations)—मानव की क्रियाओ को सगठित करने वाली कुछ शक्तियाँ होती हैं, उनका पता लगाना सामाजिक परिस्थितिकी का द्वितीय कार्य है। ये सगठनात्मक शक्तियाँ स्थानिक भोजन सम्बन्धी एव पर्यावरण सम्बन्धी कारक होती हैं। इन कारको एव शक्तियो को खोज निकालना ज्ञान विज्ञान का कार्य है।

(3) सन्तुलन को मापना (To measure equilibrium)—सामाजिक परिस्थितिकी का तृतीय महत्त्वपूर्ण कार्य एक प्रदेश विशेष में मानव एव अन्य सजीव और प्राकृतिक कारको में परस्पर दबावों का अध्ययन करके सतुलन की स्थिति को ज्ञात करना है। मानव के स्थायित्व अस्तित्व और प्रभुत्व की स्थिति ज्ञात करना कि उसके ऊपर अन्य कारको का अनुकूल प्रभाव पड़ा है अथवा प्रतिकूल। मानव समाज की स्थिति कैसी है? ये कुछ बातें सामाजिक पारिस्थितिकी द्वारा ज्ञात की जाती हैं।

पारिस्थितिकी एवं अनुकूलन
(Ecology and Adaptation)

मुकर्जी पारिस्थितिकी के अन्तर्गत प्राकृतिक अवस्थाओ के महत्त्व को मानते हैं क्योकि इनके साथ आज भी व्यक्ति को अनुकूलन करना पड रहा है भले ही उसने विज्ञान की सहायता से प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली हो।

मुकर्जी का मानना है कि प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए यदि मानव प्रकृति का अनुसरण नहीं करेगा तो उसमें (प्रकृति मे) असन्तुलन पैदा हो जाएगा जिसके परिणामस्वरूप प्राकृतिक विपत्तियो के आने की सम्भावना रहेगी। इस कारण परिस्थितिगत ताल-मेल अत्यावश्यक है। मुकर्जी का कहना है कि किसी ऋतु-विशेष एव प्रदेश-विशेष मे कुछ विशेष प्रकार के रोगो का आक्रमण दिखाई देता है, जिसके साथ व्यक्ति को अनुकूलन करना पडता है। उन्होने सामजस्य की चर्चा करते हुए कहा है, "जीवन के जाल के जटिल, बहुविध तथा विस्तृत धागे जीवित विश्व के विभिन्न अशो को एक साथ बाँधते हैं, इसीलिए उनमें सामंजस्य का बना रहना अत्यन्त आवश्यक है। एक प्रदेश के पेड-पौधो की निर्मम कटाई करके देखिए अथवा खरीफ के स्थान पर रबी की फसल की बुवाई करके देखिये अथवा मच्छरो की वृद्धि को रोकिये तो इन सबको विपरीत प्रतिक्रिया दिखाई देगी। भारत मे मच्छरो के प्रकोप के कारण असम और बगाल मे मलेरिया का प्रकोप अत्यधिक होता है—इन परिस्थितियो से अनुकूलन करने के लिए वहाँ की जलवायु मे चाय की खेती खूब होती है जिसके सेवन से मलेरिया के फैलने पर रोक लगती है।" इस प्रकार मुकर्जी के मत मे परिस्थितिगत विशेषताएँ अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाती हैं और असन्तुलन को रोकती हैं।

मुकर्जी ने धर्म, जादू, प्रथा, परम्परा और विश्वास आदि सभी पर पर्यावरण के प्रभाव का अध्ययन किया है। आदिम समाज में एक प्रथा 'टोटम' प्रचलित है। जिसमें कुछ विशेष प्रकार के पेड़-पौधों व पशु-पक्षियों को मारना निषिद्ध होता है। इसका कारण यह है कि पेड़-पौधों अथवा पशु-पक्षियों को मारने से पर्यावरण का सन्तुलन बिगड़ जाता है। इसी कारण 'टोटम' के माध्यम से इस प्रकार का निषेध लगाया गया है। आदिम समाजों में तूफान को रोकने व वर्षा लाने के लिए जादू का प्रयोग किया जाता है इसके पीछे भी उद्देश्य पर्यावरण पर मनुष्य का नियन्त्रण स्थापित करना है। टोडा जनजाति में भैंसों से सम्बन्धित कई प्रथाएँ व कर्मकाण्ड प्रचलित हैं, जैसे—ये लोग भैंसों को पवित्र मानते हैं और भैंस-पालन में ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं इन सबके पीछे भी सभी का उद्देश्य पशु जगत में सम्बन्ध बनाए रखना ही होता है। कृषि कार्य के पूर्व खेतों की पूजा करना, विवाह में सभी देवी देवताओं का आह्वान करना आदि का उद्देश्य भी पर्यावरण की विभिन्न शक्तियों के साथ मानवीय सम्बन्धों के सन्तुलन को ही प्रकट करता है। इसी प्रकार प्रथाएँ भी पर्यावरण के सन्तुलन को स्पष्ट करती हैं, उदाहरण के लिए हिन्दुओं में विवाह के अवसर पर 'घूरा' पूजने की प्रथा है। उसका उद्देश्य भी प्राकृतिक शक्तियों को मान्यता प्रदान करना है।

मुकर्जी ने परिस्थिति की अवस्थाओं एवं शक्तियों के साथ मानव के अनुकूलन की निम्नलिखित तीन स्तरों पर चर्चा की है—

(1) प्राचीन समय में ज्ञान, विज्ञान का विकास कम था। अतः उस समय लोग पर्यावरण पर अत्यधिक निर्भर थे क्योंकि प्रकृति के साथ अनुकूलन करने के अतिरिक्त उनके पास कोई अन्य विकल्प ही नहीं था।

(2) इसके पश्चात् व्यक्ति ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्यावरण के साथ तार्किक और क्रमबद्ध अनुकूलन किया।

(3) इसके बाद की स्थिति आधुनिक काल की है जिसमें पर्यावरण को मानव का सहयोगी माना जाता है। यह (व्यक्ति) पर्यावरण में छिपी असीमित सम्भावनाओं की खोज करके उनका उपयोग जन-कल्याण के लिए कर सकता है। व्यक्ति आज चन्द्रमा पर जा पहुँचा है। इससे स्पष्ट है कि आज व्यक्ति पारिस्थितिकी के साथ अपने प्रगाढ़ सम्बन्धों को बनाए हुए है। आज व्यक्ति प्रकृति का दास नहीं, उसका सहयोगी है।

मानव समाज में पारिस्थितिकीय प्रक्रियाएँ
(The Ecological Processes in Human Society)

इस आलोच्य पुस्तक में आपने अनेक स्थलों पर पहले जीव-जन्तुओं और पारिस्थितिकी तथा वनस्पति और पारिस्थितिकी की विषय-वस्तु, अध्ययन के क्षेत्र, महत्त्व आदि पर प्रकाश डाला है। इसके बाद आपने मानव, मानव समाज, संस्कृति, आर्थिकी, स्तरीकरण, जनसंख्या, वितरण, सन्तुलन, क्षेत्रीय एवं सामाजिक गतिशीलता, सहयोग आदि अनेक समाजशास्त्रीय एवं सामाजिक विज्ञान की प्रक्रियाओं पर पारिस्थितिकी के सन्दर्भ में प्रकाश डाला है। आपका दृढ़ विश्वास है कि अर्थशास्त्र, जनांकिकी और प्रादेशिक समाजशास्त्र के निष्कर्षों, सामान्यीकरणों तथा ज्ञान का

उपयोग पारिस्थितिकी के क्षेत्र मे किया जा सकता है और इसी प्रकार से पारिस्थितिकी का प्रभाव अर्थशास्त्र, जनांकिकी और समाजशास्त्र से सम्बन्धित अवधारणाओ, अध्ययन-विषयों एवं प्रक्रियाओं पर देखा जा सकता है। आपने समाजशास्त्र की सरचना से सम्बन्धित महत्वपूर्ण पारिस्थितिकीय प्रक्रियाओ का उल्लेख किया है, जो निम्न हैं—

(1) वितरण	(2) श्रम का विभाजन
(3) गतिशीलता	(4) प्रतिस्पर्धात्मक सहयोग
(5) स्तरीकरण	(6) अनुक्रमण एवं आक्रमण
(7) सामाजिक सन्तुलन	

मुकर्जी ने उपर्युक्त प्रक्रियाओं का विवेचन प्रथम अध्याय : **समाज और सहजीवन** के अन्तर्गत किया है। आपके अनुसार ये प्रक्रियाएँ इस प्रकार हैं—

(1) वितरण (Distribution)—बहुत समय से भूगोल उन भौतिक कारकों का अध्ययन करता रहा है जो जनसख्या के वितरण और स्रोतों को ससार मे निर्यान्त्रित करते हैं। अर्थशास्त्र ने इसके ज्ञान मे बडे उद्योगो, व्यापारिक सस्थानो और बाजार के स्थानीयकरण के कारणो, आधुनिक सचार और यातायात के साधनो के प्रकारो तथा उत्प्रवास जो किसी विशेष क्षेत्र मे जनसख्या के सकेन्द्रण का नियन्त्रण करते हैं, का अन्वेषण करके वृद्धि की है। नगरीय एवं ग्रामीण बस्तियो का नियन्त्रण प्राकृतिक सम्पदा और फसलो के वितरण द्वारा होता है। मानव पारिस्थितिकी जीवन के प्रतिमानो का पूर्णता मे अध्ययन करती है जिसमे वनस्पति, जीव जन्तु और मानव सगठनो का अध्ययन भी सम्मिलित है। सभ्यता जलवायु, स्थलाकृति और खाद्य वनस्पति, जीव तथा दूसरी सम्पदाएँ जो जनसख्या वितरण, वास स्थान, उद्योग और जीवन की कला को नियन्त्रण करती है, के अध्ययन करने के साथ साथ सचार और यातायात के साधनो, रेल और जलमार्ग, रेल-इन्जन, भाप-जहाज और स्वचालित वाहन, दैनिक-समाचार, और टेलीफोन का भी अध्ययन करती है। इसके अतिरिक्त सभ्यता सामाजिक अभिवृत्ति, प्रथाएँ, टैरिफ सूची और उत्प्रवास कानून जो मानव परिचालन को नियंत्रित करता है, जनसख्या का विसर्जन या सकेन्द्रण का भी अध्ययन करती है। *ये सभी पारिस्थितिकी शक्तियाँ हैं जो मानव समूहो का वितरण और उत्प्रवास तथा पृथक्करण* का नियन्त्रण आवास और व्यवसाय के आधार पर करती है। प्रतिस्पर्धा, सम्पदाओ के दोहन मे श्रम के विभाजन और विशेषीकरण के द्वारा मानव समुदाय—उपग्राम (ढाणी), ग्राम, क़स्बा और नगर मे अपने को वितरित करती हैं। ये सभी सम्बन्धित इकाइयाँ—उपग्राम, ग्राम, कस्बा और नगर पारिस्थितिकी प्रक्रिया, जैसे—श्रम का विभाजन, विशेषीकरण, परिचालन और संकेन्द्रण के परिणाम हैं।

(2) श्रम का विभाजन (Division of Labour)—मानव समाज मे श्रम का विभाजन आयु, लिंग, प्रजाति और वर्ग और व्यक्तियो की भिन्न-भिन्न क्षमताओ पर आधारित होता है। मानव समुदायो में रुचियों की भिन्नता एवं क्षमता तथा आविष्कारशीलता के कारण श्रम का विभाजन बहुत अधिक विस्तृत, बहुत अधिक स्टीरियोटाइप (रूढ़िबद्ध) और बहुत अधिक परिवर्तनीय हो गया है। सभी पारिस्थितिक कारक एवं शक्तियाँ, जैसे—मौसम या जलवायु सम्बन्धी

कारक, खाद्य पदार्थों की उपलब्धि, प्रजनन की क्रिया, शिशुओं का पालन-पोषण एवं सन्तानों की संख्या, महामारियाँ आदि जनसंख्या की अधिकतम वृद्धि आदि मानव के क्षेत्रीय सम्बन्धों को प्रभावित करते हैं। इन कारकों का प्रभाव जनसंख्या के घनत्व पर भी पड़ता है। पर्यावरण की अनुकूलनता की मात्रा का प्रभाव एक-विवाह और बहुपत्नी एवं बहुपति विवाह की परम्परा पर भी पड़ता है। मुकर्जी ने लिखा है कि गतिशीलता एक महत्त्वपूर्ण क्रियाविधि है जो जीवों की जनसंख्या के उपयुक्त घनत्व और वितरण को बनाती है।

(3) गतिशीलता (Mobility)—गतिशीलता या उत्प्रवास का नियम जीवों एवं मानव जगत में हमेशा रहा है। कमजोर को परिधि या बस्ती के बाहर ढकेल दिया जाता है तथा शक्तिशाली केन्द्र पर कब्जा कर लेते हैं। जी. टायलर के अनुसार सभी प्रजातियों का उद्‌भव केस्पियन समुद्र के पास सामान्य शैशव भूमि में हुआ था। प्रमुख प्रजातियाँ एशिया के पाँच क्षेत्र मण्डलों में स्थित हो गईं तथा बहुत अधिक आदिम प्रकारों को दुर्गम स्थान में ढकेल दिया गया। उत्प्रवसन की पारिस्थितिकी हमें पूर्व-ऐतिहासिक काल के प्रारम्भिक मानवों के भटकने और भिन्नताओं को समझने में सहायता करती है। भोजन की उपलब्धता तथा खाद्य सामग्री के क्षेत्रों के अनुसार मानव एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकते रहते थे। मुकर्जी लिखते हैं कि व्यावहारिक पारिस्थितिकी ने हमें आयात किए गए पेड़-पौधों, जीवों और कीट-पतंगों का नवीन आवास-स्थल में सफलता और असफलता के सम्बन्ध से अवगत कराया है। बिल्कुल भिन्न स्थिति में पौधे, जीव या मानवों का पतन हो जाता है। इस प्रकार सामाजिक पारिस्थितिकी प्रभावी जाति, वर्ग, प्रजाति आदि से सम्बन्धित भौगोलिक गतिशीलता का अध्ययन एवं विश्लेषण करती है।

(4) प्रतिस्पर्धात्मक सहयोग (Competitive Co-operation)—मुकर्जी, रूसी जीव-वैज्ञानिक गॉस (Gause) एवं हल्डेन (Haldane) ने जीवों में परस्पर संघर्ष, सहयोग एवं प्रतिस्पर्धा पर नवीन तथ्य एवं विचार व्यक्त किए हैं। डार्विनवाद में संघर्ष को मानव-व्यवहार की व्याख्या के सम्बन्ध में एक-तरफा तथा आज गुमराह करने वाला माना जाता है। हल्डेन ने अनेक उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि जब तक एक जाति (स्पीशीज) मुख्य रूप से दूसरी जाति अथवा बाह्य प्रकृति से संघर्ष करती है तब तक वह सामान्यतया फिटर बन जाती है। जब जाति के अन्दर संघर्ष होता है तब ऐसा नहीं होता है। आकार में वृद्धि, हथियारों एवं मूल प्रवृत्ति में विकास, इस प्रकार की लड़ाइयों में लाभकारी होते हैं, लेकिन इनका अन्त सामान्यतया जाति का अन्य परिस्थितियों में कुसमायोजन के रूप में होता है या इनका लोप हो जाता है। इसी प्रकार से अनेक आदिवासी लोगों ने जब अनेक पशुओं को पूर्णत: नष्ट कर दिया था तो उनको अकाल का सामना करना पड़ा था और उनको सभ्य संस्कृतियों के साथ रहने के लिए मजबूर होना पड़ा अथवा अछूते बीहड़ जंगलों में जाना पड़ा। सामाजिक पारिस्थितिकी प्रतिस्पर्धात्मक सहयोग को समुदायों के संगठन की विशेषता मानती है। इस विज्ञान की मान्यता है कि भोजन और रहने के स्थान के लिए प्रतिस्पर्धा अथवा संघर्ष होना व्यवस्था के कार्य से सम्बन्धित होता है। मुकर्जी लिखते हैं कि एक रेवड़, पशुओं का झुण्ड या मानव समूह एक दुश्मन को डराने या लड़ने में अधिक सफल होते हैं अपेक्षाकृत एक अकेले के। इसी सन्दर्भ में मुकर्जी की मान्यता है कि मानव समाज में

प्रतिस्पर्धात्मक सहयोग महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है जिसका अध्ययन पर्यावरण अथवा पारिस्थितिकी के सन्दर्भ में करना आवश्यक है।

(5) स्तरीकरण (Stratification)—मुकर्जी के अनुसार प्रत्येक समुदाय में प्रतिस्पर्धा और सहजीवन के द्वारा एक या एक से अधिक प्रभुत्व जातियाँ बन जाती हैं। स्तरीकरण के द्वारा प्रत्येक श्रेणी या वर्ग के जीवों या मानव समुदायों में प्रतिस्पर्धा नियन्त्रित की जाती है। मानव समाज के पारिस्थितिकी प्रतिमानों में विभिन्न सामाजिक श्रेणियाँ, वर्ग, जातियाँ तथा व्यक्तियों में भिन्न भिन्न क्षेत्रीय सम्बन्ध देखे जा सकते हैं। सामाजिक श्रेणियों के निर्धारक धन और सत्ता है। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक वर्ग में स्थिति को निरन्तर चुनौतियाँ गतिशीलता अथवा दूसरे के उत्प्रवासन से मिलती रहती है। पारिस्थितिक गतिशीलता अथवा तेजी से एक क्षेत्र मे अन्य सामाजिक खण्ड, श्रेणी या समूह का आक्रमण स्तरीकरण को प्रभावित करता है। इस प्रकार सामाजिक परिस्थितिकी में स्थान, व्यवसाय और समय के आधार पर व्यक्तियों एव समूहों के पारस्परिक सम्बन्धों का विशेष महत्त्व है। उत्प्रवास, जनसंख्या नियंत्रण, उत्पादन मे विकास आदि महत्त्वपूर्ण पारिस्थितिकीय कारक हैं जो सामाजिक स्तरीकरण का नियंत्रण, सचालन एव सन्तुलन करते हैं।

(6) अनुक्रमण एवं आक्रमण (Succession and Invasion)—सामाजिक पारिस्थितिकी में सामाजिक परिवर्तन और अनुक्रमण की व्याख्या और मापन किया जाता है। समय-समय पर नए महत्त्वपूर्ण केन्द्रों की संख्या और गुणवत्ता तथा सेवाओं के वितरण की प्रवृत्ति का अध्ययन किया जाता है। नवीन सामाजिक व्यवस्था के विकास और आक्रमण की गति को मापा जाता है जो सामाजिक परिवर्तन और अनुक्रमण को स्पष्ट करती है। मानव पारिस्थितिकी में हम अनुक्रमण देख सकते हैं जो देश के स्थानीय केन्द्रों एवं शहरों में समन्वित रुचि, सेवाओं और संस्थाओं के रूप में उभरते हैं। सामाजिक जगत में आर्थिक इतिहास अनुक्रमण के उदाहरण स्पष्ट करता है। यहाँ पर प्रवृत्ति विकासात्मक व्यवस्थान की ओर होती है। अनुक्रमण वानिकी से कृषि और अपरिष्कृत कृषि से गहन खेती, उद्योग, वाणिज्य, जन-संख्या के पुनः वितरण एवं *सामाजिक संरचनाओं तथा संस्थाओं के पुनर्गठन के क्रम में होता है।*

अनुक्रमण क्षेत्र, क्षेत्र का उप-विभाजन, ग्राम और नगर के आधार पर होता है। कस्बों एव नगरों में जनसंख्या वृद्धि से गिरजाघर, मन्दिर, पाठशालाएँ, औषधालय, भोजनालय एव अन्य सेवाओं के संस्थानों की संख्या में वृद्धि होती चली जाती है। इसी प्रकार से आबादी के बढ़ने से कपड़ों की दुकानें, परचूनी एव पसारी की दुकानें आदि के आकार और बिक्री में वृद्धि होती है। जितनी अधिक गतिशीलता होगी उतनी ही तेजी से सभी क्षेत्रों में अनुक्रमण होगा। नगर से अन्य ग्रामीण क्षेत्रों में बैंक, वाणिज्य प्रतिष्ठान, दुकानें, सांस्कृतिक संस्थाएँ, दैनिक समाचार पत्र, रेडियो आदि पहुँचते हैं जो ग्रामीण जीवन व्यवस्था को परिवर्तित करते हैं। इस प्रकार से सामाजिक पारिस्थितिकी समाज से सम्बन्धित अनेक पक्षों में अनुक्रमण और आक्रमण की प्रक्रिया का अध्ययन एवं मूल्यांकन करती है।

(7) सामाजिक संतुलन (Social Equilibrium)—मुकर्जी ने सामाजिक पारिस्थितिकी में सामाजिक सन्तुलन की प्रक्रिया पर अनेक प्रकार से प्रकाश डाला है। आपने सामाजिक सन्तुलन को एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया बताया है। समाजशास्त्र सामाजिक सन्तुलन को न केवल जैविक या आर्थिक सन्तुलन के रूप में देखता है बल्कि यह संस्थाओं की समरसता और मानव के विभिन्न आवेगों, रुचियों, मूल्यों, सद्गुणों एवं व्यक्तित्व के प्रकारों के अनुसार देखता है। समाजशास्त्र सामाजिक सन्तुलन को सामाजिक समरसता और प्रस्थिति, सम्पत्ति, स्वतन्त्रता एवं नियन्त्रण के वितरणों में न्याय के आधार पर व्यक्त करता है। यह भी समाजशास्त्र समुदाय के अनुसार देखता है। सामाजिक सन्तुलन एक जैविकीय एवं अर्थशास्त्रीय वास्तविकता के रूप में निश्चित व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए काम में लिए जाते हैं। पारिस्थितिक सन्तुलन को आर्थिक सन्तुलन के द्वारा प्राप्त किया जाता है और जब अधिकतम सामाजिक कल्याण एवं न्याय प्राप्त कर लिए जाते हैं तब आर्थिक सन्तुलन भी स्थापित हो जाता है। समाज में अचानक जनसंख्या में वृद्धि या कमी हो जाती है तब असन्तुलन आ जाता है। उत्पादन, धन, वस्तुओं, सेवाओं आदि में परिवर्तन पारिस्थितिक, आर्थिक एवं समाजशास्त्रीय कारणों से आते हैं जो व्यक्तिगत, सामुदायिक, सामाजिक आदि सन्तुलन को प्रभावित करते हैं। अनेक राजनैतिक कारक, जैसे—दीर्घ राजनैतिक अनिश्चितता, युद्ध, सम्पत्ति सम्बन्धी असुरक्षा, उच्च कर, कर्ज में वृद्धि, साख पर दबाव, मुद्रा स्फीति, व्यापार में अनिश्चितता आदि असन्तुलन पैदा कर देते हैं। अन्य मनोवैज्ञानिक कारक, जैसे—फैशन, जीवन के तरीकों, दृष्टिकोण, श्रमिक एवं धन सम्बन्धी धारणाओं के कारण भी असन्तुलन पैदा होता है।

समाज ने सर्वदा मानव की जैविक इच्छाओं और पर्यावरण में सम्पत्ति, प्रस्थिति, स्वतन्त्रता और नियन्त्रणों को संस्थाओं द्वारा सन्तुलन बनाया है। सामाजिक सहयोग, प्रस्थिति, सम्पत्ति और नियन्त्रण के द्वारा व्यक्ति की जन्मजात आवश्यकताओं और सीमित साधनों के मध्य सन्तुलन बनाए रखा है। इतना ही नहीं इसके द्वारा आर्थिक रुचियों और समाज कल्याण तथा न्याय में भी सन्तुलन बनाए रखा है। संस्थाओं ने व्यक्ति और व्यक्ति के बीच, व्यक्ति और वस्तुओं के बीच या लोगों की पारस्परिक सेवाओं में भी सन्तुलन बनाया है।

मुकर्जी ने इस प्रकार से सामाजिक पारिस्थितिकी के महत्त्वपूर्ण पक्षों पर समाज, आर्थिकी, पर्यावरण, व्यक्ति, जीव, पेड़-पौधों आदि के सन्दर्भ में प्रकाश डाला है।

□